१०८ उपनिषद्

(ब्रह्मविद्या-खण्ड)

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
(चारों वेदों के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या
के विशेषज्ञ तथा हिन्दी के लगभग
१५० ग्रन्थों के रचयिता)

संस्कृति संस्थान, बरेली (उ०प्र०)

❀ प्रथम संस्करण
अक्टूबर १९६१

❀ मूल्य : सात रुपया

❀ प्रकाशक :
संस्कृति संस्थान
बरेली (उ०प्र०)

❀ मुद्रक :
पं० पुरुषोत्तमदास कटारे
हरीहर प्रेस,
मथुरा



वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

ब्रह्मविद्या—विश्व का सर्वोपरि ज्ञान

यह समस्त विश्व अदृश्य ब्रह्म का ही दृश्य स्वरूप है। ब्रह्म ही इस सबमे ओतप्रोत है। उसकी सत्ता शक्ति और व्यवस्था के अनुरूप ससार के सारे कार्य चल रहे है। जीव उसी से उत्पन्न होते और उसी मे लीन हो जाते हैं। दृश्य ससार मे यद्यपि पञ्च भौतिक प्रकृति का प्राधान्य दिखाई पडता है परन्तु उसके मूल मे भी ब्रह्म की ही सत्ता काम करती है। मकड़ी जिस प्रकार अपने मुंह मे से जाला निकाल कर बाहर फैलाती और फिर उसे समेट कर अपने पेट में रख लेती है उसी प्रकार मकड़ी के जाले के समान यह प्रकृति भी ब्रह्म मे से ही उत्पन्न होकर अन्त मे उसी के गर्भ में चली जाती है।

यो विश्व मे अनेक शक्तियाँ, वस्तुएं तथा जीव योनिया दिखाई पड़ती है पर उनके मूल मे भी ब्रह्म तत्व का ही तेज प्रकाशित हो रहा है। ऐसी सर्वप्रधान, सर्वोपरि सत्ता के सम्बन्ध आवश्यक जानकारी प्राप्त करना प्रत्येक जीवधारी का कर्तव्य है है। जीवन का प्रत्येक पहलू जिस सत्ता से प्रभावित है उसका ज्ञान और विधान जानकर ही प्राणी अपनी स्थिति को सुदृढ बनाये रहने, अवनति से बचने और विकास की दिशा में गतिशील हो सकने मे समर्थ हो सकता है। इसलिए मनुष्य के लिए ब्रह्म विद्या की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की गई और तत्वदर्शी ऋषियो ने लाखो वर्षो तक कठिन साधना और विचारणा के आधार पर ब्रह्म को जानने और उसकी महान महत्ता से अपने को ओतप्रोत करने एवं लाभान्वित बनाने का घोर प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का निष्कर्ष उपनिषदो मे सार रूप से मौजूद है।

जीवन का सर्वोत्तम लाभ ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि ही है । श्रुति कहती है :—

ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है कि विद्युत की चमक के समान इस क्षणस्थायी जीवन को व्यर्थ ही नष्ट न होने दे । शास्त्रों के अध्ययन और उनके बारम्बार अभ्यास के द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है ।

—अमृतनादोपनिषद्

चिन्तन, मनन, स्वाध्याय और सत्संग के आधार पर सद्ज्ञान की अभिवृद्धि करने और अज्ञान को मिटाने के लिए घोर प्रयत्न करने के लिए उपनिषदों में बहुत अधिक जोर दिया गया है । ज्ञान साधन को ब्रह्मविद्या का प्रधान आधार माना गया है । जब तक सद्ज्ञान का उदय न होगा तब तक केवल क्रिया-काण्ड से समुचित लाभ नहीं होता । भावना विहीन साधना को निष्फल माना गया है । सब प्रकार के संशयों को निवृत्त करने एवं अध्यात्म पथ की श्रेष्ठता को भली प्रकार हृदयंगम करने के लिए ज्ञान साधना की आवश्यकता पड़ती है । ब्रह्मविद्या पथ के पथिक का प्रधान संबल ज्ञान है । आत्म ज्ञान पर जिसने जितना अधिक ध्यान दिया है उसे लक्ष्य की प्राप्ति उतनी ही शीघ्रता से हुई है । ज्ञान साधना की महत्ता बताते हुए उपनिषद् कहते हैं—

ज्ञान को ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है । ज्ञान ही सबसे अधिक पवित्र है ।

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

वह ज्ञान से ही जाना जा सकता है । जो ज्ञान रूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उन्हें यह ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है ।

—ब्रह्मोपनिषद्

अज्ञान से ही संसार है और ज्ञान द्वारा ही इससे निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही मूल है और ज्ञान के द्वारा ही उस ज्ञेय की प्राप्ति हो सकती है।

—छांदोग्य

योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है। जो योगी सदैव ज्ञान योग में संलग्न रहता है वह नष्ट नहीं होता। ऐसा विज्ञान योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से ध्यान करे। जिसको इस प्रकार ज्ञानयोग नहीं होता उसको सिद्धि नहीं मिलती। चित्त को निरन्तर आत्म कल्याण में संलग्न रखना ज्ञान योग है। इससे सब प्रकार की आत्म संबंधी सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

—त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद

योग रहित ज्ञान किस प्रकार मोक्ष देने वाला हो सकता है? ज्ञान रहित योग से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करना चाहिए।

—योगतत्व उपनिषद

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले, उसकी उपयोगिता को समझाने वाले अनेकों वर्णन उपलब्ध होते हैं। यथा :—

हे सौम्य, यह समस्त प्राणी 'सत्' से ही उत्पन्न हुए हैं, उसी में निवास करते हैं, और अन्तत: उसी में लीन हो जाते हैं। यह जो दृश्य अदृश्य सब कुछ है ब्रह्म रूप ही है। वह ब्रह्म ही सत्य है। वही आत्मा है। वही तू है।

—छांदोग्य उपनिषद

जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाला उगलता है और फिर स्वय ही निगल लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी से वनस्पतिया उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जीवित शरीर से केश, रोम, नख आदि उपजते है वैसे ही उस ब्रह्म से यह सारा ससार उत्पन्न होता है।

—मुण्डक उपनिषद

जो उस निर्वीज तत्व ब्रह्म को जानता है वह निर्वीज हो जाता है। वह जन्म नहीं लेता, मरता भी नहीं। मोह नहीं पाता, भेदा नहीं जाता, जलता नहीं, छेदा नहीं जाता, कापता नहीं और न कुपित होता है। कमल की तरह निर्लेप रहता है। वह सत्य के साथ रहना चाहता है। आत्मा ही सत्य है।

—सुबाल उपनिषद

"सब कुछ ब्रह्म है, ऐसा जान लेने पर इन्द्रिया के ऊपर स्वयमेव सयम प्राप्त हो जाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। नियम पूर्वक ऐसा एक ही प्रकार का विचार करना परम आनन्द रूप है।"

"ब्रह्मवृत्ति मे रहने से पूर्णता प्राप्त होती है। इसलिए इसी वृत्ति मे रहकर पूर्णता का अभ्यास करना। जिनकी यह ब्रह्मवृत्ति लगातार वृद्धि को प्राप्त होती हुई परिपक्व हो गई है वे श्रेष्ठ ब्रह्मत्व को पाते है। पर अन्य जो केवल जिह्वा से बोलते भी है ब्रह्मत्व को प्राप्त नही होते।"

—तेजोबिन्दु उपनिषद

आत्मा, परमात्मा का ही स्वरूप है। मल विक्षेप आवरण और विकारो के कारण वह अपने आपको देह समझने लगता है। देह भाव मे निमग्न हो जाने के कारण उसकी क्रियाएं,

चेष्टाएं एवं आकांक्षाएं भी निम्न श्रेणी की हो जाती हैं और उनको प्रबलता होने पर नीति, अनीति का भेद भी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जीव के पाप वृत्ति होने का कारण यह अज्ञान ही है। देह को वाहन और साधन न समझ कर उसे ही अपना आपा मान लेने के कारण मनुष्य देह को सुखी और सम्पन्न बनाने में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे लक्ष की भी विस्मृति हो जाती हैं और मानव जीवन जैसे अमूल्य अवसर को यों ही गमा देता है। ब्रह्मविद्या का प्रधान शिक्षण देह और आत्मा का भेद समझना है और इस भावना को पुष्ट करना है कि देह के लाभ एवं सुखों को आत्मा के लाभ एवं सुखों से अधिक महत्व न दिया जाय।

इस सम्बन्ध में उपनिषदों में जो महत्वपूर्ण चर्चा की गई है उसकी एक झांकी नीचे के कुछ उदाहरणों से की जा सकती है:—

"यह देह रोगों का घर है। अस्थियाँ इसके खंभों के समान हैं, नसों के जाल, डोरियों में यह बंधा हुआ है, इस पर मांस रक्त का पलस्तर हो रहा है और चर्म से मढ़ दिया गया है। यह सदा मलमूत्र से युक्त रहता है, भीतर दुर्गन्ध भरी है। घृणित वीर्य और रज से इसकी उत्पत्ति हुई है। किसी दिन यों ही नष्ट हो जाने वाला है। ऐसी घृणित देह में भी यदि कोई मूर्ख मनुष्य प्रेम करता है तो वह नरक से प्रेम करने वाला ही होगा।"

नारद परिव्राजकोपनिषद

जब तक शरीर है तब तक निश्चय ही सुख और दुःख का निवारण नहीं हो सकता है।

—छान्दोग्य उपनिषद

माता पिता के मल मूत्र से बना हुआ, जन्म मरण वाला, सुख-दुख का स्थान रूप और अपवित्र ऐसे इस शरीर को छू कर स्नान करना चाहिए। सात धातुओं से बने, महारोग वाले, पाप के घर के सदृश, अस्थिर, विकारों की खानों से भरे हुए ऐसे इस शरीर को छू कर स्नान करना चाहिए। आँख कान आदि नौ दरवाजों द्वारा जिसमें से हमेशा मल निकलता रहता है और इस मल की दुर्गन्ध से जो भरा रहता है ऐसे इस दुष्ट मलिन शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए।

—मैत्रेयी उपनिषद्

बड़े-बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देवता भी स्थिर नहीं रहते, ऐसे नाशवान संसार में विषय भोगों को लेकर क्या किया जाय ? विषय में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है; इसलिए हे मुनिराज अन्धेरे कुए में मेंढक की तरह पड़े हुए मेरे जीव का उद्धार कीजिए। हे भगवन् घृणित मैथुन से उत्पन्न हुआ यह अपवित्र शरीर यदि आत्म ज्ञान से रहित हो तो इसे नरक ही समझना चाहिए। यह देह मूत्र द्वार से निकला है, हड्डियों से चिना है, मांस से लिपा है, चमड़े से मढ़ा है और विष्ठा मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद आदि मलों से भरा है। ऐसे शरीर में रहने वाले मुझ जीव को कल्याण का मार्ग बताइए और शरण दीजिए।

—मैत्रेयी उपनिषद्

उपरोक्त अभिवचनों में शरीर की नश्वरता और तुच्छता का प्रतिपादन किया गया है ताकि मनुष्यों की देह-सुख की-ओर अत्यधिक झुकी हुई प्रवृत्ति पर अंकुश लगे और वह इसकी

तुच्छता और आत्मा की महत्ता की तुलना करके आत्मलाभ के लिए प्रयत्नशील हो।

कुटुम्बियो के मोह सबंध, स्त्रियों के प्रति काम-दृष्टि होने के कारण भी मनुष्य अनेक दुष्कर्म करते देखे गये है। इस आकर्षण एवं मोह मे व्यक्ति अनुचित रूप से ग्रसित न होने पावे इसलिए उपनिषद्कारो ने, स्त्रियो में काम बुद्धि रखने और कुटुम्बियो के लिए कर्तव्य बुद्धि तक ही सीमित न रहने की मोह-ग्रस्तता का निषेध किया है। इस सबध मे कुछ अभिवचन इस प्रकार मिलते है —

मांस की बनी हुई इस चलती-फिरती पिटारी रूपी स्त्री के शरीर मे नस हड्डिया और ग्रन्थिया ही भरी है। भला उसमे भी क्या सुन्दरता है? जरा इसकी चमडी, मास, खून, आँख आदि को अलग-अलग करके तो देखो इनमे से क्या सुन्दर है? ये काढे हुए बाल, ये कजराली आँखे भयानक अग्नि शिखा की तरह है, वे मनुष्य को तिनके के समान जला देती है। देखने मे सुन्दर होते हुए भी वे नरक रूपी अग्नि की लकड़िया है। कामदेव रूपी बहेलिये ने मनुष्य रूपी पक्षियो को फँसाने के लिए यह स्त्री रूपी जाल पाश फैलाया है। इन दुखो की श्रृङ्खला रूप नारियो से तो भगवान ही बचावे।

—याज्ञवल्कोपनिषद्

एक जन्म में जो माता होती है वह अन्य जन्म मे भार्या हो जाती है और जो भार्या होती है वह माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र पिता के रूप मे जन्म ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार यह ससार चक्र, कूप-चक्र

(पानी खींचने की रहट) के समान है, जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है।

—योगतत्व उपनिषद

शरीर संबंधी सम्पत्ति कीर्ति आदि की चिन्ता जितनी मात्रा में की जाती है उससे अधिक आत्मा की चिन्ता की जानी चाहिए, क्योंकि उसका महत्व इन सब से अधिक है। साथ ही यह भी निश्चित है कि आत्मा की स्थिति स्वस्थ, संतुलित एवं शान्त हो तभी सांसारिक प्रगति, समृद्धि एवं सुसंबंधों की अभिवृद्धि संभव है। परलोक में सद्गति, पुनर्जन्म में उच्च स्थिति की प्राप्ति एवं ईश्वर की अनुकम्पा भी आत्मा की स्वस्थता पर ही निर्भर है। इसलिए आत्मा के स्वरूप को समझने और उससे चिपटे हुए मल विषयों के अज्ञान आवरणों के अनर्थ को जानने के लिए आत्म चिन्तन आवश्यक है। मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है इस तथ्य पर जितना ही अधिक ध्यान दिया जाता है उतना ही आध्यात्मिक जीवन का द्वार खुलता जाता है। उपनिषदों में आत्म चिन्तन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण मार्ग दर्शन हुआ है। यथा:—

आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त बन जाते हैं। दूध में घी के समान सर्वत्र व्याप्त आत्मा, ज्ञान और तप द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा ही ब्रह्म है—यही परमपद है।

—ब्रह्मोपनिषद

"मैं देह हूँ," ऐसा संकल्प ही संसार कहलाता है, ऐसा संकल्प ही बन्धन है, यही दुख है, यही नरक है, इसी को हृदय की गांठ कहते हैं, यही अज्ञान है। यही पाप है। यही तृष्णा है।

काम क्रोध बन्धन, दुःख, दोष आदि जो कुछ भी बन्धन रूप है यह संकल्पों का समूह ही है। हे सौम्य, यह सब मानसिक ही है ऐसा तुझे जान लेना चाहिए।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

मेरी अपनी माया गलित होगई है, मेरी अहन्ता अस्त हो चुकी है। मैं विशाल सुख से पूर्ण तथा ज्ञान स्वरूप हूँ। मैं बद्ध मुक्त का अद्भुत स्वरूप हूँ। मैं विवेक बुद्धि से आत्मा को अद्वैत जानता हूँ तो भी बंध मोक्ष आदि व्यवहार जान पड़ते हैं। मेरी दृष्टि से प्रपंच दूर हो गया है तो भी वह सत्य जैसा ही जान पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य विष और अमृत को देखकर जिस प्रकार विष का त्याग करता है वैसे ही आत्मा को देखकर मैं अनात्मा का त्याग करता हूँ। कुल, गोत्र, नाम, रूप, जाति आदि का अस्तित्व तो स्थूल देह में होता है। मैं तो स्थूल रूप से भिन्न हूँ इसलिए उनमें से किसी से मेरा संबंध नहीं है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ—इससे मुझे दुख नहीं है। वे सब केवल अज्ञान से ही जान पड़ते हैं।

—आत्मप्रबोधोपनिषद्

मैं तीनों देहों से भिन्न हूँ। शुद्ध चैतन्य हूँ, जिसे ऐसा निश्चय हो गया हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो वह जीवनमुक्त कहलाता है। जिसमें कुछ भी अहम्-भाव शेष नहीं है, जो आत्मा रूप ही शेष रहा हो, आसक्ति से छूट गया हो, नित्य आनन्द रूप होकर प्रसन्न रहता हो, चिन्ता रहित हो, हमारा कुछ है ही नहीं ऐसा मानता हो, वह जीवनमुक्त कहलाता है। मुझे सन्ताप नहीं, लाभ नहीं, मेरे लिए कोई मुख्य नहीं, कोई गौण नहीं, मुझे कोई भ्रान्ति नहीं, कोई गुह्य नहीं, कोई कुल नहीं, मेरा तू नहीं है और मैं तेरा नहीं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं

ब्रह्म हूँ। मैं चैतन्य हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मैं चैतन्य हूँ; जिसे ऐसा निश्चय हो गया है वह जीवन-मुक्त कहलाता है।

—तेजोबिन्दु उपनिषद्

इस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक,लोक स्वरूप में नहीं हैं। माता,माता रूप में नहीं हैं, पत्नी पत्नी रूप में नहीं हैं, चाण्डाल चाण्डाल रूप में नहीं है, भील भील रूप में नहीं हैं, संन्यासी संन्यासी रूप में नहीं है।

—ब्रह्मोपनिषद्

आत्म चिन्तन को ही उपनिषद्कारों ने ईश्वर की पूजा माना है। आत्म चिन्तन की प्रत्येक क्रिया, उपासना के कर्मकाण्ड का स्थान स्वयमेव ग्रहण कर लेती है। आत्म चिन्तन के आधार पर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने वाले व्यक्ति की आत्मा दिन-दिन परमात्मा के निकट पहुँचती जाती है। यह स्थिति जब परिपक्व होने लगती है तो शरीर को तुच्छ मानने की अपेक्षा फिर उसे यज्ञ रूप समझना होता है और देह में ही सारे देवताओं को अवस्थित देखते हुए उसे देव मन्दिर स्वीकार करना होता है। उपनिषदों की ब्रह्मविद्या के अनुसार उच्च स्थिति का ब्रह्म परायण साधक इसी स्थिति को प्राप्त करता है। यथा:—

उस आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है। सभी कर्मों का त्याग आवाहन है। निश्चल ज्ञान ही आसन है। उन्मनता पाद्य है। मन का लगाना अर्घ्य है। आत्माराम की दीप्ति आचमन है। अन्तःज्ञान ही अक्षत है। चिद् का प्रकाश ही पुष्प है। स्थिरता ही प्रदक्षिणा है। सोऽहम् भाव नमस्कार है। सन्तोष विसर्जन है। यही भाव मोक्ष के इच्छुकों को सिद्धिप्रद है।

—आत्मपूजोपनिषद्

निश्चिन्त अवस्था उसका ध्यान है, सर्व कर्म दूर करना उसका आवाहन है, निश्चय ज्ञान ही आसन है, मन रहित होना ही पाद्य है, नित्य मन रहित स्थिति ही अर्घ्य, नित्य का प्रकाश और अमृत रूप वृत्ति ही स्नान है। ब्रह्म के समान भावना ही चन्दन है, दर्शन के स्वरूप में स्थिति अक्षत है, चैतन्य की प्राप्ति पुष्प है, चैतन्य रूप अग्नि का स्वरूप ही धूप है, चैतन्य रूप सूर्य का स्वरूप दीप है। परिपूर्ण चन्द्रमा के अमृत रस से एकात्मता करना ही नैवेद्य है। निश्चलता ही प्रदक्षिणा है। 'मैं वही हूँ' यह भावना ही नमस्कार है, मौन ही स्तुति है, और सर्व प्रकार का सन्तोष ही विसर्जन है। जो इसको जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

—मण्डल ब्राह्मण उपनिषद्

इस शरीर यज्ञ का आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज है। अहङ्कार ही अध्वर्यु है, चित्त ही होता है, प्राण ही ब्राह्मणाच्छसी है। अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता, उदान उद्‌गाता, समान मैत्रावरुण, शरीर वेदी, नाक अंतः वेदी, शिर द्रोण कलश, पैर रथ, दाहिना हाथ स्रुवा, बायां हाथ घृत-पात्र, कान प्रणीता, आँख आज्य भाग, गर्दन धारा, ॐङ्कार खम्भा, आशा रस्सी, काम पशु, इन्द्रियां यज्ञ पात्र, कर्मेन्द्रियाँ हवि, अहिंसा इष्टिकाएं, त्याग दक्षिणा, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है।

—प्राणाग्निहोत्रोपनिषद

ब्रह्मा का स्थान हृदय है, विष्णु कंठ में रहते हैं, तालु में रुद्र और ललाट में महेश्वर का स्थान है। नासाग्र में अच्युत जानो।

—ब्रह्मविद्या उपनिषद

जब तक जीव का देहाभिमान नष्ट नहीं होता तब तक उसे अपनी तुच्छता को ही अनुभव करना चाहिए और अहङ्कार से निरन्तर बचना चाहिए। देह की, बुद्धि की, धन की अपनी विशेषता मानने से व्यक्ति को अहङ्कार आता है और वही पतन का कारण बनता है। ऐसे अहङ्कार से बचने और 'अपने को नम्र, विनयी एव तुच्छ मानते रहने का भक्ति ग्रन्थो मे सर्वत्र वर्णन मिलता है। अपने को देह मानने वाले सामान्य श्रेणी के लोगों के लिए वही मान्यता उचित भी है। किन्तु ब्रह्मविद्या का विद्यार्थी जब आत्म चिन्तन करता और अपने शुद्ध स्वरूप को समझना आरम्भ करता है तब उसका द्वैत विनिष्ट होता है और अद्वैत भाव का प्रकाश मिलता है। उस स्थिति मे उसे आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का बोध होता है और अपने को अपने मे ओत-प्रोत देखता है। यह स्थिति जब उपलब्ध होने लगे तो आत्म चिन्तन के समय अपने आत्मा को ब्रह्म की स्थिति मे रखकर तदनुसार भावनाएँ करने एव मान्यताएँ जगाने की आवश्यकता है। ईश्वर के साथ तदात्म्य होने की पूर्ण स्थिति भी यही है। वेदान्त शास्त्रो मे इसी स्थिति का मार्ग दर्शन है। उपनिषदो मे प्रस्तुत ब्रह्मविद्या मे ऊची स्थिति के साधको के लिए आत्म-स्वरूप के चिन्तन का यही मार्ग बताया गया है। ऐसे प्रशिक्षण के कुछ प्रसङ्ग इस प्रकार है —

"मैं ब्रह्म हूँ" यह मत्र दृश्य पापो का नाश करता है। देह के दोषो का नाश करता है। मृत्यु पाश का नाश करता है। द्वैत के दुख का नाश करता है, भेद बुद्धि का नाश करता है, चिन्ता के दुखो का नाश करता है, सब व्याधियो का नाश करता है, सब शोको का नाश करता है, काम, क्रोध, चचलता कामना और अज्ञानता का नाश करता है। "मै ब्रह्म हूँ" यही मत्र ज्ञान

और आनन्द प्रदान कराता हुआ संसार से छुड़ा देता है; इसमें सन्देह नहीं।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

मैं अच्युत हूँ, अचिन्त्य हूँ, अजन्मा हूँ, काया से रहित हूँ, अति सूक्ष्म हूँ, अविकारी हूँ, आनन्द अमृत रूप हूँ, उत्तम पुरुष हूँ, उत्कृष्ट हूँ, अन्धकार से परे हूँ, दिव्यदेव स्वरूप हूँ, बुद्ध हूँ, महीश्वर हूँ, विमुक्त हूँ, विभु हूँ, वैश्वानर हूँ, सब प्राणी मुझ में ही निवास करते हैं।

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

मैं केवल परब्रह्म स्वरूप हूँ, परम आनन्द स्वरूप हूँ, केवल ज्ञान रूप हूँ, केवल सत्य रूप हूँ। सदा शुद्ध स्वरूप हूँ। केवल प्रिय स्वरूप हूँ। इच्छाओं से रहित हूँ, निर्दोष हूँ, ज्योति स्वरूप हूँ, चिन्ता रहित हूँ, स्वयं परमगति रूप हूँ। सदा तृप्त हूँ। मुक्त हूँ, मैं क्या नहीं हूँ ? मैं स्वयं,स्वयं को ही खाता हूँ, स्वयं; स्वयं के साथ ही खेलता हूँ; स्वयं ही अपना प्रकाश हूँ।

—तेजोविन्दु उपनिषद

मैं मन नहीं हूँ; बुद्धि नहीं हूँ; देह नहीं हूँ; कामना नहीं हूँ; मेरा कोई सजातीय नहीं; कोई विजातीय नहीं; संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ है झूठा है, केवल मैं ही सत्य हूँ।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिए कि मैं ही सर्व रूप ब्रह्म हूँ; मैं ही परम सुख रूप हूँ। जल में जल डालने से; दूध में दूध मिला देने से; घी में घी मिला देने से वे एक रूप हो जाते हैं; उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने पर उनमें भी कोई अन्तर

नहीं रहता। जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि में कर्म बन्धनों को भस्मसात कर देता है फिर वह विमल वस्त्र के समान होकर पवित्र और अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थिति हो जाता है जैसे जल दूसरे जल में मिल कर अभिन्न हो जाता है।

—पैङ्गल उपनिषद

उपनिषदों में जीव को उसका वास्तविक स्वरूप समझाते हुए बार-बार यही कहा गया है कि तू ब्रह्म है, ब्रह्म से अभिन्न है। अपने वास्तविक स्वरूप को समझ और ब्रह्म भावना में निरन्तर निमग्न रह। ऐसे अनेक प्रवचनों में से कुछ इस प्रकार हैं:—

"तब अथर्व कहने लगे—हे शाण्डिल्य, ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जिसमें यह सब ओत-प्रोत है। जिसे जानने से यह सब जान लिया जाता है। वह शरीर रहित, ग्रहण न कर सकने योग्य और बताये न जा सकने योग्य है। जिसको पाये बिना वाणी मन के साथ पीछे लौट जाती है, जो केवल ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है, जो एक और अद्वितीय है, आकाश के समान सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरञ्जन, निष्क्रिय, मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य और आनन्द रूप, एकरस वाला, मङ्गलमय अति शांत और अमर है। वह परब्रह्म है। वही तू है। ज्ञान के द्वारा तू उसे जान। जो एक ही देव आत्मा की शक्ति रूप में मुख्य, सर्वत्र, महेश्वर, सब प्राणियों का अन्तरात्मा, सर्व प्राणियों में निवासकर्ता, सर्व भूतों में गुप्त, भूतों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग द्वारा जान सकने योग्य, जो विश्व की सृष्टि करता है; विश्व की रक्षा करता है; विश्व का संहार करता है; वही आत्मा

है। इस आत्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त करके ही तू शोक का अन्त कर सकेगा।

—शाण्डिल्य उपनिषद:—

तू सत्य है; सिद्ध है; सनातन है; मुक्त है; संकल्प रहित है; आनन्द है; ज्ञानी है; दृष्टा है; निर्विकार है; निरोगी है; अपने स्वरूप को ही तू देख रहा है; अपने आनन्द में ही तू डूब रहा है; और अन्त में तू स्वयं ही शेष रह जायगा।

—तेजोविन्दु उपनिषद

तू ही विश्व के कण-कण में जीवन शक्ति के रूप में व्याप्त विराट् रूप ग्रहण कर भुवन का रक्षक है। तू ही वह्निरूप तथा यज्ञमय है। तू ही एक मात्र व्यापक तथा पुराण पुरुष है। तू ही प्राण रूप धाता; विश्वकर्ता; विधाता; हर्ता है। पवन; गरुड़; विष्णु;वराह;रात; दिन;भूत भविष्य वर्तमान तू ही है,वसु;आकाश; अग्नि और रुद्र रूप में सर्व व्यापी है। अन्तर्यामी रूप में तू ही सर्वत्र ओतप्रोत है। विविध प्रकार की गतियों और विश्रान्तियों का तथा वेद का स्वस्वरूप तू ही है। हे सहस्रबाहु; ज्योति स्वरूप! वेद वेत्ता ब्रह्मज्ञानी लोग साम गान तथा यजुर्वेदी यज्ञ प्रार्थनाओं द्वारा तुझे ही गाया करते हैं। तेरी ही प्रार्थना करते हैं। स्त्री पुरुष; बालक बालिका; पृथ्वी धाता; वरुण अर्यमा आदि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है तू ही है। तेरा ही स्वरूप है।

—एकाक्षरोपनिषद

भावनात्मक साधना मनोलय के लिए उपयुक्त है; पर साथ ही शरीर से सत्कार्य करते रहना भी आवश्यक है। कर्तव्य कर्मों को छोड़ कर बैठ जाना; उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करना किसी के लिए भी उचित नहीं। मन से केवल भजन और चिन्तन करते रहना और जीवन की अन्य जिम्मेदारियों को छोड़ बैठना अद्ध-

विद्या के मान्य सिद्धांतों के प्रतिकूल है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर कर्तव्य कर्म करते रहने का आदेश है। ऐसे कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की साधना ही सफल होती है। लिखा भी है :—

धर्म के तीन स्कन्ध हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान-यह प्रथम स्कन्ध है। तप यह दूसरा स्कन्ध है। आचार्य-कुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक रहते हुए अपने शरीर को क्षीण करना यह तीसरा स्कन्ध है। इन को अपनाने वाले सभी पुण्यलोक के भागी होते हैं॥

:—छांदोग्य अध्याय २ त्रयोदश खंड

इस आत्मा को ब्रह्म परायण लोग स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसी को जान कर वे मुनि हो जाते हैं।

—बृहदारण्यक अध्याय ४ ब्राह्मण ४

संन्यास उपनिषदें

उपनिषदों के ब्रह्म विद्या खण्ड की कठ रुद्रोपनिषद्, मुण्डिकोपनिषद्, अरुणिनकोपनिषद्, संन्यास उपनिषद्; नारद परिब्राजकोपनिषद्, पैङ्गल उपनिषद्, महावाणी क्योपनिषद्,आत्म प्रबोधोपनिषद्, कैवल्योपनिषद्, ब्रह्मविन्दु उपनिषद्, आत्मोपनिषद्, पञ्च ब्रह्मोपनिषद्, शारीरिक उपनिषद्, शाट्यायनीयोपनिषद्, याज्ञवल्कोपनिषद्, जाबालोपनिषद्, परमहंस उपनिषद्, निर्वाण उपनिषद्, परमहंस परिब्राजक उपनिषद्, भिक्षुकोपनिषद्, तुरीयातीत उपनिषद्, अवधूत उपनिषद् इन उपनिषदों में संन्यास धर्म की चर्चा विशेष रूप से हुई है। संन्यास का उद्देश्य, उसका पर्[illegible]म, कर्तव्य और नियम, निषेध और प्रतिवन्ध, विकार आ[illegible]ोण, साधना और तपश्चर्या जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर इ[illegible] उपनिषदों में प्रकाश डाला गया है।

संन्यास एक बहुत ऊंची आध्यात्मिक स्थिति है। उसमें सब ओर से मन हटा कर मनुष्य केवल ब्रह्मपरायण ही रहता है, और अन्ततः ब्रह्मभूत ही हो जाता है। तीन आश्रमों में जीवन को समुन्नत करके, परिब्राजक और सामाजिक उत्तरदायित्वों से छुटकारा पाकर मनुष्य के लिए एक ही कार्य शेष रहता है। आत्मा को परमात्मा में लय कर देना। उसकी पूर्ति संन्यास में हो जाती है।

ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ और बानप्रस्थ यह तीन आश्रम तो सभी के लिए बताये गये हैं, पर संन्यास के अधिकारी सब कोई नहीं होते। जिनने मनोभूमि को भली प्रकार ज्ञानयुक्त एवं विकसित कर लिया हो, सभी आध्यात्मिक गुण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कर लिये हों, वे वृद्धावस्था में, चौथी आयु में, संन्यास ग्रहण करते हैं और फिर आत्म साधना में ही लग जाते हैं। चौथी

आयु में शरीर भी पारिवारिक एवं समाज सेवा के लायक नहीं रहता। कामनाएं भी शान्त हो जाती हैं, वही संन्यास के लिए उपयुक्त भी है।

प्राचीन काल में सभी ऋषि ब्रह्मवेत्ता, तत्वदर्शी संन्यासी नहीं होते थे। वे लोग ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ की स्थिति में रहकर विद्याध्ययन, तत्व चिन्तन, आत्म निर्माण एवं लोक सेवा का कार्य पूरा करते थे। संन्यास तो उनमें से कुछ थोड़े से ही मनीषी लेते थे, जिन्हें यह पूर्ण विश्वास हो जाता था कि उनके सारे लौकिक कर्तव्य पूर्ण होगये और मनोभूमि इस योग्य बन गई कि बिना अड़चन के ब्रह्म संबंध सध सकता है, वे ही कषाय वस्त्र धारण करते थे।

संन्यास साधना जितनी ही महान है उतनी ही कष्ट साध्य भी है। त्याग का ऊँचे से ऊंचा आदर्श उसमें उपस्थित किया जाता है। शारीरिक तितिक्षा अपरिग्रह एवं संयम को उच्चतम स्थान दिया जाता है और मन की सारी विकृतियों को परास्त करके जीवनमुक्त जैसी स्थिति बनानी पड़ती है। यही संन्यास का वास्तविक स्वरूप है।

उपरोक्त उन्नीस संन्यास उपनिषदों में जो कर्तव्य और नियम सन्यासी के लिए बताये गये हैं वे विचारणीय हैं। जिसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो कि मैं इन कर्तव्यों का दृढ़ता पूर्वक पालन कर सकता हूँ उन्हें ही यह उत्तर दायित्व अपने कन्धे पर लेना चाहिए। अन्यथा ऊंचे उठने की अपेक्षा अधः पतन का ही भय रहेगा। संन्यासी के लिए आन्तरिक त्याग का आदर्श इन उपनिषदों में इस प्रकार बताया गया है :—

"काम, क्रोध, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, परनिन्दा, इच्छा, ममता, अहङ्कार, हर्ष आदि का पूर्ण त्याग करे।"

—आरुणिकोपनिषद

"जिसमें शान्ति, शम, दम, शौच, संतोष, सत्य, सरलता, दम्भ हीनता और असंचय वृत्ति हो वही संन्यास आश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी माना गया है। मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी के प्रति ईर्षा भाव न रखना संन्यासी का कर्तव्य है। इस प्रकार के धर्मों का आचरण करते हुए एकाग्र मन से उपनिषदों को पढ़े और ब्रह्मचर्य पूर्वक स्वाध्याय करते हुए ऋषि ऋण से मुक्त हो।"

"संन्यासी को तितीक्षा, ज्ञान, वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणों का पालन उचित है। जो इन गुणों को छोड़कर केवल भिक्षा वृत्ति से पेट पालता है, वह सन्यास वृत्ति को नष्ट करने वाला है। केवल शिर मुड़ाने, दंड धारण आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। दंडी वही है जिसके पास ज्ञान रूप दंड है। मन में इच्छाएं जागृत हैं, ज्ञान का अभाव है और काठ का दंड धारण कर रखा है, ऐसा आडम्बर करने वाला मनुष्य घोर नरक का अधिकारी होता है। ऋषिगण प्रतिष्ठा को 'शूकरी विष्ठा' कहते हैं इसलिए संन्यासी को सर्व प्रथम इसे ही त्याग करना चाहिये।"

"संन्यासी का निश्चित धर्म भिक्षा वृत्ति द्वारा भोजन, तप करना, मौनाबलम्बन, ज्ञानान्वेषण और विरक्ति भाव है।"

—नारद परिब्राजकोपनिषद

निवास वस्त्र और वस्तुओं का संग्रह कैसा हो, इस संबंध में संन्यासी के नियम इस प्रकार हैं :—

"दंड कोपीन एवं तन ढकने के लिए आवश्यक हो तो कोई वस्त्र उतना ही पास रखे। सब वस्तुओं का संग्रह छोड़दे।"

—अरुणिकोपनिषद

"दो लँगोटियाँ, एक गुदड़ी और एक दंड यही वस्तुऐं संन्यासी संग्रह कर सकता है। इससे अधिक संग्रह नहीं

कर सकता। यदि लोभ वश अधिक वस्तुएें संग्रह करता है तो वह मरने पर रौरव नरक को प्राप्त होकर फिर पशु पक्षियों आदि योनियों में जन्म लेता है। ठंड आदि से रक्षा करने के लिए जीर्ण, शीर्ण, स्वच्छ वस्त्रों को सीकर गुदड़ी बनावे और निर्जन स्थान में जाकर रहे।"

—नारद परिव्राजकोपनिनिषद

"खाने पीने का लालच रखने वाला, ऊनी और रेशमी कपड़े पहनने वाले संन्यासी का असंदिग्ध रूप से पतन होताहै।"

—संन्यासोपनिषद

"एकाकी रहे अथवा एक साथी बनाले।"

—अरुणिकोपनिषद

"बस्ती में भिक्षा के लिए ही घुसे। संन्यासी का एकाकी रहना इसलिए भी आवश्यक है कि एक से दो होने पर जोड़ा कहा गया है और तीन मिल जाने पर गांव कहा जाता है। इससे अधिक होने पर तो पूरा नगर ही हो गया। इसलिए शास्त्रों में अकेले संन्यासी को ही भिक्षुक कहा है। वह अपने पास किसी को आने का अवसर ही न दे। एक से दो भी न होने दे। क्योंकि नगर, ग्राम या जोड़े के रूप में रहने वाला सन्यासी अपने धर्म से पतित हो जाता है। कई व्यक्तियों का सम्मिलन होने पर निरर्थक बातें होगी इसके फल स्वरूप परस्पर स्नेह, द्वेष, निन्दा आदि भावों की उत्पत्ति होगी। इसलिए निस्पृहतापूर्वक अकेला ही रहने की शास्त्रों ने आज्ञा दी है। उसे निरर्थक वातावरण से बचना चाहिए।"

"ग्राम में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि से अधिक निवास न करे। वर्षा ऋतु के लिए यह नियम नहीं है। गांव में दो रात्रि रहना भिक्षु के लिए वर्जित है। क्योंकि अधिक रहने से

राग आदि की उत्पत्ति संभव है जिसके कारण नरक प्राप्ति होती है। निर्जन स्थान में ही रहे और मन इन्द्रियों को नियंत्रित रखे। किसी भी स्थान पर अपने लिए मठ या आश्रम न बनावे।......जो संन्यासी अपने रूप को जानता है वह एकाकी ही घूमता है। जैसे डरा हुआ हिरन कभी एक स्थान पर नहीं रहता, वैसे ही संन्यासी भी कभी एक स्थान पर नहीं ठहरता।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

"हमेशा ज़मीन पर सोवे। हजामत कराना त्याग दे।"

—परमहंस परिव्राजकोपनिषद

"हाथ अथवा खप्पर में भिक्षा मांगे, कमण्डलु में जल पीवे, भोजन इतना ही मांगे जो बचे नहीं, दूसरे पात्र में न रखना पड़े, रहने के लिए एकान्त स्थान चुने। खाली खण्डहर, देव मंदिर, फूंस की झोंपड़ी, पेड़ की जड़, गुफा, अथवा बड़े पत्थरों के नीचे रहे। स्थायी घर न बनावे।

—याज्ञवल्कोपनिषद

संन्यासी के लिए निम्न कार्यों का निषेध किया गया है:

"संन्यासियों के लिए भोग, ममता, माया, लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहंकार कामना, संग्रह, व्याख्यान, शिल्प, चिकित्सा, व्यवसाय, परगृह निवास, औषधि वितरण, मंत्र प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। जो इन्हें करता है वह अपने धर्म से पतित हो जाता है।"

"वाणी का व्यर्थ अपव्यय करना निरर्थक है। उत्सव देखना, तीर्थ यात्रा करना भी संन्यासी के लिए अनावश्यक है। यात्रा में सवारी का उपयोग करना, सक्रय-विक्रिय अदला-बदला

करना, सभाओं में भाषण देना, असत्य बोलना निषिद्ध है। व्यवसाय वाणिज्य आदि कर्म न करे। शिष्य एकत्रित न करे। विभिन्न आयोजनों द्वारा अपनी प्रसिद्धि न बढ़ावे। वेदों का ज्ञाता हो तो भी गौ के समान निरहंकार रहे, दूसरों के द्वारा मिला हुआ आदर तपोपार्जन में हानिप्रद है। किसी अनुचित कार्य द्वारा सन्यास धर्म को कलंकित न करे। सदा अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करे। कभी किसी पद की कामना न करे। आत्मा की ही उपासना करे किसी अन्य देवता की नहीं। देवोत्सव अथवा मेले आदि में भाग न लें। परिचित स्थान के उपयोग से दूर रहे। सभा स्थल को श्मसान के समान समझे। धन सम्पत्ति को कालकूट विष के समान माने।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

उसका आहार कितना कैसा और कहाँ से प्राप्त हो इसकी परम्परा इस प्रकार है:—

"भोजन को औषधि की दृष्टि से अर्थात् केवल प्राण रक्षा के लिए लेवे। आहार ऐसा ले जिससे चर्बी न बढ़े। शरीर दुबला ही रहे।……एक ही स्थान से भिक्षा न करे चाहे वह बृहस्पति के समान ही पूज्य क्यों न हो।……सन्यासी के लिए घी कुत्ते के मूत्र के समान है, शहद शराब के तुल्य है। तेल शूकर के मूत्र के समान है। दूध नर मूत्र के समान है। इसलिए उसे सदैव घृत आदि रहित भोजन ही प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। घी आदि के पकवान कभी न खाय।……घी को रुधिर के समान, एकत्र किये हुए अन्न को मांस के समान त्याग दे। गंध लेपन को गंदी वस्तु के समान, हंसी मजाक और घमंड को गो मांस के समान, परिचित घर की भिक्षा को चाण्डाल के

समान, स्त्री को सर्पिणी के समान, धन को कालकूट के समान और सभा आदि को श्मशान के तुल्य त्याग दे।"

—संन्यास उपनिषद्

"अन्न को औषधि समान ग्रहण करे। जैसे औषधि अल्प मात्रा में ली जाती है वैसे ही अल्पाहार करे। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी को खाकर सन्तोष करे।"

—आरुणिकोपनिषद्

"संन्यासी को उत्तम वर्ण के गृहस्थों के घरों से ही भिक्षा लेनी चाहिए। जब चूल्हे की अग्नि शान्त होले और सब भोजन करलें तभी भिक्षाटन करे। संन्यासी अपने हाथ को ही पात्र मान कर विचरण करते हैं और बारम्बार भिक्षा नहीं मांगते। निंदित घरों से भिक्षा न ले। अनिंदित सद् गृहस्थों का ही अन्न ग्रहण करे। जिस घर के किवाड़ बन्द हों वहाँ न जाय। किसी एक ही गृहस्थ का भोजन कदापि न करे।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

अहंकार से उत्पन्न होने वाला क्रोध मान और यश संन्यासी के लिए त्याज्य हैं। इनके कारण अहंभाव बढ़ता है जो पतन का कारण बनता है। संन्यासी क्रोधी तो होना ही नहीं चाहिए। इस संबंध में यह निर्देश है:—

"ज्ञानशील यति को किसी पर उसी प्रकार क्रोध नहीं आता जैसे मनुष्य को भूल करने वाले शरीर के अपने अंगों पर क्रोध नहीं आता। यदि कोई किसी पर क्रोध करे तो उससे पूछना चाहिए कि तुम क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते जो सब अनर्थों की जड़ है।"

—याज्ञवल्क्योपनिषद्

"अपनी प्रशंसा से प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर क्रोध न करे। किसी को गाली न दे।"

—कठरुद्रोपनिषद

"जैसे साधारण मनुष्य अपनी प्रशंसा और आदर से अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता यदि पिटने पर भी बनी रहे तभी उसे भिक्षु होने का अधिकार है।......किसी का अनादर न करे और दूसरों के कठोर वचनों को सहन करले। जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे। जो गाली दे उसे गाली न देकर अच्छी वाणी ही बोलें।......अपनी साधना संबंधी जानकारी लोगों पर प्रकट न होने दे।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

वानप्रस्थ और गृहस्थाश्रम वाले व्यक्ति तो स्वयं स्त्री सहित होने के कारण स्त्रियों के सम्पर्क में रह सकते हैं पर संन्यासी के लिए उसका भी निषेध है।

"संन्यासी किसी स्त्री से बात न करे। पूर्व परिचित किसी स्त्री का स्मरण न करे। स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से संबंधित चर्चा भी न सुने। क्योंकि इससे मन में विकारों की उत्पत्ति होती है और वह योग भ्रष्टता का कारण होता है।......युवती नारी के दर्शन मात्र से ही उन्मत्तता हो जाती है इसलिए ऐसी नारी के दर्शन तक संन्यासी को नहीं करने चाहिए। स्त्रियों से वार्तालाप एवं नृत्य गान से दूर रहे।...... स्त्री को भुजंगिनी के समान भयंकर माने।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

"वृद्ध हुआ सन्यासी वृद्धा स्त्री का भी विश्वास न करे। क्योंकि पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा भी लग जाता है। स्वस्थ

युवावस्था वाले सन्यासी को कभी किसी के घर में नहीं रहना चाहिए।"

—संन्यासोपनिषद

सन्यासी अपने संबंधियों, नट आदि के खेलों, जुआ, युवती स्त्री, स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ इनकी ओर कभी न देखे। अपनों के प्रति मोह, दूसरों के प्रति द्रोह माया, मद, राग द्वेष इनसे सदा दूर रह कर मन में कभी इनके संबंध में विचार न करो।......स्त्रियों के संबंध में बातचीत करना, अथवा सोचना, इन्द्रियों की लोलुपता, दिन में शयन, मंच पर बैठना, और सवारी पर चलना संन्यासियों के लिए यह कार्य पाप ही है। जो पुरुष आत्म चिन्तन की कामना रखता है वह दूर की यात्रा न किया करे।

—नारद परिव्राजकोपनिषद

सन्यासी के लिए स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन करते रहना आवश्यक बताया गया है:—

"सभी वेदों उपनिषदों आदि का स्वाध्याय किया करे।"

—अरुणिकोपनिषद्

"संध्याकाल में एक हजार गायत्री का जप नित्य करे। ....सद्गुरु के आश्रम में जाकर उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करे।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

"संन्यास में विद्या दिन का प्रकाश और अविद्या रात्रि की अँधियारी समझी जाती है। इसलिए विद्याभ्यास में प्रमाद करना दिन में सोने के समान निन्दित है।"

—संन्यास उपनिषद.

संन्यासी शिखा सूत्र का बाह्य प्रतीक तो त्याग देता है पर अन्तःकरण में उन्हें भावना रूप से सदा धारण किये रहता है। ज्ञान ही शिखा है, ज्ञान ही उपवीत है, यह सोच कर उसे निरन्तर ज्ञान की उपासना करनी चाहिए। अपने ज्ञान को दिन-दिन स्वाध्याय, सत्संग और मनन चिन्तन द्वारा बढ़ाते रहना, साथ ही अज्ञान के निवारण और सद्ज्ञान के प्रसार का प्रयत्न भी करना संन्यासी का आवश्यक कर्तव्य है। परब्रह्मोपनिषद में इस ज्ञान कर्तव्य पर बहुत जोर दिया गया है।

जो ज्ञान युक्त शिखा वाले, जो ज्ञाननिष्ठ तथा ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत धारण करते हैं उनका सर्वस्व ज्ञान ही है, ज्ञान ही उसका परम पावन है।"......'जिसकी ज्ञान युक्त शिखा है वही सच्चा शिखाधारी है दूसरे तो लंबे बालों वाले मात्र हैं।......... जिसकी ज्ञानमय शिखा और ज्ञानमय उपवीत है उसके लिए सभी वस्तुएं ब्रह्ममय हैं।"

—परब्रह्मोपनिषद

"सभी उत्तम यज्ञों से उत्तम ज्ञान यज्ञ कहा गया है। ज्ञान ही दण्ड है ज्ञान ही शिखा है। ज्ञान ही यज्ञोपवीत है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद

संन्यास का मार्ग अति कठिन होने से उसके अधिकारी थोड़े ही होते हैं। इसलिए उनकी संख्या संसार में बहुत ही स्वल्प होती है।

"ब्रह्माजी बोले—परमहंस मार्ग संसार में दुर्लभ और कठिन इसलिए अधिक संख्या में नहीं होते। ऐसा संन्यासी एकाध ही मिलता है। और वह सदैव कूटस्थ भाव में स्थिर रहता है।"

—परमहंस उपनिषद

आज कल अनधिकारी संन्यासी बहुत उपज पड़े हैं। हराम की रोटी खाना, लाल-पीले कपड़े पहन कर मुफ्त में भोली जनता से पूजा, प्रतिष्ठा धन और सुख सामिग्री प्राप्त करना इनका लक्ष होता है। इसलिए सच्चे संन्यासी का-सा त्याग उनमें दीख नहीं पड़ता। उनके कारण समाज में अनीति ही बढ़ती है। ऐसे लोग वस्तुतः संन्यास के सर्वथा अयोग्य है। कहा गया है कि:-

"जो व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम, स्वाध्याय से रहित हैं, सत्य और पवित्रता से हीन है। उनको संन्यास न देवे।"

—संन्यास उपनिषद्

"अंगहीन, नपुंसक, पतित, स्त्रैण, वधर, मूक, बालक, पाखण्डी, चक्री, लिंगी, कुष्ठी, वेतन भोगी अध्यापक, अयाज्ञिक, आदि विरक्त हों तो भी सन्यास के अधिकारी नहीं है।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

संन्यास की मर्यादाओं का पालन न करने वाले किन्तु वैसा वेष धारण कर लेने वाले सब प्रकार पतित ही हैं। कहा गया है:—

"हे सौम्य, जो संन्यासी अपने नैष्ठिक धर्म को छोड़ देता है वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती, गर्भपातकी तथा महापातकी के समान होता है। सभी लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

किसी को अत्यंत विकट वैराग्य हो जाय और पूर्व जन्मों की संचित सतोगुण सम्पदा अत्यधिक हो तो बात दूसरी है वैसे अपवादों में ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद भी संन्यास लेने की छूट है। पर ग्रहस्थ का अधूरा कर्तव्य छोड़कर बीच में ही संन्यास ले लेना सर्वथा अयोग्य और पाप मूलक है। बच्चों के स्वावलम्बी हो जाने पर पत्नी जब पुत्र-पौत्रों के साथ सुख पूर्वक रहने लगे

तभी अधिकारी सत्पात्रों के लिए भी संन्यास योग्य है। इससे पूर्व पत्नी और बच्चों को असमर्थ स्थिति में छोड़कर गृहत्यागी होना नीति और धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। तीन आश्रमों के कर्तव्य पूरे हो जाने पर ही संन्यास का अवसर आता है। उपनिषदों में यही कहा भी है :—

"सर्व प्रथम विधिवत् उपनयन संस्कार करना चाहिए। इसके पश्चात् संस्कार सम्पन्न गुरु के आश्रम में रहे। वहाँ गुरु सेवा करे और अध्ययन करे। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे। फिर पच्चीस वर्षों तक ग्रहस्थ धर्म का सेवन करे। फिर पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थी होकर उसके नियमों का भली प्रकार पालन करे।......जब आशा, असूया, ईर्षा, अहङ्कार, आदि का त्याग कर चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो जाय तो इसके पश्चात् संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है।......जो पहले से ही सन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करने वाला है वही उसमें प्रवेश कर सकता है।......संन्यास की इच्छा तभी करे जब सभी पदार्थों के प्रति मनमें पूर्ण विरक्ति हो जाय। इसके विपरीत आचरण मनुष्य को पतित करने वाला है। पूर्ण वैराग्य होने पर ही संन्यास ले और मनमें किंचित भी राग रहे तो घर को न त्यागे। जो द्विज मनमें राग रहते हुए भी संन्यास ले लेता है वह अधम नरक को प्राप्त होता है।"

:—नारद परिब्राजकोपनिषद

"नारायण ने कहा—सद्गुरु से समस्त विद्याओं को परिश्रम पूर्वक पढ़कर इस लोक और परलोक के सुखों को आप रूप समझे। ब्रह्मचर्य को समाप्त कर ग्रहस्थ बने। ग्रहस्थ को पूर्ण करके वानप्रस्थी हो। तब संसार से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे।"

—परमहंस परिब्राजकोपनिषद

"याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मचर्याश्रम को विधिवत् पूर्ण कर ग्रहस्थी होना चाहिए। तब बानप्रस्थ होकर सन्यास लेना चाहिए।"

—याज्ञवल्कोपनिषद्

वेश धारण उतना आवश्यक नहीं है जितना मनोभूमि का निर्माण। यदि अन्तः करण का ठीक निर्माण किया गया है तो वेश धारण न करते हुए भी, साधारण स्थिति में रहते हुए भी मनुष्य सन्यास के लाभ को प्राप्त कर सकता है। कठ रुद्रोपनिषद् में ऐसा ही कहा गया है :—

"जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को बश में रखता हुआ, गुरु के वचनों के अनुसार चलकर आत्म साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म स्वरूप परमानन्द को जान लेता है, वह संन्यासी हो चाहे न हो, केवल अपने कर्मों द्वारा ही संताप से निवृत्त हो जाता है।"

—कठ रुद्रोपनिषद्

आध्यात्मिक त्याग एवं संन्यास की चर्चा इसी प्रकरण में इस प्रकार हुई है—

अहंकार रूप पुत्र को, धन रूप भाई को, भेद रूप घर को, आशा रूप पत्नी को छोड़ देने वाला तुरन्त ही मुक्त होजाता है, इसमें सन्देह नहीं।......कर्मों का छोड़ देना या अपने को संन्यासी घोषित करना संन्यास नहीं, वरन जीव और परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास है।...जो मनुष्य पैसा के अन्न के, वस्त्रों के, अथवा नामवरी के लालच से संन्यास लेता है वह दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ, कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। आध्यात्मिक संन्यास के लिए गृह त्याग या वेश परिवर्तन आवश्यक नहीं, वह श्वेत वस्त्रों और काम काजी जीवन के बीच भी संभव है।

निर्वाणोपनिषद् में निर्वाण अर्थात मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है। उसमें भावनात्मक एवं क्रियात्मक सदाचार पर बहुत जोर दिया गया है। निर्माण के इच्छुकों के लक्षण बताते हुए कहा गया है:—वे काम देव को रोकने में क्षेत्र-पाल जैसे होते हैं।···विवेक की रक्षा करते हैं। दया ही उनका क्रीड़ा खेल है। आनन्द में रहना ही माला है। धैर्य उनकी गुदड़ी है, उदासीन वृत्ति लंगोटी है, विचार दंड है, ब्रह्म दर्शन योग पट्ट है, तृष्णा उनकी जूती है। अजपा (सोऽहम् मंत्र) गायत्री है, निरोध वृत्ति कन्या है, आत्म निग्रह नियम है, भय मोह शोक और क्रोध का छोड़ना यही उनका त्यागहै। अनियामकत्व (किसी को अपने वश में न रखना और न किसी का तिरस्कार करना) यही उनकी निर्मल शक्ति है। दूसरों की निन्दा से रहित ऐसा त्यागी ही जीवन मुक्त हो सकता है। महा श्मशान में भी वे आनन्द दायक उपवन के समान निवास करते हैं।

इस प्रकार की मनोभूमि के ही निर्माण के लिए आव-श्यकता है। उपासना विधान तो कोई भी हो सकता है पर श्रेयार्थी की मनोभूमि ऐसी होनी आवश्यकहै। संन्यासका तात्पर्य ऐसी मनोभूमि का निर्माण ही है। वह घर और बन दोनों जगह रहकर निर्मित की जा सकती है। वेश और वस्त्रों का रङ्ग बदलना उसके लिए अनिवार्य नहीं है।

आज की परिस्थितियों में जब कि साधुओं की संख्या ६० लाख से ऊपर पहुँच गई है और इनमें कुपात्रों की भरमार है, तब ऐसा भावनात्मक संन्यास ही उचित है। भिक्षा देने की श्रद्धा और सामर्थ्य भी लोगों की घट गई है। मांगने पर कुधान्य ही अधिक मिलता है जिसे खाने से चित्त में उद्वेग उठते हैं। निवास करने योग्य अच्छे बन, जहां कंदमूल फल पर्याप्त होते थे, अब रहे नहीं। जन संख्या बढ़ने से सर्वत्र खेती होने लगी

इसलिए जो जङ्गल बचे हैं वे ऐसे हैं जहां निर्वाह प्राप्त होने का कोई साधन नहीं। सारा जीवन आलसी और विलासी विताने के कारण संन्यास में कही हुई तपश्चर्या भी सधती नहीं। इन परिस्थितियों में अत्यन्त सुदृढ़ मनोभूमि के लोगों को छोड़कर सर्व साधारण के लिए यही उचित है कि ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, बानप्रस्थ आश्रमों में रहता हुआ आत्म कल्याण तथा लोकहित का साधन करते हुए लक्ष प्राप्ति के लिए प्रसन्न करे।

साधनामें भावना ही प्रधान बताई गई है।

जिस प्रकार मन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो कौन इस भव बन्धन से न छूट जायगा।"

—शाट्यायनीयोपनिषद

भव बन्धन से छूटने में लगन ही प्रधान है। यदि परमात्मा को प्राप्त करने में सच्ची लगन लग जाय तो फिर घर में रहते हुए भी मंजिल के पार होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

संन्यास की महिमा बहुत है। उसका परिणाम भी महान् है। पर वह प्राप्त उन्हें ही होता है जो उन आदर्शों को बाहर और भीतर से भली प्रकार पालन करता है। केवल उनके लिए ही संन्यास श्रेयस्कर सिद्ध होता है :—

"ऐसा आचरण करने वाला संन्यासी सर्व बन्धन मुक्त होता है। वह कभी दुख पीड़ित नहीं होता। ब्रह्म ज्ञान रूप ऐश्वर्य से युक्त होकर ज्ञान और अज्ञान से परे हो जाता है। अपनी आत्मा से ही प्रकाश प्राप्त कर सभी जानने योग्य पदार्थों को जान लेता है वह सब सिद्धियों के देने में समर्थ होता हुआ सबका ज्ञाता और सबका स्वामी होता है। परमपद को प्राप्त कर लेता है और पुनः संसार में नहीं आता।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

यदि सच्चे संन्यासी किसी देश में थोड़े भी होते हैं तो वहाँ का वातावरण भी शुद्ध हो जाता है। जैसे सुगंधित पुष्प की गंध दूर-दूर तक फैलती है, वैसे ही ब्रह्मपरायण आत्माएं अपने सूक्ष्म तेज से व्यापक क्षेत्र में सुख शान्ति की स्थिति पैदा कर देती हैं। वे कुछ न करते दीखते हुए भी लोक हित के लिए बहुत कुछ करते हैं। पर झूठे आडम्बरधारी, जैसे कि आज लाखों की संख्या में फिरते हैं, किसी देश समाज में बढ़ें तो इससे उनका तथा सारे समाज का अहित ही है।

इन २२ उपनिषदों में बताई हुई कसौटी पर हमें आज के संन्यासियों को परखना चाहिए और जो खरे उतरें उनका ही आदर करना चाहिए। पवित्र वेश को कलङ्कित करने वाले कुपात्र तो वहिष्कार के ही योग्य हैं।

संन्यास एक मनोभूमि है जिसे घर में रहते हुए भी, अपनी उपार्जित आजीविका पर गुजारा करते हुए भी, प्राप्त कर सकना सम्भव है। उसके लिए वेश बदलना भी अनिवार्य नहीं है। प्राचीन काल में राजा जनक सरीखे अनेक कर्मयोगी और ब्रह्मज्ञानी ऐसे हो गये हैं जिनसे शुकदेवजी सरीखे अवधूत भी आत्मविद्या का उपदेश ग्रहण करने जाया करते थे। आज देश, काल, पात्र की परिस्थितियों को देखते हुए आत्म-कल्याण के इच्छुकों के लिए ऐसा ही प्रदर्शनरहित संन्यास उपयुक्त है।

कामनाऐं और वासनाऐं छोड़नी चाहिए। वस्तुओं और व्यक्तियों पर से ममता का भाव हटा लेना चाहिए। 'इन वस्तुओं का स्वामी मैं हूँ', 'यह मेरी सम्पत्ति है', ऐसा मानने की अपेक्षा सभी वस्तुएं भगवान की हैं, ऐसा सोचना चाहिए। कुटुम्बी तथा सम्बन्धी मित्र या किसी वर्ग विशेष तक अपनी ममता सीमित

न रख कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव धारण करना चाहिए और प्राणिमात्र के प्रति आत्म भावना करनी चाहिए।

तृष्णा, ममता और वासना के ही बन्धन होते हैं। इन्हीं बन्धनों में जकड़ा हुआ जीव जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है। इन तीनों से छूट जाना ही मुक्ति है। इसी का अभ्यास करने के लिए प्राचीन काल में संन्यास लिया जाता था। अब वैसी मनोभूमि का निर्माण करने के लिए घर में रहकर भी वातावरण बनाया जा सकता है। वृद्धावस्था के साथ-साथ वैराग्य बढ़ना चाहिए और धीरे-धीरे इतनी निस्पृहता बढ़ानी चाहिए कि जीवन समाप्त होते समय किसी प्रकार की आकांक्षा शेष न रहे और बिना भय तथा दुख के देह छोड़ा जा सके। इसके लिए विश्वचिन्तन, ब्रह्मचिन्तन तथा आत्मचिन्तन करते रहना आवश्यक है और अपरिग्रही, तितीक्षायुक्त, तपस्वी जीवन बनाना भी उचित है। अपने परिवार की जैसी चिन्ता की जाती है वैसी ही प्राणिमात्र की करके परोपकार, परमार्थ एवं विश्व प्रेम से प्रेरित होकर जीवन चर्चा का क्रम चलते रहना चाहिए। इस प्रकार घर में रहते हुए भी उपनिषदों में बताई हुई संन्यास मनोभूमि को प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है।

गायत्री तपोभूमि —श्रीराम शर्मा आचार्य

ज्येष्ठ सुदी १० सं० २०१८

१०८ उपनिषद्

(ब्रह्मविद्या-खण्ड)

१०८ उपनिषद

ब्रह्मोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः, शांतिः शांतिः ।

ॐ ब्रह्म हम दोनों की एक साथ रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही सामर्थ्य प्राप्त करें, हमारा ज्ञान तेजस्वी हो, हम किसी से द्वेष न करें । ॐ शांति, शांति, शांति ।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम् । स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥ १ ॥

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस एकमेव तत् परब्रह्म विभातिनिर्वाणम् ॥ २ ॥

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ॥३॥

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः । हृदि

प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः ।। हृदि चैतन्येतिष्ठति । ४ ।
यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्य्रं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।। ५ ।।

शरीर में नाभि, हृदय, कंठ और ब्रह्मरंध्र—ये चार आत्मा के विशेष स्थान है, इनमें चार चरण वाला ब्रह्म प्रकाशमान होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी आत्मा की चार अवस्था हैं। इनमें से जाग्रत में ब्रह्मरूप में, स्वप्न में विष्णु रूप में, सुषुप्ति में, रुद्र रूप में और चौथा (तुरीय) अवस्था में अक्षर (परमात्मा) रूप में प्रकाशमान होता है। यह आत्मा स्वयं मन, इन्द्रिय और हाथ पैर आदि से रहित है और प्रकाशमान मानी जाती है ।। १ ।। इस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नही हैं, देवगण देवरूप मे नही हैं, वेद वेदरूप मे नही है, यज्ञ यज्ञरूप में नहीं है, माता मातारूप में नहीं हैं, पत्नी पत्नी रूप में नहीं है, चण्डाल चण्डालरूप में नहीं है, भील भील रूप में नहीं है, संन्यासी संन्यासीरूप में नही हैं और वानप्रस्थी वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदा एक ही रहकर निर्वाण स्वरूप में प्रकाशित होता है ।। २ ।। इस ब्रह्म में देवगण, ऋषि अथवा पितृगण सामर्थ्य नहीं रखते। वह ज्ञान से ही जाना जा सकता है और सर्व विद्या स्वरूप है ।। ३ ।। प्राणिमात्र के हृदय में समस्त देवता रहते है, हृदय से प्राण स्थित है और हृदय में ही प्राण और ज्योति है— इस प्रकार तीन स्वरूपों में परमात्मा रहता है। इसी तथ्य को सूचित करने के लिये तीन धागों वाला "यज्ञ-सूत्र" अथवा जनेऊ है, ऐसा उसके रहस्य को समझने वाले मानते हैं। "परमात्मा हृदय में चैतन्य रूप रहता है ।। ४ ।। (ऐसी सूचना देने वाला) यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह प्रथम प्रजापतिके साथ उत्पन्न हुआहै और आयुष्य देने वाला है- ऐसा समझ कर तू उत्तम और उज्वल यज्ञोपवीत धारण कर, यह यज्ञोपवीत तेरे लिये बलरूप और तेजरूप सिद्ध हो ।। ५ ।।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः ।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ७ ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥ ८ ॥
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वानयोगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥९॥
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
ते वै सूत्रविदो लोके ते यज्ञोपवीतिनः ॥ १० ॥

शिखा सहित मुण्डन करने के पश्चात् (अर्थात् संन्यासी होकर) ज्ञानी को बाह्य सूत्र (यज्ञोपवीत) को त्याग देना चाहिए। जिसको अविनाशी परब्रह्म कहा जाता है वही इस सूत्र के रूप में है, यह समझ कर उसी को हृदय में धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥ यज्ञोपवीत यह प्रकट करता है कि परब्रह्म हृदय में ही निवास करता है, इसी लिये उसे 'सूत्र' कहा जाता है। 'सूत्र' का अर्थ है परम-पद। इस सूत्र को जिसने जान लिया है वही ब्राह्मण वेद का पारगामी है। जिस प्रकार सूत के धागों में माला के दाने पिरोये जाते है उसी प्रकार परब्रह्म में यह समस्त विश्व पिरोया हुआ है, इसी से 'सूत्र' कहा जाता है। तत्व-द्रष्टा और योग-वेत्ता व्यक्तियों को इस सूत्र को (हृदय में) धारण करना चाहिये ॥ ८ ॥ उत्तम योग को ग्रहण करने वाला ज्ञानी पुरुष बाहरी सूत्र (जनेऊ) को त्याग दे। ब्रह्म स्वरूप हो जाना ही 'सूत्र' समझना चाहिये। इस 'सूत्र' को जो धारण करता है वही चैतन्य है। इस सूत्र को धारण करने से मनुष्य उच्छिष्ट (जूँठा) अथवा अपवित्र नहीं होता ॥ ९ ॥ ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के

हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र रहता है। ऐसे ही व्यक्ति 'सूत्र' के वास्तविक रूप को जानने वाले है और वे ही (सच्चे यज्ञोपवीत के) धारण करने वाले हैं ॥ १० ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥१२॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥१३॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥१४॥
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्विनं विदुः ॥१५॥

जो ज्ञान रूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले, और ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनको ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है ॥ ११ ॥ जिस पुरुष की अग्नि की शिखा के समान ज्ञान की ही शिखा होती है, उनके लिये दूसरी शिखा होती ही नहीं, और वे ही सच्चे शिखाधारी और ज्ञानी कहलाते है। इनके सिवाय अन्य लोग जो बाह्य केशों की चुटिया रखते हैं, वे शिखाधारी नहीं कहे जा सकते ॥ १२ ॥ जो ब्राह्मण आदि वैदिक कर्म के अधिकारी हैं, उन्हीं को यह सूत्र (जनेऊ) धारण करना चाहिये, क्योंकि इसको क्रिया का अङ्ग बतलाया गया है ॥ १३ ॥ ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि जिसकी शिखा ज्ञानमय है और यज्ञोपवीत भी ज्ञानमय है, उनका ब्राह्मणत्व ही संपूर्ण है ॥ १४ ॥ यह ज्ञान ही यज्ञोपवीत है, यही परम परायण है। इस लिए ज्ञानी पुरुष ही (सच्चे) यज्ञोपवीत धारी हैं, यज्ञरूप है और उन्ही को यजमान कहते हैं ॥ १५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१६॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१७॥
आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १८ ॥
तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ।१६।
ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि ।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥ २० ॥

परमात्मा एक, सब प्राणियों में गूढ़, सर्वव्यापी, सब भूतों का अन्तरात्मा, सबके कर्मों को नियम में रखने वाला, सब प्राणियों का निवास, साक्षी, चैतन्य स्वरूप, शुद्ध और निर्गुण है ॥ १६ ॥ यह अकेला ही सबको वश में रखने वाला, सब भूतों का अन्तरात्मा है और अपने एक ही रूप को अनेक प्रकार से प्रकट करता है। इसको जो बुद्धिमान मनुष्य अपने में स्थित देखते हैं, उनको नित्य शान्ति प्राप्त होती है—दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १७ ॥ आत्मा को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट (गुप्त) आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १८ ॥ जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी, प्रवाह में पानी, लकड़ी में अग्नि अप्रकट रूप से रहती हैं उसी प्रकार आत्मा भी हमारे भीतर छिपा हुआ है। वह आत्मा तप और सत्य द्वारा प्रकट होता है ॥ १६ ॥ ऊर्ण नाभि (एक कीड़ा) जिस प्रकार सूत्र को निकालता है और फिर खींच लेता है उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत और स्वप्नावस्था में आता और जाता है ॥ २० ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २१ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ २२ ॥
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥

जागृत अवस्था का वैश्वानर नामका आत्मा नेत्र में रहता है, स्वप्नावस्था का तैजस आत्मा कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति अवस्था का प्राज्ञ नाम का आत्मा हृदय में रहता है और तुरीय (चौथी, तीनों अवस्थाओं से परे का) अवस्था का आत्मा ब्रह्मरंध्र में रहता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ २१ ॥ जहाँ मनुष्य की वाणी और मन पहुँच नहीं सकते, उस आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त बन जाते हैं ॥ २२ ॥ दूध में घी के समान सर्वत्र व्याप्त आत्मा आत्मज्ञान और तप द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। यही उपनिषदों का परम पद है ॥ २३ ॥

—: ब्रह्मविद्योपनिषत् :—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु,माविद्विषावहै। ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः।

शान्तिः पाठ—ब्रह्म, हम दोनों की रक्षा करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ समर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें॥ ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—

प्रसादाद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्यायां ध्रुवाग्निः संप्रचक्षते॥ १॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा॥ २॥
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु॥ ३॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ ४॥
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

अब ब्रह्मविद्या उपनिषद को कहते हैं—अद्भुत कर्म करने वाले विष्णु रूप ब्रह्म की कृपा से ध्रुवाग्नि स्वरूप ब्रह्मविद्या का रहस्य कहते हैं॥ १॥ जिस ब्रह्म को ॐकार के एक अक्षर के रूप में ब्रह्म ज्ञानियों ने बतलाया है, उसके शरीर, स्थान और तीन काल का वर्णन

करता है ॥ २ ॥ उस ॐ में तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्नियाँ हैं, उस शिव स्वरूप अक्षर की तीन और आधी मात्रायें हैं ॥३॥ ब्रह्मज्ञानियों ने 'ॐ' का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्व और ब्रह्मा को बतलाया है ॥ ४ ॥ 'उ' कार का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाश तत्व और विष्णु को बतलाया है ॥ ५ ॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः ।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥ ७ ॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाःसोमसूर्याग्निरूपिणः ॥ ८ ॥
शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते ।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९ ॥
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा ।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्य भित्त्वा तथा परा ॥ १० ॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा च मूर्धनि ।
वरदा सर्वभूतानां सर्व व्याप्येव तिष्ठति ॥ ११ ॥

'म' कार का शरीर सामवेद, आह्वनीय अग्नि, स्वर्ग और परम ईश्वर को कहा है ॥ ६ ॥ शंख के मध्य का 'अ' कार सूर्य मण्डल में स्थित है, चन्द्र के समान 'उ' कार उसी चन्द्र में स्थित है। निर्धूम अग्नि और बिजली के 'म' कार है। इस प्रकार तीन मात्राओं को सूर्य' चन्द्र और अग्नि रूप जानना ॥ ७-८ ॥ जिस प्रकार दीपक की शिखा उसके ऊपर रहती है, इसी प्रकार प्रणव के ऊपर अर्धमात्रा की स्थिति को जानना ॥ ९ ॥ वह शिखा पद्मसूत्र के समान दिखलाई देती है। वह सूर्य के समान नाड़ी सूर्य को भेदन करके और बहत्तर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा में स्थित होने वाली और सबको वरदान देने वाली है ॥ १०-११ ॥

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥ १२ ॥
यस्मिन्स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते ।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १३ ॥
वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः ।
स जीवः प्राण इत्युक्तो वालाग्रशतकल्पितः ॥ १४ ॥
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम् ।
आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥ १५ ॥

कांसी के घण्टा का शब्द जिस प्रकार शान्ति में लय हो जाता है उसी प्रकार ॐ कार की योजना द्वारा समस्त इच्छाएँ शान्त हो जातीं हैं ॥ १२ ॥ शब्द जिसमें लय होता है उसे परब्रह्म कहा गया है। जो बुद्धि ब्रह्म में लीन हो जाती है वह अमृत स्वरूप कही गई है ॥ १३ ॥ वायु, प्राण तथा आकाश तीन प्रकार के जीव माने गए हैं, इस जीव का प्रमाण (आकार) बाल की नोंक के सौवां भाग कल्पित किया गया है ॥ १४ ॥ वह विश्व शुद्ध तत्व निर्मल स्वरूप नाभिस्थान में स्थित है। वह सूर्य के समान समस्त विश्व को प्रकाशित करके कल्याण रूप है ॥ १५ ॥

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।
नाभि देशाद्विनिष्क्रांतं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥ १६ ॥
तेनेदं निष्कलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा ।
कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥ १७ ॥
चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः ।
गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥ १८ ॥
एतस्मिन् वसते शीघ्रमविश्रामं महाखगः ।
यावन्निश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥ १९ ॥

वह जीव सदैव 'स' कार और 'ह' कार को जपता रहता है।

नाभिरंध्र से निकलता हुआ यह जप विषयों से रहित है ॥ १६ ॥ दूध से निकले हुये घी के समान इस निष्कल तत्व को पाँच प्राणायाम द्वारा जाने ॥ १७ ॥ मथने वाले दण्ड से दूध जिस प्रकार मथा जाता है उसी प्रकार चार कला से युक्त हृदय में स्थित तत्व को देह में भ्रमण कराया जाता है ॥ १८ ॥ तब इसमें 'महापक्षी' (जीव) शीघ्र वास करता है । जब श्वांस रुक जाता है तब जीव निष्कल हो जाता है ॥ १९ ॥

नभस्स्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् ।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥ २० ॥
स्व प्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥ २१ ॥
नाभिकन्दे समं कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥२२॥
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ।
अभिषिच्यामृतेनैव हंसहंसेति यो जपेत् ॥ २३ ॥
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।
एवं दिनेदिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥ २४ ॥
ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाऽभ्यासरतः पुमान् ।
बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥ २५ ॥

आकाश स्थित निष्कल तत्व का ध्यान करके वहभव-बन्धन से छूट जाता है । जो इस हृदयमें स्थित अनाहत ध्वनियुक्त,प्रकाशयुक्त चिदानन्द 'हंस' को जानता है,वह 'हंस' को जानता है,वह हंस कहा जाता है । जो ज्ञानीपुरुष रेचक और पूरक त्यागकर कुम्भकमें स्थिर रहकर प्राण और अपान को एक करके मस्तक में स्थित अमृत को सादर ध्यान पूर्वक पीता है, और जो नाभि के मध्य दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुये 'हंस-हंस' का जप करता है, उसे पृथ्वी पर रहते हुये जरा मरण, रोग आदि नहीं होते और सिद्धियों

और विभूतियों की प्राप्ति होती रहती है ॥ १९-२४ ॥ जो पुरुष सदैव इसके अभ्यास में लगा रहता है उसे ईश्वरत्व प्राप्त हो जाता है। अनेक पुरुष इसी एक मार्ग से नित्य पद को प्राप्त हो चुके हैं ॥ २५ ॥

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पावनीं पराम् ॥ २६ ॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया सह ।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥ २७ ॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः ।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥ २८ ॥
आत्मानमात्मना साक्षात्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥ २९ ॥
वेदशास्त्राणि चान्यामि पदपांसुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्ति सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥ ३० ॥

हंस रूपी विद्यामृत के समान जगत में नित्यत्व का अन्य साधन नहीं है। जो इस हंस नाम की परमेश्वरी महाविद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञान पूर्वक सेवा करनी चाहिये और गुरु जो कुछ शुभ अथवा अशुभ आदेश दे उसका पालन शिष्य को बिना विचारे संतोषयुक्त भाव से करना चाहिये। इस हंस-विद्या को गुरु से प्राप्त करके, आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार कर और निश्चल ब्रह्म को जान, वर्णाश्रम जाति आदि के सम्बन्ध और वेद तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से छोड़ दे और गुरुकी सदा सुश्रूषा करे, इससे मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है ॥ २६-३० ॥

गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३१ ॥
श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेतत्
तत्संशयो नात्र ततः समस्तम् ।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं
भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥ ३२ ॥

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः ।
आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः किमवस्थितः ॥ ३३ ॥
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥ ३४ ॥
तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवास्थितः ।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥ ३५ ॥

श्रुति में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि हैं, कोई अन्य नही है ॥ ३१ ॥ श्रुति का कथन निस्संदेह परमार्थ रूप ही है । श्रुति का विरोधी होने पर कुछ भी प्रमाण नही है । जो अप्रमाण होगा, वह अनर्थकारी (हानिकारक) होगा ॥ ३२ ॥ देह में स्थित को 'सकल' और देह से वर्जित को 'निष्कल' जानना । आप्त गुरु के उपदेश से विदित होने वाला यह तत्व सर्वत्र समभाव से स्थित है ॥ ३३ ॥ जो 'हंस हंस' बोलता है वह ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का रूप है । वह गुरु के उपदेश से सर्वत्र मुख वाले (व्याप्त) ब्रह्म को जान सकता है ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्पों में गन्ध रहता है वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर और भीतर वही ब्रह्म रहता है ॥ ३५ ॥

उल्काहस्तो यथाकश्चित् द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥ ३६ ॥
पुष्पवत्सकलं विद्याद्गन्धस्तस्य तु निष्कलः ।
वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥ ३७ ॥
निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।
उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥ ३८ ॥
सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा ।
एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥ ३९ ॥

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।
पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपठ्यते ॥ ४० ॥

जिस प्रकार उल्का (पलीते) के प्रकाश से द्रव्य को देखकर पलीते को त्याग देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान को भी त्याग दिया जाता है ॥ ३६ ॥ 'सकल' को पुष्प की तरह और उसकी गन्ध को 'निष्कल' की तरह माने, अथवा 'सकल' वृक्ष की तरह है और उसकी छाया निष्कल है ॥ ३७ ॥ इस तरह का निष्कल और सकल भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, कलायुक्त वस्तु उपाय या साधन है और उपेय या साध्य (ब्रम्ह) कला रहित है ॥ ३८ ॥ कला युक्त में सब भाव रहते हैं, पर कला रहित में कोई भाव नहीं है । एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के भेद से अर्ध मात्रा को परा माने, उसके ऊपर परात्पर है । 'सकल' पाँच दैवत वाला, पाँच प्रकार का जानना ॥ ४० ॥

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥ ४१ ॥
नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तस्यान्ते तु परं पदम् ।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥ ४२ ॥
देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशांगुलम् ।
तदन्तं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥ ४३ ॥
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
तथाऽपि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥ ४४ ॥
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम् ।
नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥ ४५ ॥

ब्रम्ह का स्थान हृदय है, विष्णु कण्ठ में रहते हैं, तालु में रुद्र और ललाट में महेश्वर का स्थान है ॥ ४१ ॥ नासाग्र में अच्युत को जानो, उसके अन्त में परमपद है । पर से पर और कुछ नहीं है,

ऐसा शास्त्रों का मत है ॥ ४२ ॥ उस देहातीत को तू नासाग्र से बारह अंगुल पर जान, उसका अन्त उसको जाने, वहां पर स्थित प्रभु सर्वत्र व्याप्त है ॥ ४३ ॥ चाहे मन अन्यत्र चला जाय और चाहे नेत्र अन्यत्र देखते रहें, तो भी योगियों का योग अवच्छिन्न भाव से चलता रहता है ॥ ४४ ॥ यह सबसे गुह्य रहस्य है। यही सर्वाधिक शुभ है, इससे बढ़कर और इससे शुभ और कुछ नहीं है ॥ ४५ ॥

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम् ।
गुह्याद्गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥ ४६ ॥
नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचनः ।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ॥ ४७ ॥
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत् ।
दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन ॥ ४८ ॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥ ४९ ॥
विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम् ।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥ ५० ॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्व का निर्णय करना चाहिये और गुह्य से गुह्य अत्यन्त गुह्यतम हो उसे प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करना चाहिये ॥ ४६ ॥ यह विद्या न तो पुत्र को देनी चाहिये न शिष्य को, यह उसीको देनी चाहिए जो गुरू का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्ति परायण रहे किसी अन्य को नही देना चाहिए। यदि कोई देगा तो देने वाला नरक जायगा और सिद्धि भी नही मिलेगी ॥ ४७-४८ ॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी कोई भी हो और वह कही भी रहता हो परम अक्षर तत्व को जानने वाला सदैव ज्ञानी ही होता है ॥ ४९ ॥ यदि कोई विषयी, विषयासक्त हो, तो भी इस शास्त्र के ज्ञान से वह शुभ गति को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्य पापैर्न लिप्यते।
चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ५१ ॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले।
चोदको दर्शयेन्मार्ग बोधकः स्थान मादिशेत् ॥ ५२ ॥
मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥ ५३ ॥
तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम्।
स्वयमेव कृतः पश्येद्देहे विन्दुं च निष्कलम् ॥ ५४ ॥
अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्।
कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥ ५५ ॥

ब्रह्महत्या के पाप और अश्वमेधादि के पुण्य से अलिप्त ही रहता है। प्रेरक, बोधक और मोक्षदाता श्रेष्ठ माने गये हैं। संसार में आचार्य इन्हीं तीन श्रेणियों के होते हैं। प्रेरक मार्ग दिखलाता है, बोधक स्थान पर आचरण कराता है, मोक्षदाता तो ऐसा परम तत्व है कि जिसको जानकर परमात्मा की प्राप्ति हो जातीहै। हे गौतम अब तू देह में प्रत्यक्ष भजन (पूजन) के विषय में सुन ॥ ५१-५३ ॥ इसके करने से मनुष्य शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है और स्वयम् अपनी देह के भीतर ही कला रहित विन्दु को देख लेता है ॥ ५४ ॥ दोनों अयनों के समान दिन रात्रि के अवसर पर प्रथम रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम को करें ॥ ५५ ॥

पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम्।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयाऽऽरभ्य चार्चयेत् ॥ ५६ ॥
सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम्।
ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा यथा ॥ ५७ ॥

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगमार्गकृतश्रमैः ।
यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥ ५८ ॥
योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत् ।
ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥ ५९ ॥
प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु सत्यकम् ॥ ६० ॥

पहले दोनों का उच्चारण करके यथाक्रम से पूजा करे । नमस्कार से, योग से और मुद्रा से पूजन करे ॥ ५६ ॥ हे वत्स ! सूर्य का ग्रहण प्रत्यक्ष भजन (पूजन) कहा है । जैसे जल में जल होता है वैसे ही सायुज्य पद ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है, उसमें इतने गुण हैं, इस लिये उद्योग पूर्वक सर्व दुःखों को दूर करने की चेष्टा करना ॥ ५८ ॥ सदैव इस मन्त्र का जप करते हुए योग रूप ध्यान द्वारा ज्ञान में तन्मयता को प्राप्त होना चाहिए ज्ञान से परमस्वरूप को प्राप्त हुआ जाता है ॥ ५९ ॥ प्राणियों की देह में अच्युत रूप हंस सदैव स्थित रहता है । हंस ही परम सत्य है और हंस ही शक्ति स्वरूप है ॥ ६० ॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥ ६१ ॥
सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः ।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥ ६२ ॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।
मातृकारहितं मन्त्रमादिश्यन्ते न कुत्रचित् ॥ ६३ ॥
हंसज्योतिरनूपम्यं देवमध्ये व्यवस्थितम् ।
दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ६४ ॥
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन् ।
निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनूपमम् ॥ ६५ ॥

हंस ही परम वाक्य है, हंस समस्त वेदों का सार है, हंस परम रुद्र है और हंस ही परात्पर है ।। ६१ ।। समस्त देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है । पृथ्वी से लेकर शिव तक और 'अ' कार से लेकर 'क्ष' तक हंस ही मात्राओं की तरह व्यवस्थित है । मात्रा रहित मंत्र का उपदेश कहीं नहीं दिया जाता ।। ६२-६३ ।। हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में स्थित है । दक्षिण की ओर मुख करके ज्ञान मुद्रा करे, और सदैव समाधि अवस्था में हंस का स्मरण करता रहे और निर्मल स्फटिक के समान उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करे ।। ६४-६५ ।।

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्राऽऽत्मरूपकम् ।
प्राणापानसमानाश्चोदानव्यानौ च वायवः ।। ६६ ।।
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यतः ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।। ६७ ।।
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यता ।
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ।। ६८ ।।
बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने ।
अकारे बह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ।। ६९ ।।
मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् ।
ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ।। ७० ।।

मध्य देश में ज्ञानमुद्रा रूप वाले परमहंस का ध्यान करे । प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पंच वायु और पंच कर्मेन्द्रियों से युक्त क्रिया शक्ति अधिक बल वाली होती है, और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनञ्जय और पांच ज्ञानेन्द्रियों से युक्त ज्ञानशक्ति बल वाली होती है । शक्ति के मध्य में अग्नि और नाभिचक्र में रवि स्थित रहता है ।। ६६-६८ ।। प्रथम बन्ध मुद्रा का अभ्यास करे, नासाग्र और अपने नेत्रों में 'अ' कार अग्नि कही गई है, हृदय स्थान में 'उ' कार में अग्नि होती है,और भ्रकुटियों के मध्य में 'य' कार में । इनमें प्राण शक्ति

को संलग्न करे। ब्रह्म ग्रन्थि 'अ' कार (नासाग्र और नेत्र) में तथा विष्णु ग्रन्थि हृदय में स्थित है ॥ ७० ॥

रुद्रग्रन्थिभ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ।
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थित: ॥ ७१ ॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्त: परात्पर: ।
कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तित: ॥ ७२ ॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशीवोर्ध्वगामिनी ।
त्रिकूटं त्रिविधं चैव गोलाखं निखरं तथा ॥ ७३ ॥
त्रिशङ्खं वज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।
कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम् ॥ ७४ ॥
साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।
सुमन: पवनारूढ: सरागो निर्गुणस्तथा ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रन्थि भ्रकुटियों के मध्य में स्थित है और वह अक्षर वायु द्वारा भेदन की जाती है। 'अ' कार में ब्रह्मा, 'उ' कार में विष्णु तथा 'य' कार में रुद्र का स्थान है, उसके अन्त में परात्पर है। कंठ का संकोचन करके नाड़ी आदि शक्ति को स्तम्भित करे। फिर जिह्वा को दबाकर सोलह आधार वाली, ऊर्ध्वगामिन, त्रिकूट वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरंध्र को जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी को तथा त्रिशङ्ख, वज्र, ओंकारयुक्त, ऊर्ध्व नाल, भ्रकुटियों की तरफ जाने वाली कुण्डली शक्ति और प्राणों को चलित करके शशि मण्डल का भेदन करे ॥ ७१-७४ ॥ नवों द्वारों को बन्द करके वज्र-कुम्भक का साधन करे। मनको निर्गुण बनाकर प्रसन्नता पूर्वक पवन पर आरूढ़ करे ।७५।

ब्रह्मस्थाने तु नाद: स्याच्छंकि न्यमृतवर्षिणी ।
षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥ ७६ ॥
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् ।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥ ७७ ॥

दृश्यं तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥ ७८ ॥
सहस्रमेकं द्वयुतं षट् शतं चैव सर्वदा ।
उच्चरन्पतितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९ ॥
पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥ ८० ॥

इससे ब्रह्म स्थान में नाद सुनाई पड़ने लगता है और शांति की नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है, षट-चक्र मण्डल का भेदन होने से ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशित हो जाता है ॥ ७६ ॥ सर्व भूतों में स्थित परम देव का सदैव पूजन करे । वे आत्मरूप, अन्धकार को मिटाने वाले, ज्ञान स्वरूप और व्याधि रहित हैं ॥ ७७ ॥ उन सर्व व्यापी निरञ्जन के दिव्य स्वरूप का दर्शन करके हंस-हंस, का जप करे । प्राणियों की देह में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा कहा जाता है । इससे नित्यप्रति इक्कीस हजार छः सौ जप करता हुआ हंस, 'सोऽहं' रूप हो जाता है ॥ ७८-७९ ॥ साधक को सदैव कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिंग का, शिखा स्थान में पश्चिम लिङ्ग का और भ्रकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिये ॥ ८० ॥

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम् ।
अव्रणोऽहमकायोह मनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥ ८१ ॥
अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः ।
अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥ ८२ ॥
अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् ।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥ ८३ ॥
अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः ।
अगोत्रोऽहमगात्रो हमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥ ८४ ॥

अद्रेश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः ।
अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम् ॥ ८५ ॥

मैं अच्युत हूँ, मैं अचिन्य हूँ, मैं तर्क से बाहर हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं प्राण रहित हूँ, मैं काया से रहित हूँ, मैं अङ्गों से और भय से रहित हूँ। मैं अशक्त हूँ, अरूप हूँ, स्पर्श से परे हूँ, अद्वय हूँ, रस से रहित, गन्ध रहित और अनादि अमृत रूप हूँ। मैं अक्षय हूँ, लिङ्ग रहित हूँ, अजर हूँ, कला रहित हूँ, अप्राण हूँ, अमूक, अचिन्त्य और अक्रिय हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य (पकड़ने में न आने वाला) हूँ, मैं निर्देश और लक्षण से रहित हूँ ॥ ८१-८४ ॥ मैं अदृश्य हूँ, मैं अवर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, अद्भुत हूँ, अश्रुत हूँ, अदृष्ट हूँ, अन्वेषण योग्य हूँ, और अमर हूँ ॥ ८५ ॥

अवायुरप्यनाकाशोऽतेजसोऽव्यभिचार्यहम् ।
अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥ ८६ ॥
अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोस्म्यगुणोऽस्म्यहम् ।
अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥ ८७ ॥
अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः ।
अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥ ८८ ॥
अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ताऽस्म्यहमद्वयः ॥ ८९ ॥
अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥ ९० ॥

मैं वायु रहित, आकाश रहित, तेज रहित, अव्यभिचारी, अज्ञेय, अजन्मा, अतिसूक्ष्म, अविकारी हूँ ॥ ८६ ॥ मैं सत्व, रज, तम रहित हूँ, गुणातीत हूँ, माया रहित हूँ, अनुभव स्वरूप हूँ, अनन्य और अविषय हूँ ॥ ८७ ॥ मैं अद्वैत हूँ, पूर्ण हूँ, न मैं बाहर हूँ और न मैं भीतर हूँ, मैं श्रोत्र रहित हूँ, अदीर्घ हूँ, अव्यक्त हूँ और व्याधि रहित हूँ ।८८। मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन और अविकारी हूँ, मैं इच्छा रहित हूँ,

अकर्ता और अद्वय हूँ ॥ ८९ ॥ मैं अविद्याजनित कार्य से हीन हूँ, अगोचर हूँ, अनल्प हूँ, शोक रहित हूँ, विकल्प रहित हूँ, विशेष अग्नि रहित हूँ ॥ ९० ॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥ ९१ ॥
आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः ।
आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥ ९२ ॥
ईशानोऽस्म्यहमी ड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः ।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥
केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।
गुहाशयोऽहं गोप्ताऽहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥ ९४ ॥
चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायान् ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥ ९५ ॥

मैं आदि, मध्य और अन्त से रहित हूँ, आकाश के सदृश्य हूँ, मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ, आनन्द चेतन घन हूँ ॥ ९१ ॥ मैं आनन्दामृत रूप हूँ, आत्म संस्थित हूँ, अन्तर हूँ, आत्मकाम हूँ और आकाश में परमात्मा परमेश्वर स्वरूप हूँ ॥ ९२ ॥ मैं ईशान हूँ, पूज्य हूँ, उत्तम पुरुष हूँ, उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा हूँ और पर से भी परे हूँ ॥ ९३ ॥ मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ, कारण का अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ और नेत्रों का नेत्र हूं ॥ ९४ ॥ चिदानन्द हूं, चेतना देने वाला हूं, चिद्घन और चिन्मय हूं, मैं ज्योतिर्मय हूं और ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति मैं हूं ॥ ९५ ॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्युतुर्योऽहं तमसः परः ।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥ ९६ ॥
नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥ ९७ ॥
निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्स्पृहोऽस्म्यहम् ।

निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥ ९८ ॥
पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।
परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥ ९९ ॥
परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः ।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥ १०० ॥

मैं अन्धकार में साक्षी रूप हूं, तुर्य का भी तुर्य हूं, अन्धकार से से परे दिव्य देव स्वरूप हूं, दुर्दर्श और दृष्टि का आधार ध्रुव हूँ ॥९६॥ मैं नित्य हूं, निर्दोष हूँ, निष्क्रिय और निरञ्जन हूं, निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूं ॥ ९७ ॥ मैं निर्विकार, सदैव पवित्र, निर्गुण, निस्पृह हूं, मैं इन्द्रियों से रहित नियन्ता हूं, निरपेक्ष और निष्कल हूँ ॥ ९८ ॥ मैं परमात्मा पुरुष हूँ, मैं परम पुराण हूं, पारावार हूं, प्राज्ञ हूं, प्रपञ्च का उपशम करने वाला हूँ ॥ ९९ ॥ मैं परामृत हूं, पुरातन पूर्ण प्रभु हूं, पूर्णानन्द, एक बोध रूप हूँ और एक रस रूप हूं ॥ १०० ॥

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥ १०१ ॥
बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥ १०२ ॥
विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यम् ॥ १०३ ॥
विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥१०४॥
सर्व भूतान्तरात्माऽहमहमस्मि सनातनः ।
अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥ १०५ ॥

मैं प्रज्ञाता, प्रशान्त, प्रकाश रूप, परमेश्वर हूं, द्वैत और अद्वैत से भिन्न मैं ही एक चिन्तन करने योग्य हूं ॥ १०१ ॥ मैं बुद्ध हूँ, मैं भूतकाल हूं, मैं प्रकाशस्वरूप भगवान हूं, मैं महाज्ञेय, महान महेश्वर हूँ ॥ १०२ ॥ मैं विमुक्त हूँ, विभु हूँ, श्रेष्ठ हूँ, वैश्वानर हूं, वासुदेव हूं

और विश्व का चक्षु स्वरूप हूँ ।। १०३ ।। मैं विश्व से अधिक हूं, मैं विश्व का कर्ता विशद विष्णु हूं, मैं शुद्ध, शान्त रूप हूं, शाश्वत हूं और शिव हूँ ।। १०४ ।। मैं सब भूतों का अन्तरात्मा हूं, सनातन हूं, मैं अपनी महिमा में स्थित होकर सदैव प्रकाशमान हूं ।। १०५ ।।

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ।
सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ।। १०६ ।।
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ।। १०७ ।।
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ।। १०८ ।।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः ।
सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ।। १०९ ।।
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम् ।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ।। ११० ।।
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते ।। इत्युपनिषत् ।।

मैं सबका अन्तर, ज्योति स्वरूप और सबका अधिपति हूं, समस्त भूत मुझमें ही रहते हैं, सर्वव्यापी सबका सम्राट हूं ।। १०६ ।। मैं ही सबका साक्षी, सर्वात्मा, सब भूतों का गुह्य आशय हूं, मैं सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक हूं और सब इन्द्रियों से रहित भी हूं ।। १०७ ।। मैं तीन स्थान से परे हूं, सब पर अनुग्रह करने वाला हूँ, मैं ही सबका प्रेमास्पद सच्चिदानन्द पूर्णात्मा हूं ।। १०८ ।। मैं सच्चिदानन्दमात्र हूँ और स्वयं प्रकाशमान चेतन घन रूप हूँ, मैं सत्य स्वरूप, सन्मात्र, सिद्धि और सर्वात्मा हूँ ।। १०९ ।। सबका आधार रूप, सत्य स्वरूप और स्व-आत्मा के बन्धन को हरने वाला हूँ, मैं सबको ग्रसने वाला सबको देखने वाला और सबका अनुभव रूप हूँ ।। ११० ।। जो इस प्रकार तत्व का ज्ञाता है वही पुरुष कहा जाता है ऐसा यह उपनिषद है ।।

।। ब्रह्मविद्या उपनिषद समाप्त ।।

तेजोबिन्दूपनिषत

ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवा वहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः ।

शांति पाठ—ब्रह्म हमारा दोनों (गुरु शिष्य) का साथ ही रक्षण करो, हमारा दोनों का पालन करो, हम दोनों साथ ही सामर्थ्य प्राप्त करें, हमारा दोनों का विद्याध्ययन तेजस्वी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांतिः, शांति,: शांतिः ।

प्रथम अध्याय

तेजोबिन्दुपरं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ।
अणुवं शांभवं शान्तं स्थूलसूक्ष्मपरं च यत् ॥ १ ॥
दुःखाढ्यं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
दुर्लभं तत्स्वयं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम् ॥ २ ॥
यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
निर्द्वन्दो निरहंकारो निराशीरपरिग्रहः ॥ ३ ॥
अगम्यागम कर्तायो गम्यागमन मानसाः ।
मुखे त्रीणि च विन्दति त्रिधामा हंस उच्यते ॥ ४ ॥
परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्त तन्द्री निराश्रयः ।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ ५ ॥

विश्व में और अपने हृदय में रहने वाले तेजरूप बिन्दु का ध्यान सबसे उत्तम है, क्योंकि यही परमात्मा का अणु स्वरूप, शांत, स्थूल, सूक्ष्म और परतत्व है ॥ १ ॥ इस मुक्त, अविनाशी स्वरूप के

दर्शन कठिन है, इसी लिये विद्वान और मुनियों को भी यह ध्यान स्वयमेव दुर्लभ है ॥ २ ॥ जिसका आहार नियमित हो, क्रोध रहित तथा सङ्ग रहित होकर जिसने इन्द्रियां जीती हों, राग द्वेषादि द्वन्द और अहंकार जिसके चले गये हों, साथ ही आशा तथा परिग्रह को जिसने तज दिया हो, वही मनुष्य इस ध्यान को कर सकता है ॥ ३ ॥ जो अगम्य स्त्री के साथ गमन नहीं करता, गम्य स्त्री के साथ गमन करने का भी जिसका मन नहीं होता, और मुख से भी तीन अक्षरों (ॐ) को जो उच्चारण करता रहता है, वह तीन धाम वाला 'हंस' कहलाता है ॥ ४ ॥ यह परम गुह्य वस्तु है ऐसा तुझे जानना चाहिये। जो आलस्य रहित और आश्रय रहित है, वही सौम्य स्वरूप की सूक्ष्मकला है और विष्णु का परम पद है ॥ ५ ॥

त्रिवक्त्रं त्रिगुणं स्थानं त्रिधातुं रूपवर्जितम् ।
निश्चलं निर्विकल्पं च निराकारं निराश्रयम् ॥ ६ ॥
उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातं पदाच्युतम् ॥ ७ ॥
अनानानन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
चिन्त्यमेवंविनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुव मच्युतम् ॥ ८ ॥
तद्ब्रह्मणस्तदध्यात्मं तद्विष्णोस्तत्परायणम् ।
अचिन्त्यं चिन्मयात्मानं यद्व्योम परमं स्थितम् ॥ ९ ॥
अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम् ।
न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च ॥ १० ॥

यह स्थान तीन मुख वाला, तीन गुणों वाला, तीन धातु वाला होने पर भी रूप रहित है, यह निश्चल, निर्विकल्प, निराकार और निराश्रय है ॥ ६ ॥ उपाधि रहित यह स्थान वाणी तथा मन से परे होकर अविषय है, स्वभाव रूप है, भाव से ग्रहण किया जाता है, तत्वों का समुदाय रूप नहीं है, लेकिन स्थान से पृथक है, तरह-तरह के आनन्दों

से रहित नहीं है, इसका देखा जा सकना कठिन है, मुक्त है, निर्विकार है। ऐसा यह अविचल, उपाधिमुक्त, सनातन तथा अच्युत स्थान चिन्तन करने लायक है ॥ ७-८ ॥ यही अध्यात्म है, यही व्यापक ब्रह्म का परम आश्रय स्थान है, अचिन्त्य है, चैतन्य मय स्वरूप वाला है और परमाकाश रूप में रहता है ॥ ९ ॥ यह अशून्य है तो भी शून्य स्वभाव वाला है, शून्य से भिन्न है, हृदय में ही रहता है और ध्यान, ध्याता तथा ध्येय रूप नहीं है, तो भी केवल ध्येय ही है ॥ १० ॥

सर्वं च न परं शून्यं न पर न परात्परम्।
अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न परं विदुः ॥ ११ ॥
मुनीनां संप्रयुक्तं च न देवा न परं विदुः।
लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्विषम् ॥ १२ ॥
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पक विकल्पकम्।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्ति ग्रन्थिसंचयम् ॥ १३ ॥
न भयं न सुखं दुःखं तथा मानवमानयोः।
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम् ॥ १४ ॥

यह सर्व स्वरूप है, पर नहीं है, शून्य नहीं है, द्वैत रूप नहीं है और अपर से पर नहीं है। ऐसे अचिन्त्य इस पद को किसी ने जाना नहीं है, इसे कोई सत्व नहीं जानता, पर नहीं जानता ॥ ११ ॥ मुनियों में वह भली प्रकार संयुक्त जान पड़ता है, देव उसे नहीं जानते, दूसरे भी इस पर-तत्व को नहीं समझते। लोभ, मोह, भय, गर्व, काम, क्रोध, पाप, ठंड, गर्म, भूख, प्यास, संकल्प और विकल्प उसमें नहीं है। ब्राह्मण कुल का अभिमान उसमें नहीं है, मुक्ति रूप गांठ का संचय भी नहीं है, भय नहीं है, मान मिलने से सुख, और अपमान होने से दुःख भी उसमें नहीं है। ऐसे भावों से रहित वह परब्रह्म ही ग्रहण करने योग्य हैं। ॥ १२-१४ ॥

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।

आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥ १५ ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥ १६ ॥
सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ १७ ॥
सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥ १८ ॥
त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ॥ १९ ॥
यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा जडैः ॥ २० ॥

(योग के ये अङ्ग हैं) यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, देह की समान स्थिति, दृष्टि की स्थिरता, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, आत्मध्यान और समाधि ॥ १५-१६ ॥ सब कुछ ब्रह्म है, ऐसा जान लेने पर इन्द्रियों के ऊपर स्वयमेव संयम प्राप्त हो जाता है, उसे यम कहते हैं। इसका बारम्बार अभ्यास करना ॥ १७ ॥ नियम पूर्वक एक ही प्रकार का विचार करना, तथा भिन्न-भिन्न प्रकार का विचार न करना, यह परम आनन्द रूप नियम है। विद्वान सावधानी पूर्वक इसका पालन करते हैं ॥ १८ ॥ त्याग ही बड़े आदमी के लिये भी पूजनीय है और वह तुरन्त मोक्ष दिलाने वाला होता है ॥ १९ ॥ 'जहां वाणी नहीं पहुँच सकती, ऐसे ब्रह्म को वाणी द्वारा किस प्रकार कहा जा सकता है' ऐसे विचार को लेकर जो मौन उत्पन्न होता है वही मौन है। ऐसा ही मौन योगियों को पसन्द आता है। इस लिये विद्वानों को सदा उसी का पालन करना चाहिये ॥ २० ॥

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥ २१ ॥

इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २२ ॥
आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥ २३ ॥
कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥ २४ ॥
सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशम् ॥ २५ ॥

जहाँ से वाणी पीछे लौट जाती है, उसको किस साधन से प्रकट किया जा सकता है ? अगर प्रपञ्च के विषय में कहना चाहें तो भी उसके लिये शब्द नही मिलते, ऐसे विचार से संपूर्ण मौन रहना, यह सहज मौन है । इसके सिवा वाणी का मौन तो अज्ञानियों का है, ब्रह्मवादियों के लिये यह उचित नही है ॥ २१-२२ ॥ जहां आदि में, अन्त में और मध्य में कोई लोक ही नही है और जिसके द्वारा यह समस्त व्याप्त है, वही (परमात्मा) निर्जन देश कहलाता है ॥ २३ ॥ जिसके नेत्रके एक पलक मारने में ब्रह्मादि सब भूतों की कल्पना बन जाती है,वह अखण्ड, अद्वैत, आनन्द स्वरूप (ब्रह्म) 'काल' शब्द से पुकारा जाता है ॥ २४ ॥ जहां सुख पूर्वक निरन्तर ब्रह्म चिन्तन हो सके उसी को 'आसन' समझना चाहिये, शेष आसन तो सुख को नाश करने वाले हैं ॥ २५ ॥

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
यस्मिन्सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥ २६ ॥
यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ॥ २७ ॥
अङ्गानां समता विद्यात्समे ब्रह्मणि लीयते ।
नो चेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥ २८ ॥

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ।। २६ ।।
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ।। ३० ।।

सब भूतों के आदि कारण, जगत के अधिष्ठान और अद्वैत ब्रह्म ही सिद्धि के योग्य हैं, इसी में सिद्धि पुरुषों ने सिद्धि प्राप्त की है, इस लिये उसे सिद्धासन कहा जाता है ।। २६ ।। जो सर्व लोक का मूल है, जिसके द्वारा चित्त का बन्धन हो सकता है, वही ब्रह्मवादियों द्वारा सदा सेवन करने योग्य मूलबन्ध है ।। २७ ।। सर्व स्वरूप ब्रह्म में जिसके द्वारा लीन हुआ जा सके, उसी को अङ्गों की समानता जानना । इसके अतिरिक्त सूखे पेड़ की-सी समानता अथवा सरलता को समानता नहीं कहा जा सकता ।। २८ ।। ज्ञानमय दृष्टि से जगत को ब्रह्ममय देखना यह परम उदार दृष्टि (की स्थिरता) है । नहीं तो नाक के अग्रभाग को देखती हुई दृष्टि स्थिर नहीं मानी जा सकती ।। २६ ।। जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का अभाव हो जाता है, उस ब्रह्म में ही दृष्टि को स्थिर करना चाहिये । इसके सिवाय नाक के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि को स्थिर कहना उपयुक्त नहीं है ।। ३० ।।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।। ३१ ।।
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ।। ३२ ।।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकं प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ।। ३३ ।।
विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।। ३४ ।।
यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ।। ३५ ।।

चित्त आदि समस्त वस्तुओं में ब्रह्म का दर्शन करनेसे समस्त वृत्तियों का जो निरोध हो जाता है, वह प्राणायाम कहलाता है ॥ ३१ ॥ जगत रूप प्रपंचों का निषेध, रेचक कहा जाता है, 'मैं ब्रह्म हूँ, ऐसी वृत्ति हो, यह पूरक कहा जाता है और फिर वृत्ति की निश्चलता होना कुम्भक है। ज्ञानियों का प्राणायाम ऐसा ही होता है। नहीं तो नाक दबाकर रखना तो अज्ञानियों का प्राणायाम है ॥ ३२-३३ ॥ सब विषय आत्म रूप ही हैं, ऐसा जानकर मन को उसनें से पीछे की तरफ खींच लिया जाय और चैतन्य में ही संतुष्ट रखा जाय तो यह प्राणायाम कहा जाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना ॥ ३४ ॥ जहां-जहां मन जाय, वहीं ब्रह्म का दर्शन करना और उसके द्वारा मनका स्थिर होना, यह धारणा है ॥ ३५ ॥

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः ॥ ३६ ॥
निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक्समाधिरभिधीयते ॥ ३७ ॥
इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत् ।
लक्ष्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं संभवेत्स्वयम् ॥ ३८ ॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।
तत्स्वरूपं भवेत्तस्य विषयो मनसो गिराम् ॥ ३९ ॥
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।
अनुसंधानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥ ४० ॥
लयस्तमश्च विक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता ।
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥ ४१ ॥

"मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी निराश्रय उत्तम वृत्ति में स्थित होना, यह परम आनन्ददायक विख्यात ध्यान है ॥ ३६ ॥ फिर ऐसी ही निर्विकार वृत्ति ब्रह्माकार बन जाय और तत्पश्चात् उस वृत्ति का भी विस्मरण

हो जाय, तो उसे उत्तम समाधि कहा जाता है ।। ३७ ।। इस अकृत्रिम आनन्द का वहाँ तक भली प्रकार अभ्यास करना चाहिये, कि जब तक मनुष्य का लक्ष्य अपने आप ही प्रत्यक् स्वरूप बनजाय ।। ३८ ।। इसके पीछे साधन रहित होकर वह मनुष्य सिद्ध योगीराज बनता है और उसको आत्म स्वरूप ही मन तथा वाणी का विषय हो जाता है ।।३९।। यह समाधि जब होने लगती है तो बलात्कार पूर्वक ऐसे विघ्न आते हैं— अनुसंधान रहित होने का भाव, आलस, भोगो की लालसा, लय, तमस्, विक्षेप, तेज, पसीना और शून्यता—ऐसे बहुत से विघ्न आते है, पर ब्रह्म कुशल व्यक्ति उनको छोड़ सकते है ।। ४०-४१ ।।

भाव वृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता ।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ।। ४२ ।।
ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनी पराम् ।
वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ।। ४३ ।।
ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये ।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ।। ४४ ।।
येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ।। ४५ ।।

किसी पदार्थ वाली वृति से यह पदार्थ रूप हो जाता है, शून्य वृत्ति मे रह जाने से शून्यता होती है, और ब्रह्मवृत्ति मे रहने से पूर्णता होती है । इस लिये इसी वृत्ति मे रह कर पूर्णता का अभ्यास करना ।। ४२ ।। जो इस परम पवित्र ब्रह्मवृत्ति का त्याग करके जीते है, वे मनुष्य व्यर्थ ही जीवित रहते है और पशु के समान है ।। ४३ ।। पर जो इस ब्रह्मवृत्ति को जानते है और जानकर वृद्धि करते हैं, वे सत्पुरुष धन्यवाद के पात्र है और त्रिभुवन मे वन्दनीय होते है ।। ४४ ।। जिनकी यह ब्रह्मवृत्ति लगातार वृद्धि को प्राप्त होती हुई परिपक्व होगई है, वे श्रेष्ठ ब्रह्मत्व को पाते है, पर अन्य जो केवल जिह्वा से बोलने वाले होते हैं वे ब्रह्मत्व को प्राप्त नही होते ।। ४५ ।।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥ ४६ ॥
निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ज्ञानमयीं बिना ।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥ ४७ ॥
कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
कारणं तत्त्वतो नश्येत्कार्याभावे विचारतः ॥ ४८ ॥
अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम् ।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानमतः परम् ॥ ४९ ॥
भावितं तीव्रयोगेन यद्वस्तु निश्चयात्मकम् ।
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥ ५० ॥
विद्वान्नित्यं सुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥ ५१ ॥ इति ॥

जो ब्रह्म की बातें करने में कुशल होते हैं, परन्तु ब्रह्मवृत्ति से रहित होते हैं और अतिशय रागी होते हैं, वे अज्ञानपन के कारण संसार में आते और जाते रहते है ॥ ४६ ॥ इस लिये ब्रह्मादि, सनकादि और शुक आदि की तरह योगी आधा क्षण भी ब्रह्ममय वृत्ति बिना नहीं रहते ॥ ४७ ॥ जिनकी वृत्ति में कारण ही कार्य बन जाता है और कार्य, कारण के रूप में परिवर्तित हो जाता है, जब वह तत्व रूप से विचार करते हैं तो उनको कार्य का अभाव हो जाता है, और तत्पश्चात कारण भी नाश को प्राप्त हो जाता है ॥ ४८ ॥ फिर ऐसे शुद्ध चित्तवृत्ति वाले मनुष्यों के सामने शुद्ध वस्तु ही प्रकट होती है, जिसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता । इस प्रकार अन्त में केवल ब्रह्मवृत्ति का ज्ञान ही शेष रहता है ॥ ४९ ॥ जिस वस्तु का निश्चयात्मक दृश्य रूप से पहले चिन्तन किया हो, उसी को फिर अदृश्यावस्था में ले जाकर ब्रह्माकार स्वरूप में चिन्तन करना । ऐसा करने से मनुष्य तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करके चैतन्यरस से पूर्ण बनी हुई बुद्धि के द्वारा नित्य सुख की स्थिति में निवास करता है ॥ ५० ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह कुमारः शिवं पप्रच्छाखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपमनुब्रूहीति । स होवाच परमशिवः ।

अखण्डैकरसं दृश्यमखण्डैकरसं जगत् ।
अखण्डैकरसं भावमखण्डैकरसः स्वयम् ॥ १ ॥
अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरसा क्रिया ।
अखण्डैकरसं ज्ञानमखण्डैकरसं जलम् ॥ २ ॥
अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं वियत् ।
अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ॥ ३ ॥
अखण्डैकरसं ब्रह्म चाखण्डैकरसं व्रतम् ।
अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसो ह्यजः ॥ ४ ॥
अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसो हरिः ।
अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥

फिर कार्तिक स्वामी ने शंकर से पूछा—"अखंड एक रस वाले, केवल मात्र चैतन्य स्वरूप का वर्णन सुनाइये।" तब परम शिव बोले—"दृश्य अखंड एक रस है, जगत अखंड एक रस है, भाव अखंड एक रस है और स्वयं भी अखंड एक रस है ॥ १ ॥ मंत्र अखंड एक रस है, क्रिया अखंड एक रस है, ज्ञान अखंड एक रस है और जल अखंड एक रस है ॥ २ ॥ पृथ्वी अखंड एक रस है, आकाश अखंड एक रस है, शास्त्र अखंड एक रस है और तीनों वेद अखंड एक रस है ॥ ३ ॥ ब्रह्म अखंड एक रस है, व्रत अखंड एक रस है, जीव अखंड एक रस है और अजन्मा परमात्मा अखंड एक रस है ॥ ४ ॥ ब्रह्मा अखंड एक रस है, विष्णु अखंड एक रस है, रुद्र अखंड एक रस है और मैं अखंड एक रस हूँ ॥ ५ ॥

अखण्डैकरसो ह्यात्मा अखण्डैकरसो गुरुः ।
अखण्डैकरसं लक्ष्यमखण्डैकरसं महः ॥ ६ ॥
अखण्डैकरसो देह अखण्डैकरसं मनः ।
अखण्डैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥ ७ ॥

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः ।
अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसं परम् ॥ ८ ॥

अखण्डैकरसं किंचिदखण्डैकरसं वरम् ।
अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति नास्तिषडानन ॥९॥

अखण्डैकरसान्नास्ति अखण्डैकरसान्न हि ।
अखण्डैकरसात्किंचिदखण्डैकरसादहम् ॥ १० ॥

आत्मा अखंड एक रस है, गुरु अखड एक रस है, लक्ष्य अखड एक रस है और तेज अखंड एक रस है ॥ ६ ॥ देह अखंड एक रस है, मन अखंड एक रस है, चित्त अखंड एक रस है और सुख अखंड एक रस है ॥ ७ ॥ विद्या अखंड एक रस है, निर्विकार आत्मा अखंड एक रस है; निर्विकार आत्मा अखड एक रस है, नित्य वस्तु अखंड एक रस है और परम तत्व अखंड एक रस है ॥ ८ ॥ जो कुछ है—वह अखंड एक रस है, सर्व से परे रहने वाला अखड एक रस है, और हे कार्तिक स्वामी अखंड एक रस से भिन्न कुछ नही है, कुछ भी नहीं है ॥ ९ ॥ अखंड एक रस सिवाय कुछ नही है, अखंड एक रस से रहित कुछ भी नहीं हैं, अखंड एक रस से भिन्न कुछ भी नही है, और मैं भी अखंड एक रस से पृथक नही हूँ ॥ १० ॥

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्डरूपकम् ।
अखण्डैकरसं वेद्यमखण्डैकरसो भवान् ॥ ११ ॥

अखण्डैकरसं गुह्यमखण्डैकरसादिकम् ।
अखण्डैकरसो ज्ञाता अखण्डैकरसा स्थितिः ॥१२॥

अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसः पिता ।
अखण्डैकरसो भ्राता अखण्डैकरसः पतिः ॥ १३ ॥
अखण्डैकरसं सूत्रमखण्डैकरसो विराट् ।
अखण्डैकरसं गात्रमखण्डैकरसं शिरः ॥ १४ ॥

अखण्डैकरसं चान्तरखण्डैकरसं बहिः ।

अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ॥ १५ ॥

स्थूल वस्तु अखंड एक रस है, सूक्ष्म वस्तु अखंड एक रस है, जानने योग्य अखण्ड एक रस है और तुम अखण्ड एक रस हो ॥ ११ ॥ गुह्य वस्तु अखंड एक रस है और अखण्ड आदि रस जिसका आदि है ऐसी है; जानने वाला अखण्ड एक रस है और स्थिति अखण्ड एक रस है ॥ १२ ॥ माता अखण्ड एक रस है, पिता अखण्ड एक रस है, भाई अखण्ड एक रस है और स्वामी अखण्ड एक रस है ॥ १३ ॥ सूत्रात्मा अखण्ड एक रस है, विराट अखण्ड एक रस है, अवयव अखण्ड एक रस हैं और माया अखण्ड एक रस है ॥ १४ ॥ भीतर का अखण्ड एक रस है, बाहर का अखण्ड एक रस है, पूर्ण वस्तु अखण्ड एक रस है और अखण्ड एक रस ही अमृत है ॥ १५ ॥

अखण्डैकरसं गोत्रमखण्डैकरसं गृहम् ।
अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसः शशी ॥ १६ ॥
अखण्डैकरसास्तारा अखण्डैकरसो रविः ।
अखण्डैकरसं क्षेत्रमखण्डैकरसा क्षमा ॥ १७ ॥
अखण्डैकरसः शान्त अखण्डैकरसो गुणः ।
अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥ १८ ॥
अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसः सखा ।
अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥ १९ ॥
अखण्डैकरसं राज्यमखण्डैकरसाः प्रजाः ।
अखण्डैकरसं तारमखण्डैकरसो जपः ॥ २० ॥

वेष अथवा नाम अखण्ड एक रस है, घर अखण्ड एक रस है, गुप्त रखने योग्य अखंड एक रस है और चन्द्रमा अखंड एक रस है ॥ १६ ॥ तारागण अखंड एक रस है, सूर्य

अखंड एक रस है। क्षेत्र अखंड एक रस है और क्षमा अखंड एक रस है ॥ १७ ॥ शांत रस अखंड एक रस है, गुण रहित अखंड एक रस है, साक्षी अखंड एक रस है, और मित्र अखंड एक रस है ॥ १८ ॥ बन्धु अखंड एक रस है, समान कहलाने वाला सखा अखंड एक रस है, राजा अखंड एक रस है और नगर अखंड एक रस है ॥ १९ ॥ राज्य अखंड एक रस है, प्रजा अखंड एक रस है, तारक मंत्र (ॐ) अखंड एक रस है और जप अखंड एक रस है ॥ २० ॥

अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।
अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरसं महत् ॥ २१ ॥
अखण्डैकरसं ज्योतिरखण्डैकरसं धनम् ।
अखण्डैकरसं भोज्यमखण्डैकरसं हविः ॥ २२ ॥
अखण्डैकरसो होम अखण्डैकरसो जयः ।
अखण्डैकरसः स्वर्गः अखण्डैकरसः स्वयम् ॥ २३ ॥
अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत् ।
चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ॥ २४ ॥
भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मात्रमेव हि ॥ २५ ॥

ध्यान अखंड एक रस है, स्थान अखंड एक रस है, ग्रहण करने योग्य अखंड एक रस है और बड़ा अखंड एक रस है ॥ २१ ॥ ज्योति अखंड एक रस है, धन अखंड एक रस, भोज्य पदार्थ अखंड एक रस हैं, और हवन करने के पदार्थ अखंड एक रस है ॥ २२ ॥ होम अखंड एक रस है, जप अखंड एक रस है, स्वर्ग अखंड एक रस है और स्वयं अखंड एक रस है ॥ २३ ॥ सब मात्र अखंड एक रस चैतन्य है, इस प्रकार विचार करना चाहिये। सब कुछ चैतन्य ही है, केवल चैतन्य ही परमतत्व और अखंड एक रस है ॥ २४ ॥ संसार से रहित सब कुछ चैतन्य मात्र और चैतन्य ही है। यह सब कुछ चैतन्य है और चैतन्य ही है ॥ २५ ॥

आत्मभावं च चिन्मात्रमखण्डैकरसं विदुः ।
सर्वलोकं च चिन्मात्रं त्वत्ता मत्ता च चिन्मयम् ॥ २६ ॥
आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।
यत्किंचिद्यन्न किंचिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ २७ ॥
अखंडैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥ २८ ॥
द्रव्यं कालं च चिन्मात्रं ज्ञानं ज्ञेयं चिदेव हि ।
ज्ञाता चिन्मात्ररूपश्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥ २९ ॥
संभाषणं च चिन्मात्रं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
असच्च सच्च चिन्मात्रमाद्यन्तं चिन्मयं सदा ॥ ३० ॥

आत्मभाव मात्र चैतन्य और अखण्ड एक रस है, ऐसा ज्ञानी जानते हैं, और सब लोक भी चैतन्य मात्र है, वैसे ही 'तू' और 'मैं' भी चैतन्य है ॥ २६ ॥ आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश जो कुछ है और नहीं है, वह सब कुछ चैतन्य ही है ॥ २७ ॥ जो कुछ भी चैतन्य है वह सब अखण्ड और एक रस है; और भूत, भविष्य तथा वर्तमान भी सब कुछ चैतन्य ही है ॥ २८ ॥ द्रव्य और काल मात्र चैतन्य है, ज्ञान तथा ज्ञेयमात्र चैतन्य है और ज्ञातामात्र चैतन्य रूप है, इस प्रकार सभी चैतन्यमय ही है ॥ २९ ॥ उत्तम भाषण मात्र चैतन्य है, जो जो कुछ है वह सब चैतन्य ही है, असत् और सत् मात्र चैतन्य है, और आदि तथा अन्त सदा चैतन्य है ॥ ३० ॥

आदिरन्तश्च चिन्मात्रं गुरुशिष्यादि चिन्मयम् ।
दृग्दृश्यं यदि चिन्मात्रमस्ति चेच्चिन्मयं सदा ॥ ३१ ॥
सर्वाश्चर्यं च चिन्मात्रं देहश्चिन्मात्रमेव हि ।
लिङ्गं च कारणं चैव चिन्मात्रान्न हि विद्यते ॥ ३२ ॥
अहं त्वं चैव चिन्मात्रं मूर्तामूर्तादि चिन्मयम् ।
पुण्यं पापं च चिन्मात्रं जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ॥ ३३ ॥

चिन्मात्रान्नास्ति संकल्पश्चिन्मात्रान्नास्ति वेदनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्त्रादि चिन्मात्रान्नास्ति देवता ।।३४।।
चिन्मात्रान्नास्ति दिक्पालाश्चिन्मात्राद्व्यवहारिकम् ।
चिन्मात्रात्परमं ब्रह्म चिन्मात्रान्नास्ति कोऽपि हि ।।३५।।

आदि-अन्त और गुरु-शिष्य चैतन्य मात्र है और यह जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब भी चैतन्य मात्र हैं ।। ३१ ।। सर्व आश्चर्यमात्र चैतन्य है, शरीर मात्र ही चैतन्य है, और लिंग शरीर तथा कारण शरीर भी चैतन्य से भिन्न नही है ।।३२।। मैं और तू मात्र चैतन्य है; मूर्त और अमूर्त आदि चैतन्य हैं, पुण्य तथा पाप मात्र चैतन्य है, और जीव मात्र चैतन्य स्वरूप शरीर वाला है ।। ३३ ।। संकल्प मात्र चैतन्य से भिन्न नहीं है; अनुभव ज्ञान मात्र चैतन्य से पृथक नही है, मंत्र वगैरह चैतन्य से अलग नही हैं और मात्र चैतन्य से अलग कोई देव नही है ।। ३४ ।। दिक्पाल मात्र चैतन्य से पृथक नही है; व्यवहार की सर्व वस्तु मात्र चैतन्य से अलग नही है, परम ब्रह्म मात्र चैतन्य से अलग नहीं है और मात्र चैतन्य से भिन्न कोई भी पदार्थ नही है ।। ३५ ।।

चिन्मात्रान्नास्ति माया च चिन्मात्रान्नास्ति पूजनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्तव्यं चिन्मात्रान्नास्ति सत्यकम् ।।३६।।
चिन्मात्रान्नास्ति कोशादि चिन्मात्रान्नास्ति वै वसु ।
चिन्मात्रान्नास्ति मौनं च चिन्मात्रान्नास्त्यमौनकम् ।।३७।।
चिन्मात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ।। ३८ ।।
यच्च यावच्च दूरस्थं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च भूतादि यच्च यावच्च लक्ष्यते ।। ३९ ।।
यच्च यावच्च वेदान्ताः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रान्नास्ति गमनं चिन्मात्रान्नास्ति मोक्षकम् ।।४०।।

माया मात्र चैतन्य से जुदी नही है, पूजन मात्र चैतन्य से अलग नही है, मंतव्य मात्र चैतन्य से भिन्न नही है और सत्य मात्र चैतन्य से अलग नही है ।। ३६ ।। खजाना आदि चैतन्य से अलग नहीं है, धनमात्र चैतन्य से पृथक नही है; मौनमात्र चैतन्य से भिन्न नही है, और अमौन मात्र भी चैतन्य से पृथक नही है ।।३७।। वैराग्य चैतन्य से पृथक नही है; सब कुछ चैतन्य ही है, जहां तक जो कुछ दिखाई देता है वह सब कुछ चैतन्य ही है ।। ३८ ।। जो जितनी दूर है, वह समस्त चैतन्य ही है और जो जितना भूतों का आदि जान पड़ता है, वह भी चैतन्य है ।। ३९ ।। जो जितना वेदान्त है, वह सब ही चैतन्य है; मात्र चैतन्य से भिन्न कोई गमन नहीं है और चैतन्य से भिन्न कोई छुड़ाने वाला नही है ।। ४० ।।

चिन्मात्रान्नास्ति लक्ष्यं च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
अखंडैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्न हि विद्यते ।। ४१ ।।
शास्त्रे मयि त्वयीशे च ह्यखंडैकरसो भवान् ।
इत्येकरूपकतया यो वा जानात्यहं त्विति ।। ४२ ।।
सकृज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यात्सम्यज्ज्ञाने स्वयं गुरुः ।। ४३ ।।

मात्र चैतन्य से पृथक कोई लक्ष्य नहीं है; सब कुछ चैतन्य ही है और अखण्ड एक रस वाला ब्रह्म चैतन्य से अलग नहीं है ।। ४१ ।। शास्त्र में, मेरे में, तेरे में और ईश्वर में तू ही अखण्ड एक रस रूप है; ऐसा जो एक रूपपन से जानता है, वही यह जानता है कि मैं सर्व स्वरूप हूँ ।। ४२ ।। ऐसे एक ही वार के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो जाती है और इस उतम ज्ञान के लिये पुरुष स्वयं ही गुरु है ।। ४३ ।।

।। दूसरा अध्याय समाप्त ।।

तृतीयोऽध्यायः

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति पप्रच्छ । स होवाच भगवान् परमशिवः ।

परंब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम् ।
केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥
केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाऽहमस्म्यहम् ।
सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशमयोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥
केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः ।
सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥
केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा ।
केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥ ५ ॥

कुमार कार्तिक स्वामी ने पिता शंकरजी से पूछा कि "आप मुझे आत्मा का अनुभव बतलाइये ।" तब परम शिव कहने लगे—"मैं केवल परम ब्रह्म स्वरूप हूँ, मैं परम आनन्द स्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञान रूप हूँ, मैं केवल परम परमात्मा हूँ ॥ १ ॥ मैं केवल शान्त रूप हूँ, मैं केवल चैतन्य रूप हूँ, मैं केवल नित्य रूप हूँ, मैं केवल शाश्वत सनातन हूँ ॥ २ ॥ मैं केवल सत्व रूप हूँ, "मैं" को छोड़कर मैं हूँ, सर्व से रहित रूप वाला हूँ, मैं चिदाकाशमय हूँ ॥ ३ ॥ मैं केवल तुर्य (चौथा) रूप हूँ, केवल तुर्य से परे हूँ, सदा चैतन्य रूप हूँ और ज्ञान तथा आनन्दमय हूँ ॥ ४ ॥ मैं केवल आकार रूप हूँ, मैं सदा शुद्ध स्वरूप हूँ, केवल ज्ञान रूप हूँ और केवल प्रिय स्वरूप हूँ ॥ ५ ॥

निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः ।
सदाऽसङ्गस्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥ ६ ॥

सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्रविग्रहः ।
अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यनन्तानन्दरूपवान् ॥ ७ ॥
सत्परानन्दरूपोऽस्मि चित्परानन्दमस्म्यहम् ।
अन्तरान्तररूपोऽहमवाङ्मनसगोचरः ॥ ८ ॥
आत्मानन्दस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा ।
आत्मारामस्वरूपोऽस्मि ह्यहमात्मा सदाशिवः ॥ ९ ॥
आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योतीरसोऽस्म्यहम् ।
आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाशसदृशोऽस्म्यहम् ॥१०॥

मैं निर्विकल्प स्वरूप हूँ, सदा इच्छाओं से रहित हूँ, निर्दोष हूँ, सदा संग रहित स्वरूप वाला हूँ, निर्विकार हूँ और अविनाशी हूँ ॥६॥ मैं सदा एक रस रूप हूँ, मात्र चैतन्य रूप शरीर वाला हूँ, अमाप रूप वाला हूँ और अखण्ड आनन्द रूप वाला हूँ ॥ ७ ॥ मैं सच्चे परम आनन्द रूप वाला हूँ, मै केवल चैतन्य और आनन्दमय हूँ, अन्तर के आन्तरिक रूप वाला हूँ, और मैं वाणी तथा मन का अविषय हूँ ॥८॥ मैं आत्मानन्द स्वरूप हूँ, मै सदा सत्व आनन्द हूँ, आत्माराम स्वरूप हूँ, और मैं सदा शिव आत्मा हूँ ॥ ९ ॥ मैं आत्मा का प्रकाश रूप हूँ, मै आत्म ज्योति रूप रस वाला हूँ, आदि अन्त मध्य रहित हूँ और मैं आकाश जैसा हूँ ॥ १० ॥

नित्यशुद्धचिदानन्दसत्तामात्रोऽहमव्ययः ।
नित्यबुद्धविशुद्धैकसच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥ ११ ॥
नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा ।
रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाशविग्रहः ॥ १२ ॥
भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा ।
सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥
देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा ।
चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥

सर्वदृश्यविहीनोऽहं दृग्रूपोऽस्म्यहमेव हि ।
सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा ॥ १५ ॥

मैं नित्य, शुद्ध, चैतन्य, आनन्द और केवल सत्ता रूप हूँ, मैं निर्विकार हूँ, नित्य ज्ञान वाला हूँ, अतिशय शुद्ध हूँ और केवल सच्चिदानन्द हूँ ॥ ११ ॥ मैं नित्य शेष रहा वस्तु रूप हूँ, सर्व से परे हूँ, सदा रूप रहित स्वरूप वाला हूँ और परम आकाश रूप शरीर वाला हूँ ॥ १२ ॥ मै भूमा (सबसे बड़ा) आनन्द स्वरूप हूँ, मैं सदा भाषा रहित हूँ, सब का अधिष्ठान रूप हूँ और सर्व काल मे चैतन्य प्राप्त हूँ ॥ १३ ॥ मै देहत्व से रहित हूँ, सर्वदा बिना चिन्ता वाला हूँ, चित्त की वृत्ति से भिन्न हूँ, सर्व काल में आत्मारूप एक रस वाला हूँ ॥ १४ ॥ मैं सर्व दृश्य से पृथक हूँ, मै दृष्टा रूप हूँ, सर्वदा पूर्ण रूप हूँ और सदा नित्य तृप्त हूँ ॥ १५ ॥

अहं ब्रह्मैव सर्वं स्यादहं चैतन्यमेव हि ।
अहमेवाहमेवास्मि भूमाकारस्वरूपवान् ॥ १६ ॥
अहमेव महानात्मा ह्यहमेव परात्परः ।
अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवत् ॥ १७ ॥
अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः ।
अहं कालत्रयातीत अहं वेदैरुपास्मितः ॥ १८ ॥
अहं शास्त्रेण निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।
मत्त्यक्तं नास्ति किंचिद्वा मत्त्यक्तं पृथिवी तु वा ॥१९॥
मयाऽतिरिक्तं यद्यद्वा तत्तन्नास्तीति निश्चिनु ।
अहं ब्रह्मास्मि सिद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ॥२०॥

मैं ब्रह्म ही हूँ, सर्व स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य ही हूँ, मैं ही हूँ, और सबसे बड़े से बड़ा आकाश रूप हूँ ॥ १६ ॥ मैं ही महान आत्मा हूँ, मैं ही पर से पर हूँ, मैं ही अन्य के समान जान पड़ता हूँ, मैं ही शरीर जैसा लगता हूँ ॥ १७ ॥ मैं शिष्य जैसा जान पड़ता हूँ, मैं

तीनों लोकों का आश्रय हूं, मै तीनों काल से पर हूँ और मैं ही वेदों द्वारा उपासना किया गया हूँ ॥ १८ ॥ मै शास्त्र द्वारा निर्णय किया गया हूं, मैं चित्त मै रहा हुआ हूं, मुझ से छोड़ा हुआ कुछ भी नही है अथवा मुझे छोड़ी हुई पृथ्वी ही है, मिट्टी ही बन जाती है ॥ १९ ॥ मेरे से पृथक जो कुछ है वह 'नहीं' हीहै ऐसा तू निश्चय समझ ले। 'मै' ब्रह्म हूँ, सिद्ध हूँ और सदा काल मे नित्य शुद्ध हूँ ॥ २० ॥

निर्गुणः केवलात्माऽस्मि निराकारोऽस्म्यहं सदा ।
केवलं ब्रह्ममात्रोऽस्मि ह्यजरोऽस्म्यमरोऽस्म्यहम् ॥२१॥
स्वयमेव स्वयं भामि स्वयमेव सदात्मकः ।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः ॥ २२ ॥
स्वयमेव स्वयं भुङ्क्ते स्वयमेव स्वयं रमे ।
स्वयमेव स्वयंज्योतिः स्वयमेव स्वयं महः ॥ २३ ॥
स्वस्यात्मनि स्वयं रंस्ये स्वात्मन्येव विलोकये ।
स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्ममात्रावशेषकः ॥ २४ ॥
स्वचैतन्ये स्वयं स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे ।
स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽन्यन्न चिन्तये ॥२५॥

मै केवल निर्गुण आत्मा हूं, मै सदा निराकार हूँ, केवल मात्र ब्रह्म हूँ, मैं अजर हूँ और अमर हूँ ॥ २१ ॥ मैं स्वयं ही स्वयं रूप मे प्रकाशित होता हूँ, मै स्वयं ही सदा आत्मा रूप हूँ, मैं स्वयं ही आत्मा में स्वस्वरूप में रहता हूँ और मै स्वयं ही परम गति रूप हूं ॥ २२ ॥ मै स्वयं स्वयं को ही जानता हूँ, मै स्वयं स्वयं के ही साथ खेलता हूँ, मै स्वयं ही स्वयं ज्योति हूँ और मै स्वयं ही स्वय प्रकाश हूँ ॥२३॥ मै स्वयं ही अपने स्वरूप मे खेलूंगा, अपनी ही आत्मा में मै देखता हूँ, अपनी ही आत्मा में मै सुख पूर्वक रहता हूँ और अपने आत्मा रूप मे ही मैं शेष रहा हूँ ॥ २४ ॥ मै अपने चैतन्य में आप ही रहूँगा, अपने आत्मा रूप राज्य में और सुख मे मै खेलता हूँ और अपने

आत्मा रूप सिंहासन पर बैठकर अपनी आत्मा से पृथक मैं चिन्तन नहीं करता ॥ २५ ॥

चिद्रूपमात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥ २६ ॥
सर्वदा सर्वशून्योऽहं सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि सर्वदा ॥२७॥
अहमेव हृदाकाशे चिदादित्यस्वरूपवान् ।
आत्मनाऽऽत्मनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽस्म्यहमव्ययः ॥ २८ ॥
एकसंख्याविमुक्तोऽस्मि नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।
आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥ २९ ॥
सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि परावरसुखोऽस्म्यहम् ।
सत्तामात्रस्वरूपोऽहं शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥ ३० ॥

मात्र चैतन्य रूप ब्रह्म ही सच्चिदानन्द और अद्वैत है, मैं ही आनन्दमय हूँ और मैं ही केवल ब्रह्म हूँ ॥ २६ ॥ मैं सर्वदा सब से शून्य हूँ, मैं सर्व का आत्मा और आनन्द युक्त हूँ, नित्य आनन्द स्वरूप मैं हूँ और सर्व काल में मैं आत्मा रूप में प्रकाशित होता हूँ ॥ २७ ॥ मैं ही हृदय में आकाश रूप हूँ; चैतन्यमय सूर्य स्वरूप से युक्त हूँ और मैं स्वयं ही आत्मा में आत्मा रूप से तृप्त हूँ, रूप रहित हूँ और अविनाशी हूँ ॥ २८ ॥ मैं एक संख्या से रहित हूँ, नित्य मुक्त स्वरूप वाला हू, आकाश से भी सूक्ष्म हूँ और मैं आदि तथा अन्त से रहित हूँ ॥ २९ ॥ मैं सर्व प्रकाश रूप हूँ, मैं पर तथा अपर सुख हूँ, मैं केवल सत्ता स्वरूप हूँ और शुद्ध मोक्ष रूप स्वरूप वाला हूँ ॥ ३० ॥

सत्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम् ।
विज्ञानमात्ररूपोऽहं सच्चिदानन्दलक्षणः ॥ ३१ ॥

ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचन ।
तदेवाहं सदानन्दं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥ ३२ ॥
त्वमित्येतत्तदित्येतन्मत्तोऽन्यन्नास्ति किंचन ।
चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहमहमेव परः शिवः ॥ ३३ ॥
अतिभावस्वरूपोऽहमहमेव सुखात्मकः ।
साक्ष्यवस्तुविहीनत्वात्साक्षित्वं नास्ति मे सदा ॥ ३४ ॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वादहमात्मा सनातनः ।
अहमेवादिशेषोऽहमहंशेषोऽहमेव हि ॥ ३५ ॥

मै सत्य आनन्द स्वरूप हूँ, मै ज्ञान तथा आनन्दमय हूँ, मैं केवल विज्ञान रूप हूँ और सच्चिदानन्द रूप लक्षण वाला हूँ ॥ ३१ ॥ यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नही है । यही सदा आनन्द रूप सनातन ब्रह्म मै ही हूँ ॥ ३२ ॥ 'तू' और 'वह' ये दोनों मेरे से अलग कुछ भी नही है मैं ज्ञान तथा चैतन्य स्वरूप हूँ और मैं ही परम शिव हूँ ॥ ३३ ॥ मै सब से परे रहने वाला पदार्थ रूप हूँ, मैं ही सुख स्वरूप हूँ और मैं साक्षी रूप वस्तु से रहित हूँ, इससे मुझ में साक्षीपन सर्वकाल में नहीं है ॥ ३४ ॥ केवल मात्र ब्रह्मपन से मैं सनातन आत्मा हूँ और मैं ही अहि रूप में शेष रहता हूँ, मैं ही शेष रूप हूँ ॥ ३५ ॥

नामरूपविमुक्तोऽहमहमानन्दविग्रहः ।
इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वभावस्वरूपकः ॥ ३६ ॥
बन्धमुक्तिविहीनोऽहं शाश्वतानन्दविग्रहः ।
आदिचैतन्य रूपोऽहमखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥ ३७ ॥
वाङ्मनोऽगोचरश्चाहं सर्वत्र सुखवानहम् ।
सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं भूमानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥ ३८ ॥
सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं परामृतरसोऽस्म्यहम् ।
एकमेवाद्वितीयं सद्ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥ ३९ ॥

सर्वशून्यस्वरूपोऽहं सकलागमगोचरः ।
मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं निर्वाणसुखरूपवान् ॥ ४० ॥

मैं नाम तथा रूप से रहित हूँ, मैं आनन्द रूप शरीर वाला हूँ, मैं इन्द्रियों के अभाव रूप हूं, और सर्व पदार्थ रूप हूं ॥ ३६ ॥ मैं बन्धन तथा मोक्ष से रहित हूँ, सनातन आनन्द रूप शरीर वाला हूँ, मै केवल आदि चैतन्य हूँ और मैं अखण्ड एक रस हूँ ॥ ३७ ॥ मैं वाणी तथा मन का अविषय हुँ, मैं सर्वत्र सुख वाला हूँ और सर्वत्र पूर्ण रूप हूँ और मैं अतिशय अधिक आनन्दमय हूँ ॥ ३८ ॥ मैं सर्वत्र तृप्त रूप हुँ, मैं परम अमृत का रस हूँ और मै ही एक अद्वितीय ब्रह्म हूँ, इसमें संशय नही ॥ ३९ ॥ मै सर्वत्र शून्य स्वरूप हूं, सकल शास्त्रो का विषय हूं, मै मुक्त हूं, मोक्ष रूप हूं और निर्वाण के सुख स्वरूप वाला हूं ॥ ४० ॥

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।
तुरीयातीतरूपोऽहं निर्विकल्पस्वरूपवान् ॥ ४१ ॥
सर्वदा ह्यजरूपोऽहं नीरागोऽस्मि निरञ्जनः ।
अहं शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ।४२।
ओङ्कारार्थस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयोऽस्म्यहम् ।
चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ।४३।
न हि किंचित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान् ।
निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ।४४।
न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान् ॥ ४५ ॥

मै सत्य तथा विज्ञान मात्र हूं मै मात्र सत् और आनन्दयुक्त हूं; मैं तुरीय से पर स्वरूप वाला हूं और निर्विकल्प स्वरूप वाला हूं

॥ ४१ ॥ मैं सर्वकाल में अजन्मा रूप हूँ, एक रहित हूँ, निरंजन हूँ, मैं शुद्ध हूँ, ब्रह्म हूँ, नित्य हूँ और मै प्रभु हूँ ॥ ४२ ॥ मैं ॐकार के अर्थ स्वरूप हूँ, निष्कलङ्कमय हूँ, चैतन्य के आकार स्वरूप हूँ और मैं 'मै' नहीं हूँ, मैं 'वह' नही हूँ ॥ ४३ ॥ मैं कोई स्वरूप नही हूँ, व्यापार रहित स्वरूप वाला हूँ, बिना अंश के हूँ; आभास रहित हूँ, और मैं मन नही हूँ तथा इन्द्रिय नहीं हूँ ॥ ४४ ॥ मैं बुद्धि नहीं हूँ, विकल्प नहीं हूँ, देह आदि तीन वाला मैं नही हूँ, मैं जागृति नही हूँ, स्वप्न नहीं हूँ और सुषुप्ति स्वरूप वाला भी नही हूँ ॥ ४५ ॥

न तापत्रयरूपोऽहं नेषणात्रयवानहम् ।
श्रवणं नास्ति मे सिद्धेर्मननं च चिदात्मनि ॥ ४६ ॥
सजातीयं न मे किंचिद्विजातीयं न मे क्वचित् ।
स्वगतं च न मे किंचिन्न मे भेदत्रयं क्वचित् ॥ ४७ ॥
असत्यं हि मनोरूपमसत्यं बुद्धिरूपकम् ।
अहंकारमसद्धीति नित्योऽहं शाश्वतो ह्यजः ॥ ४८ ॥
देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा ।
गुणत्रयमसद्विद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥ ४९ ॥
श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत्सदा ।
शास्त्रं सर्वमसद्विद्धि ह्यहं सत्यं चिदात्मकः ॥ ५० ॥

मैं तीन ताप रूप नहीं हूँ, तीन ऐषणाओं वाला नहीं हूँ, मैं न सिद्धि का श्रवण करता हूँ और न चिदात्मा का मनन करता हूँ ॥ ४६ ॥ मेरा कोई सजातीय नहीं है और मेरा कोई विजातीय भी नहीं है, मेरा कोई स्वागत नहीं है और मेरे तीन भेद नहीं है ॥ ४७ ॥ मन का रूप असत्य है, बुद्धि का रूप असत्य है, अहङ्कार असत् है, पर मैं नित्य हूँ, सनातन हूँ और अजन्मा हूँ ॥ ४८ ॥ तुझे तीनों देहों को असत् समझना चाहिये, तीनों कालों को सदा असत् जानना और तीनों गुणों को असत् मानना । केवल मैं ही सत्य स्वरूप

पवित्र हूँ, ऐसा तुझे जानना ।। ४९ ।। जो कुछ भी तूने सुना है उसको मिथ्या जानना, वेदों के असत् मानना, सर्व शास्त्रों को असत् जानना और मैं ही सत्य और चैतन्यमय हूँ ऐसा समझना ।। ५० ।।

मूर्तित्रयमसद्विद्धि सर्वभूतमसत्सदा ।
सर्वतत्त्वमसद्विद्धि ह्यहं भूमा सदाशिवः ।। ५१ ।।
गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मन्त्रमसत्ततः ।
यद्दृश्यं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ।। ५२ ।।
यच्चिन्त्यं तदसद्विद्धि यन्न्याय्यं तदसत्सदा ।
यद्धितं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ।। ५३ ।।
सर्वान्प्राणीनसद्विद्धि सर्वान्भोगानसत्त्विति ।
दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि ओतं प्रोतमसन्मयम् ।। ५४ ।।
कार्याकार्यमसद्विद्धि नष्टं प्राप्तमसन्मयम् ।
दुःखादुःखमसद्विद्धि सर्वासर्वमसन्मयम् ।। ५५ ।।

तीनों मूर्तियों को तू झूँठी जान । सर्व भूतों को सदा मिथ्या समझ, सब तत्त्वों को झूंठा मान और मैं ही सबसे अधिक सदा शिव हूँ ऐसा तू समझ ।। ५१ ।। गुरु शिष्य को तू मिथ्या मान, इसके पश्चात् गुरु-मंत्र को मिथ्या जान, और जो कुछ दिखाई देता है वह मिथ्या है ऐसा तू जान, पर मुझको मिथ्या मत मानना ।। ५२ ।। जो चिन्तन किया जाता है उसे तू मिथ्या मानना, जो कुछ न्यायानुसार है उसे सदा मिथ्या जानना और जो हितकारी है उसे भी मिथ्या मानना, पर मुझे वैसा मिथ्या न मानना ।। ५३ ।। सर्व प्राणों को मिथ्या मानना, सर्व भोगों को झूंठा जानना, देखा हुआ और सुना हुआ सब मिथ्या जानना और जो ओत-प्रोत है उसे भी असत समझ लेना ।। ५४ ।। कार्य और अकार्य को झूँठा जानना, प्राप्त हुये और नाश हुये को मिथ्या मानना, दुःख और सुख को झूंठा मानना और सर्व तथा असर्वको असत्य मानना ।। ५५ ।।

पूर्णापूर्णमसद्विद्धि धर्माधर्ममसन्मयम् ।
लाभालाभावसद्विद्धि जयाजयमसन्मयम् ॥ ५६ ॥
शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत्सदा ।
रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसन्मयम् ॥ ५७ ॥
गन्धं सर्वमसद्विद्धि सर्वाज्ञानमसन्मयम् ।
असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ॥ ५८ ॥
असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि ।
स्वात्ममन्त्रं सदा पश्येत्स्वात्ममन्त्रं सदाभ्यसेत् ॥ ५९ ॥

पूर्ण तथा अपूर्ण को मिथ्या मानना, धर्म और अधर्म को असत्य मानना, लाभ तथा अलाभ को असत् जानना और जय तथा पराजय को असत्य मानना ॥ ५६ ॥ समस्त शब्द को झूठा जानो, सर्व स्पर्श से मिथ्या मानो, सब रूपों को झूठा जानो और सब रसों को असत्मय समझो ॥ ५७ ॥ सब गन्ध को तू असत्मय जान, सर्व अज्ञान को असत्य मान, सब कुछ सदा असत् है; संसार ने जो उत्पन्न किया है वह सब झूठा है ॥ ५८ ॥ सर्व गुण झूठे हैं, मात्र मैं ही सत्य हूँ । अपने आत्मा रूप मंत्र का सदा दर्शन करना और अपने आत्मा रूप मंत्र का सदा अभ्यास करना ॥ ५९ ॥

अहं ब्रह्मास्मिमन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत् ॥ ६० ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैतदुःखं विनाशयेत् ॥ ६२ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदबुद्धिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिन्तादुःखं विनाशयेत् ॥ ६३ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबन्धं विनाशयेत् ॥ ६४ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन्विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वशोकं विनाशयेत् ॥ ६५ ॥

"मैं ब्रम्ह हूं" यह मन्त्र दृश्य पापों का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मंत्र अन्य मंत्रों का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र देह के दोषों का नाश करता है, "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र जन्मों के पापों का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र मृत्यु के पाश का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र द्वैत के दुःख का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र भेद बुद्धि का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र चिन्ता के दुःखों का नाश करता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र बुद्धि रूप व्याधि का नाश करता है, 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र चित्त रूप बन्धन का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र सर्व व्याधिओं का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र सर्व शोक का नाश करता है ॥ ६०-६५ ॥

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्नाशयेत्क्षणात् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोधवृत्तिं विनाशयेत् ॥ ६६ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥ ६७ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ॥ ६८ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्मलोकजयप्रदः ॥ ६९ ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमप्रतर्क्यसुखप्रदः ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमजडत्वं प्रयच्छति ॥ ७० ॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरमर्दनः ।
अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्यगिरीन्हरेत् ॥ ७१ ॥

अहं ब्रह्मास्मि चक्रोऽयमनात्मत्वासुरान्हरेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वांस्तान्मोक्षयिष्यति ॥७२॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति ।
सप्तकोटिमहामन्त्रं जन्मकोटिशतप्रदम् ॥ ७३ ॥
सर्वमन्त्रान्समुत्सृज्य एतन्मन्त्रं समभ्यसेत् ।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नास्ति संदेहमण्वपि ॥ ७४ ॥

"मैं ब्रम्ह हूं" यह मन्त्र काम आदि का क्षणमात्र में नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र क्रोध की शक्ति का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूं' यह मन्त्र चित्त की वृत्ति का नाश करता है, 'मैं ब्रम्ह हूं' यह मन्त्र सङ्कल्प आदि का नाश करता है, 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र करोड़ों दोषों का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र सर्व तेजों का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र आत्मा के अज्ञान का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र आत्मा रूप लोक को विजय कराके प्राप्त करा देता है; "मैं ब्रम्ह हूँ" यह मन्त्र ज्ञानीपन प्रदान करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र अनात्मा रूप असुर का नाश करता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र अनात्मा रूपी पर्वतों के लिये वज्र बन कर उनको तोड़ डालता है; 'मैं ब्रम्ह हूँ। यह मन्त्र इसका जप करने वाले सब लोगों को संसार से छुड़ा देगा ॥ ६६-७२ ॥ 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र ज्ञान का आनन्द देता है और 'मैं ब्रम्ह हूँ' यह मन्त्र सात करोड़ महामन्त्र रूप है और करोड़ों जन्मों को काट डालता है ॥ ७३ ॥ सब मन्त्रों को त्याग कर इसी मन्त्र का अभ्यास करना; जिससे मनुष्य तुरन्त ही मोक्ष पाता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ ७४ ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कुमारः परमेश्वरं पप्रच्छ जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयोः स्थिति-मनुब्रूहीति । स होवाच परः शिवः ॥

चिदात्माऽहं परात्माऽहं निर्गुणोऽहं परात्परः ।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १ ॥
देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम् ।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २ ॥
आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनोऽस्म्यहम् ।
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः ।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ३ ॥
यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते ।
चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ॥ ४ ॥
सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्मावशेषकः ।
आनन्दरतिरव्यक्तः परिपूर्णश्चिदात्मकः ॥ ५ ॥
शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः ।
नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः ॥ ६ ॥

कुमार कार्तिक स्वामी ने परमेश्वर शङ्कर से पूछा कि "जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त की स्थिति आप बताइये।" तब परम शिव कहने लगे—"मैं चिदात्मा हूँ, परमात्मा हूँ, निर्गुण हूँ और पर से भी पर हूँ, इस प्रकार जो आत्मा रूप में ही स्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १ ॥ मैं तीनों देह से भिन्न हूँ; मैं शुद्ध चैतन्य हूँ और मैं ब्रम्ह हूँ, ऐसा जिसके अन्तर में रहा करता है, वह जीवन्मुक्त है ॥ २ ॥ मैं आनन्द घन रूप हूँ; मैं परमानन्द घन हूँ, ऐसा ज्ञान हो जाने से जिसका देह आदि से सम्बन्ध नहीं रहता; जिसको 'मैं ब्रम्ह हूँ' ऐसा निश्चय हो गया हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो,

वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।। ३ ।। जिसमें कुछ भी 'अहम्' का भाव नहीं है; जो केवल चैतन्य रूप में स्थिति करता है; जिसके अन्तर में मात्र चैतन्य ही रहता और इससे जिसका स्वरूप एक मात्र चैतन्य जैसा बन गया हो, जो सर्वत्र पूर्ण रूप आत्मा बन गया हो, सर्वत्र आत्मा रूप शेष रहा हो, आनन्द में ही रहता हो, स्पष्ट जान पड़ता हो, परिपूर्ण बना हो, चैतन्य स्वरूप हो गया हो, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा वाला हो, सर्व संग से रहित हुआ हो, नित्य आनन्द रूप होकर प्रसन्न आत्मा वाला हो, अन्य की चिन्ता से रहित हो, और दूसरा कुछ है ही नहीं ऐसा जो गिनता हो, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ।। ४-६ ।।

> किंचिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
> न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहंकारो न चेन्द्रियम् ।। ७ ।।
> न मे देहः कदाचिद्वा न मे प्राणादयः क्वचित् ।
> न मे माया न मे कामो न मे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ।।८।।
> न मे किंचिदिदं वापि न मे किंचित्क्वचिज्जगत् ।
> न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः ।। ९ ।।
> न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः ।
> न मे जाग्रन्न मे स्वप्नं न मे कारणमण्वपि ।। १० ।।
> न मे तुरीयमिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ।
> इदं सर्वं न मे किंचिदयं सर्वं न मे क्वचित् ।। ११ ।।

चित्त मेरा नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, अहङ्कार मेरा नही है, इन्द्रिय मेरी नहीं है; देह मेरा नहीं है, प्राण आदि कभी भी मेरा नहीं है; मुझे माया नहीं है, मुझे काम नहीं है, मुझे क्रोध नहीं है, मैं सबसे परे हूँ, यह कुछ भी मेरा नही है, जगत में कहीं भी कोई भी मेरा नहीं है, मुझे दोष नहीं है, मुझे लिंग या चिन्ह नहीं है,

मुझे नेत्र नहीं हैं, मन मेरा नही है, कान मेरे नही हैं, नाक मेरी नही है, जीभ मेरी नही है, हाथ मेरा नही है, मुझे जाग्रत नही है, मुझे स्वप्न नही है, मुझे कारण शरीर नही है, मुझे चौथी अवस्था भी नाम मात्र को नही है, ऐसा जो समझता है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। यह सब कुछ मेरा नही है, सर्वत्र कही भी मेरा कोई नही है ।। ७-११ ।।

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः ।
न मे स्नानं न मे संध्या न मे दैवं न मे स्थलम् ।। १२ ।।
न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम् ।
न मे बन्धं न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः ।। १३ ।।
न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्यं न मे शुभम् ।
न मे जीव इति स्वात्मा न मे किंचिज्जगत्त्रयम् ।।१४।।
न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः ।
न मेऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे रहः ।। १५ ।।

काल मेरा नही है, देश मेरा नही है, वस्तु मेरी नही है, बुद्धि मेरी नही है, मेरे लिये स्नान नही है, सन्ध्या नही है, मेरा कोई देव नही है, मेरा कोई स्थल नही है, मेरा कोई तीर्थ नहीं है, मेरी सेवा नहीं है, मेरा ज्ञान नही है, मेरा पद नहीं है, मेरा बन्धन नही है, मेरा जन्म नही है, मेरा वाक्य नहीं है, मेरे लिये सूर्य नही है, मेरा पुण्य नही है, मेरा पाप नही है, मेरा शुभ नहीं है, मेरा जीव नही है, पर मैं स्वयं ही आत्मा हूं, इन तीनों लोकों में कोई भी मेरा नही है ।। १२-१४ ।। मेरा मोक्ष नही हैं मेरा द्वैत नहीं है, वेद मेरे लिये नही है, मेरे लिये कोई विधि नही है, कोई मेरे पास नहीं है, दूर नही है, मुझे बोध नहीं है, मेरे लिये एकान्त नही है, ।। १५ ।।

न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे हीनो न चाधिकः ।

न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न चन्द्रमाः ॥ १६ ॥
न मे पृथ्वी न मे तोयं न मे वायुर्न मे वियत् ।
न मे वह्निर्न मे गोत्रं न मे लक्ष्यं न मे भवः ॥ १७ ॥
न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मो मनुः ।
न मो शीतं न मो चोष्णं न मो तृष्णा न मो क्षुधा ॥१८॥
न मो मित्रं न मो शत्रुर्न मो मोहो न मो जयः ।
न मो पूर्वं न मो पश्चान्न मो चोर्ध्वं न मो दिशः ॥ १९ ॥

मेरा गुरु नही है, मेरा शिष्य नहीं है, मुझसे कोई हल्का नहीं है, मुझसे कोई भारी नहीं है, मेरे लिये ब्रह्म नहीं है, मेरे विष्णु नहीं है, मेरे रुद्र नही है, चन्द्रमा मेरे लिये नहीं है, पृथ्वी मेरी नही है, पानी मेरा नहीं है, वायु मेरा नहीं है, आकाश मेरा नहीं है, अग्नि मेरा नहीं है, मेरा जीव नहीं है, मेरा लक्ष्य नहीं है, मेरे लिये संसार नहीं है, मेरा ध्यान करने वाला नहीं है, मुझे ध्यान करना नहीं है, मेरा मंत्र नहीं है, मुझे ठण्ड नहीं है, मुझे गरमी नहीं है, मुझे तृष्णा नही है, मुझे भूख नहीं है,, मेरे मित्र नहीं है, मेरे शत्रु नहीं है, मुझे मोह नही है, मेरा जप नहीं है, मेरा पूर्व नही है, मेरा पश्चिम नही है, मेरा ऊपर नहीं है, मेरी दिशाएँ नही है, ॥ १५-१९ ॥

न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि ।
न से मन्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ॥ २० ॥
न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे स्मर्तव्यमण्वपि ।
न मे भोगो न मे रागो न मे यागो न मे लयः ॥ २१ ॥
न मे मौर्ख्यं न मे शान्तं न मे बन्धं न मे प्रियम् ।
न मे मोदः प्रमोदो वा न मे स्थूलं न मे कृशम् ॥ २२ ॥
न मे दीर्घं न मे ह्रस्वं न मे वृद्धिर्न मे क्षयम् ।
अध्यारोपापवादौ वा न मे चैकं न मे बहु ॥ २३ ॥
न मे आन्ध्यं न मे मान्द्यं न मे पट्विदमंवपि ।

न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे ह्यसृक् ॥ २४ ॥
न मे मज्जा न मेऽस्थिर्वा न मे त्वग्धातुसप्तकम् ।
न मे शुक्लं न मे रक्तं न मे नीलं न मे पृथक् ॥ २५ ॥

मुझे जराभी बोलना नहीं है, मुझे जराभी सुनना नहीं है, मुझे जरा भी जाना नही है, मुझे जरा भी ध्यान करना नहीं है, मुझे जरा भी भोगना नही है, मुझे जरा भी याद करना नही है। मुझे भोग नहीं है, मुझे रोग नही है, मुझे यज्ञ करना नही है, मेरा लय नहीं है, मुझमें मूर्खता नही है, मुझे शान्ति नही है, मुझे बन्धन नही है, मुझे प्रिय नहीं है, मुझे हर्ष नहीं है, मुझे प्रमोद नही है, मुझे मोटा नही है, मुझे पतला नही है, मुझे लम्बा नही है; मुझे नाटा नहीं है, मेरी वृद्धि नहीं है, मेरा क्षय नहीं है, मेरा अध्यारोप या अपवाद नहीं है, और मेरे लिए एक अथवा बहुत सा नहीं है ॥ २८-२३ ॥ मुझे अन्धता नहीं है, मेरे मन्दता नहीं है, मुझे उतम नहीं है, मेरा मांस नहीं है, मेरा रक्त नहीं मेरे मेद नहीं है, मेरे चरबी नहीं है, मेरे हड्डी नहीं है, मेरे चर्म नहीं है, इस प्रकार सातों धातु मेरे नहीं है, मेरे श्वेत नहीं है, मेरे लाल नहीं है, मेरे नील नहीं है, और मेरे कोई अन्य भी नहीं है। ॥ २४-२५ ॥

न मे तापो न मे लोभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित ।
न मे भ्रान्तिर्न मे स्थैर्य न मे गुह्यं न मे कुलम् ॥ २६ ॥
न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः ।
न मे व्रतं न मे ग्लानिर्न मे शोच्यं न मे सुखम् ॥ २७ ॥
न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम् ।
न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वं च न मे त्वहम् ॥ २८ ॥
न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमंवपि ।
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥ २९ ॥
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते ।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परो वाहं न संशयः ॥ ३० ॥

मुझे ताप नही है, मुझे लोभ नहीं है, मुझे मुख्य नहीं है, मुझे गौण नहीं है, मुझे कोई भी भ्रांति नही है, मेरी स्थिरता नही है, मेरा गुह्य नहीं है, मेरा कुल नही है ।। २६ ।। मुझे त्यागना नही है, मुझे हँसना नही है, मेरे नीति नही है, मेरा न्याय नही है, मुझे ग्लानि नहीं है, मुझे सूखना नहीं है, मुझे सुख नहीं है, मुझे जानने वाले नहीं है, मेरा ज्ञान नहीं है, मुझे जानना नही है, मेरा 'स्वयं' नही है, 'तेरा' नही है, मेरा अपने लिये नहीं है, मेरा तू नही है,और मेरा मैं नही हूं ।।२७-२८।। मुझे बुढ़ापा नहीं है, मुझे बालपन नहीं है, मुझे तनिक भी युवावस्था नहीं है, पर मैं ब्रह्म हूँ—मैं ब्रह्म हूँ—मै ब्रह्म हूँ, ऐसा निश्चय है ।।२९।। मैं चैतन्य हूँ, मै चैतन्य हूँ; मैं ब्रह्म ही हूँ, मैं चैतन्य ही हूँ, और मैं सबसे परे हूं, ऐसा जिसे निश्चय हो गया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।।३०।।

स्वयमेव स्वयं हंसः स्वयमेव स्वयं स्थितः ।
स्वयमेव स्वयं पश्येत्स्वात्मराज्ये सुखे वसेत् ।। ३१ ।।
स्वात्मानन्दं स्वयं भोक्ष्येत्स जीवनन्मुक्त उच्यते ।
स्वयमेवैकवीरोऽग्रे स्वयमेव प्रभुः स्मृतः ।
स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्स्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ।। ३२ ।।
ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी ।
स्वच्छरूपो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ।। ३३ ।।
सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वहमुत्थितः ।
एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ।। ३४ ।।
अजात्मा चामृतात्माऽहं स्वयमात्माऽहमव्ययः ।
लक्ष्यात्मा ललितात्माऽहं तूष्णीमात्मस्वभाववान् ।।३५।।
आनन्दात्मा विप्रो ह्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः ।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यये ।। ३६ ।।
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद्वैदेही मुक्त एव सः ।। ३७ ।।

यह पुरुष स्वयं ही स्वयं होता है और अपने आत्मरूप राज्य में सुख से निवास करता है, वह अपनी आत्मा के आनन्द को स्वयं ही

भोगता है और वह जीवनमुक्त कहलाता है ।। ३१ ।। जो स्वयं ही एक वीर की तरह आगे रहता है, स्वयं ही प्रभु कहलाता है, और अपने ही स्वरूप में आप सोता है, वह जीवनमुक्त कहा जाता है ।। ३२ ।। जो ब्रह्म रूप हो गया हो, अत्यन्त शांत मन वाला हो, ब्रह्म के आनन्दमय होकर सुखी, स्वच्छ रूप वाला हो और महान मौन व्रत धारण करता हो, वह विदेह मुक्त ही है ।। ३३ ।। जो सर्व का आत्मा, समान रूप आत्मा वाला, शुद्धात्मा' 'मैं' के रूप में जिसने उत्थान पाया हो, एक से रहित, एक स्वरूप, सर्व स्वरूप, मात्र अपनी आत्मा के रूप में रहा हो, अजन्मा रूप, अमर स्वरूप, स्वयं ही आत्मा रूप होकर अविनाशी और निर्विकार हो गया हो, जिसका लक्ष्य आत्मा हो, सुन्दर आत्मा रूप हो, चुपचाप, आत्मा के स्वभाव वाला हो, आनन्द रूप आत्मा वाला, प्रिय, आत्मा रूप, मोक्ष स्वरूप, बन्धन रहित, 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—'मैं चैतन्य ही हूँ' ऐसा भी जो चिन्तन न करे और केवल चैतन्य स्वरूप ही रहे, वह विदेह मुक्त है ।। ३४-३७ ।।

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयम् ।
आनन्दभरितस्वान्तो वैदेही मुक्त एव सः ।। ३८ ।।
सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति ।
अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः ।।३९।।
किंचित्क्वचित्कदाचिच्च आत्मानं न स्पृशत्यसौ ।
तूष्णीमेवं स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किंचन ।।४०।।
परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मा भूतभावनः ।
कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ।। ४१ ।।
किंचिद्भेदं न तस्यास्ति किंचिद्वाऽपि न विद्यते ।
अहं त्वं तदिदं सोऽयं कालात्मा कालहीनकः ।।४२।।
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ।। ४३ ।।

आत्मज्ञेयादिहीनात्मा यत्किंचिदिदमात्मकः ।
भानाभानविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।। ७९ ।।
आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम् ।
स्वमात्मानं स्वयं भुङ्क्ष्व स्वस्थो भव षडाननः ।। ८० ।।
स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर ।
आत्मानमेव मोदस्व वैदेही मुक्तिको भव ।।८१।।
इत्युपनिषत् ।।
इत्युपनिषच्छब्दः कुमारशिवाख्यायिकासमाप्त्यर्थः ।।८२।।

फिर उसका आत्मा दृश्यों से संयुक्त नहीं होता, शब्द युक्त भी नहीं होता, सदा समाधि शून्य होता है और आदि, मध्य तथा अन्त बिना का होता है ।। ७६ ।। फिर उसका स्वरूप 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस वाक्य से रहित; 'अहं ब्रह्मास्मि'—इससे भी रहित; 'तत्त्वमसि' आदि से रहित और 'अयमात्मा ब्रह्म'—इस वाक्य से भी रहित होता है ।। ७७ ।। इसका आत्मा ॐकार अर्थ से रहित, सब अर्थों से रहित, तीनों अवस्थाओं से पृथक, अक्षर स्वरूप और चैतन्यमय होता है ।। ७८ ।। फिर यह आत्मा रूप से जानने योग्य से रहित; "जो कुछ है वह आत्मा है" ऐसे ज्ञान वाला और मान तथा अमान से रहित स्वरूप वाला हो जाता है। इससे वह विदेह मुक्त ही है ।। ७९ ।। हे कार्तिक स्वामी तू आत्मा का ही दर्शन कर, अपनी आत्मा को ही बोध प्रदान कर, अपनी आत्मा को ही स्वयं भोग और स्वस्थ रह ।। ८० ।। इस प्रकार अपनी आत्मा में ही तू तृप्त हो, अपनी आत्मा में ही विचर, आत्मा में ही आनन्द पा और विदेह मुक्त बन जा । ऐसा यह उपनिषद है इस प्रकार कुमार और शिव का वार्तालाप समाप्त हुआ ।। ८१-८२ ।।

।। चौथा अध्याय समाप्त ।।

पञ्चमोऽध्यायः

निदाघो नाम वै मुनिः पप्रच्छ ऋभुं भगवन्तमात्मा-नात्मविवेकमनुब्रूहीति । स होवाच भगवान् ऋभुः ।

सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म सर्वचिन्तावधिर्गुरुः ।
सर्वकारणकार्यात्मा कार्यकारणवर्जितः ॥ १ ॥
सर्वसंकल्परहितः सर्वनादमयः शिवः ।
सर्ववर्जितचिन्मात्रः सर्वानन्दमयः परः ॥ २ ॥
सर्वतेजःप्रकाशात्मा नादानन्दमयात्मकः ।
सर्वानुभवनिर्मुक्तः सर्वध्यानविवर्जितः ॥ ३ ॥
सर्वनादकलातीत एष आत्माऽहमव्ययः ।
आत्मानात्मविवेकादिभेदाभेदविवर्जितः ॥ ४ ॥
शान्ताशान्तादिहीनात्मा नादान्तर्ज्योतिरूपकः ।
महावाक्यार्थतो दूरो ब्रह्मास्मीत्यतिदूरतः ॥ ५ ॥
तच्छब्दवर्ज्यस्त्वंशब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः ।
क्षराक्षरविहीनो यो नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥ ६ ॥

निदाघ नाम के मुनि ने भगवान ऋभु से पूछा—आत्मा तथा अनात्मा का भेद आप बतलाइये ।" तब ऋभु ने कहा—"ब्रह्म सर्व वाणी की अवधि है, सर्व चिन्ता की अवधि है, गुरु है, सर्व कारण और कार्यरूप है, साथ ही कार्य-कारण से रहित भी है ॥ १ ॥ सर्व सङ्कल्पों से रहित, सर्व नादमय, शिव, सब से रहित, मात्र चैतन्य रूप और सर्व आनन्दमय परमात्मा है ॥ २ ॥ सर्व तेज और प्रकाश रूप, नाद और आनन्दमय स्वरूप, सर्व अनुभव से रहित, सर्व ध्यान से रहित, सर्व नाद और कलाओं से परे अविनाशी

आत्मा मैं ही हूँ। साथ ही मैं आत्मा-अनात्मा के विवेक आदि से रहित और भेद-अभेद से रहित हूँ ॥ ३-४ ॥ फिर शांत-अशांत आदि से रहित स्वरूप वाला, नाद के भीतर का ज्योतिरूप, महावाक्य के अर्थ से दूर; 'ब्रह्मास्मि' इस वाक्यार्थ से भी अति दूर, 'तत्' शब्द से रहित 'त्वं' शब्द से दूर, वाक्यार्थ से रहित और क्षर तथा अक्षर से भी जो पृथक है, उसी नाद के भीतर की ज्योति आत्मा है ॥ ५-६ ॥

अखण्डैकरसो वाऽहमानन्दोऽस्मीति वर्जितः ।
अर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव सः ॥ ७ ॥
आत्मेति शब्दहीनो य आत्मशब्दार्थवर्जितः ।
सच्चिदानन्दहीनो य एषैवात्मा सनातनः ॥ ८ ॥
स निर्देष्टुमशक्यो यो वेदवाक्यैरगम्यगः ।
यस्य किंचिद्बहिर्नास्ति किंचिदन्तः कियन्न च ॥ ९ ॥

अखण्ड एक रस वाला अथवा 'मैं आनन्द हूँ' इस भाव से भी रहित और सर्व से भिन्न स्वभाव वाला जो आत्मा है, वही नाद के भीतर रहने वाली ज्योति है ॥ ७ ॥ जो 'आत्मा' इस शब्द से रहित है, 'आत्मा' शब्द के अर्थ से रहित है और जो सच्चिदानन्द से भी रहित है, वही सनातन आत्मा है ॥ ८ ॥ जो वेद के वाक्यों से अगम्य है; जिसके बाहर कुछ नहीं है और जिसके भीतर भी कुछ नहीं है, उसको बता सकना. अशक्य है ॥ ९ ॥

यस्य लिङ्गं प्रपञ्चं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः ।
नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूतभौतिकः ॥ १० ॥
नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक् च वा ।
सद्वाऽसद्वा स्थितिर्वाऽपि यस्य नास्ति क्षराक्षरम् ॥ ११ ॥
गुणं वा विगुणं वाऽपि स म आत्मा न संशयः ।
यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रावणं मननं च वा ॥ १२ ॥
गुरुशिष्यादिभेदं वा देवलोकाः सुरासुराः ।

यत्र धर्ममधर्मं वा शुद्धं वाऽशुद्धमण्वपि ॥ १३ ॥
यत्र कालमकालं वा निश्चयः संशयो न हि ।
यत्र मन्त्रममन्त्रं वा विद्याऽविद्ये न विद्यते ॥ १४ ॥

जिसके लिङ्ग शरीर नहीं है और प्रपंच संसार ही नहीं है, वही ब्रह्म आत्मा है, इसमें संशय नहीं। जिस का शरीर नही है; जीव नहीं है, अथवा भूत-भौतिक नहीं हैं, जिसका नाम-रूप आदि नहीं है, जिसको भोगना नहीं है, जो भोगों का भोक्ता नहीं है, जिसकी सत् अथवा असत् स्थिति नही है, जिसको क्षर अथवा अक्षर नहीं है, गुण अथवा निर्गुण नहीं हैं, वही समान स्वरूप वाला आत्मा है इसमें संशय नहीं। जिसका वाच्य अथवा वाचक नहीं है, श्रवण अथवा मनन नहीं है, जिसमें गुरु-शिष्य आदि का भेद नही है, निश्चय का संशय नहीं है, मंत्र या अमंत्र नहीं है, विद्या या अविद्या नहीं है ॥ १०-१४ ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यं वा ईषन्मात्रं कलात्मकम् ।
अनात्मेति प्रसङ्गो वा अनात्मेति मनोऽपि वा ॥ १५ ॥
अनात्मेति जगद्वाऽपि नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
सर्वसंकल्पशून्यत्वात्सर्वकार्यविवर्जनात् ॥ १६ ॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वात् नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ।
देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात् ॥ १७ ॥
जीवत्रयगुणाभावात्तापत्रयविवर्जनात् ।
लोकत्रयविहीनत्वात्सर्वमात्मेति शासनात् ॥ १८ ॥
चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च ।
पादाभावाद्गतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ॥ १९ ॥
मृत्युर्नास्ति जनाभावाद्बुद्ध्यभावात्सुखादिकम् ।
धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति भयं न च ॥२०॥

द्रष्टा, दर्शन या दृश्य अथवा थोड़ा सा भी कलारूप है वह अनात्मा है, अथवा उसका प्रसङ्ग ही अनात्मा है, मन भी अनात्मा है, जगत भी

अनात्मा है और वह नहीं है—नहीं है—ऐसा तू निश्चय जान। सर्व संकल्पों से रहित होने के कारण, सर्व कार्यों से रहित होने के कारण, और केवल मात्र ब्रह्म स्वरूप होने से, अनात्मा जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, ऐसा तू निश्चय कर। तीनों देह से रहित होने के कारण, तीनों काल से रहित होने से, जीव के तीनों गुण नहीं होने से, तीनों तापों के त्याग कर देने से, तीनों लोकों से रहित होने से, और 'सर्व आत्मा है' ऐसा उपदेश होने से अनात्मा जैसी कोई वस्तु ही नहीं है ऐसा तू निश्चय कर ।। १५-१८ ।। चित नहीं है, इस लिये चिन्तन करना नहीं है, देह नहीं है, इस लिये बुढ़ापा नहीं है, पैर नहीं हैं, इस लिये गति नहीं है, हाथ नहीं है, इस लिये क्रिया नहीं है, जन्म नहीं है, इस लिये मृत्यु नहीं है, बुद्धि नहीं है, इस लिए सुख आदि नहीं है, धर्म नहीं है, पवित्रता नहीं है और भय भी नहीं है ।। १९-२० ।।

अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे द्वितीयं न न द्वितीये न चैकता ।। २१ ।।
सत्यत्वमस्ति चेत्किंचिद सत्वं न च संभवेत्।
असत्यत्वं यदि भवेत्सत्यत्वं न घटिष्यति ।। २२ ।।
शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते।
भयं यद्यभयं विद्धि ह्यभयाद्भयमापतेत् ।। २३ ।।
बन्धत्वमस्ति चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ।। २४ ।।
त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव न।
इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ।। २५ ।।

अक्षरों का उच्चारण नहीं है, गुरु—शिष्य आदि भी नहीं है; एक नहीं है इस लिये दूसरा भी नहीं है; और दूसरा हो तो भी एक-पना नहीं है ।। २१ ।। सत्यपना जो हो तो असत्य किसी प्रकार संभव नहीं; और जो असत्यपना हो तो सत्यपना किसी प्रकार नहीं आ सकता

॥ २२ ॥ जो शुभ हो तो तुझे अशुभ भी जानना; क्योंकि अशुभ से शुभ की इच्छा होती है। जो भय हो तो तुझे अभय भी जानना, क्योंकि अभय में से भय आता है ॥ २३ ॥ जो बन्धन हो तो मोक्ष हो; पर जब बन्धन ही नहीं है तो मोक्ष कहाँ से आयेगी ? जो जन्म होगा तो मरण भी होगा; पर जो जन्म नहीं है तो मरण भी नहीं है ॥ २४ ॥ जो 'तू' होगा तो 'मैं' भी होगा; पर जब 'तू' नहीं है तो 'मैं' भी नहीं है। जो 'यह' होगा तो 'वह' भी होगा, पर 'वह' नहीं है तो 'यह' भी नहीं है ॥ २५ ॥

अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किंचन ।
कार्यं चेत्कारणं किंचित्कार्याभावे न कारणम् ॥ २६ ॥
द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च ।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥ २७ ॥
अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च ।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किंचिदपूर्णत्वं प्रसज्यते ॥ २८ ॥
तस्मादेतत्क्वचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम् ।
नास्ति दृष्टान्तिकं सत्ये नास्ति दार्ष्टान्तिकं ह्यजे ॥ २९ ॥
परं ब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि ।
ब्रह्ममात्रं जगदिदं ब्रह्ममात्रं त्वमप्यहम् ॥ ३० ॥

जो 'है' होगा तो 'नहीं' भी होगा; पर जब 'है' नहीं रहा तो 'नहीं भी' जाता रहा, जो कार्य होगा तो कारण भी रहेगा, पर जब कार्य ही नहीं है तो कारण कहां से आयेगा ? ॥ २६ ॥ जो द्वैत होगा तो अद्वैत भी होगा, पर जब 'द्वैत' नहीं है, इस लिये अद्वैत भी नहीं है। जो दृश्य होगा तो दृष्टा भी होगा; पर दृश्य ही नहीं है तो दृष्टा भी नहीं है ॥ २७ ॥ जो भीतर होगा तो बाहर भी होगा, पर 'अन्दर' है ही नहीं तो 'बाहर' भी नहीं है। जो पूर्णता हो तो थोड़ा बहुत अपूर्णता का भी विचार आयेगा; परन्तु जब पूर्णता ही कहीं नहीं है

तो अपूर्णता भी नहीं है, इसी प्रकार 'तू' या 'मैं' अथवा 'यह' या 'वह' भी नही है। सत्य वस्तु में दृष्टान्तिक नहीं है और अजन्मा में दार्ष्टान्तिक भी नही है ॥ २८-२६ ॥ 'मैं परब्रह्म हूँ' ऐसा स्मरण करने के लिये मन ही नहीं है, यह जगतमात्र ब्रह्म है और 'तू' और 'मैं' भी ब्रह्म हैं ॥ ३० ॥

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेनि निश्चिनु ।
इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं नो स्थितं क्वचित् ॥ ३१ ॥
चित्तं प्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा ।
न प्रपञ्चं न चित्तादि नाहंकारो न जीवकः ॥ ३२ ॥
मायाकार्यादिकं नास्ति माया नास्ति भयं न हि ।
कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति श्रवणं मननं न हि ॥ ३३ ॥
समाधिद्वितयं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि ।
अज्ञानं चापि नास्त्येव ह्यविवेकं कदाचन ॥ ३४ ॥
अनुबन्धचतुष्कं न संबन्धत्रयमेव न ।
न गङ्गा न गया सेतुर्न भूतं नान्यदस्ति हि ॥ ३५ ॥

मात्र चैतन्य केवल 'मैं' है, अनात्मा जैसा कुछ है ही नहीं, ऐसा तू निश्चय कर। यह प्रपंच है ही नहीं, कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और कहीं भी नही रहा ॥ ३१ ॥ चित्त को ही प्रपंच कहते हैं, और वह सर्वदा नहीं है और नहीं ही है, प्रपंच नहीं है, चित्त आदि नहीं हैं, अहंकार नहीं है, जीव भी नहीं है ॥ ३२ ॥ माया का कार्य आदि नहीं है, माया नहीं है, भय नहीं है, कर्ता नहीं, क्रिया नहीं है, श्रवण नहीं है और मनन भी नहीं है ॥ ३३ ॥ दोनों प्रकार की समाधि नहीं, प्रमाण करने वाला और प्रमाण आदि नहीं है, अज्ञान नहीं है और अविवेक भी कभी नहीं है ॥ ३४ ॥ चार अनुबन्ध नहीं हैं, तीन सम्बन्ध नहीं है, गङ्गा नहीं है, गया नहीं है, सेतु नहीं है, भूत नहीं है और दूसरा भी कुछ नहीं है ॥ ३५ ॥

न भूमिर्न जलं नाग्निर्न वायुर्न च खं क्वचित् ।
न देवा न च दिक्पाला न वेदा न गुरुः क्वचित् ॥ ३६ ॥
न दूरं नान्तिकं नालं न मध्यं न क्वचित्स्थितम् ।
नाद्वैतं द्वैतसत्यं वा ह्यसत्यं वा इदं न च ॥ ३७ ॥
बन्धमोक्षादिकं नास्ति सद्वाऽसद्वा सुखादि वा ।
जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥३८॥
सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव ब्रह्मेत्यपि च नास्ति हि ।
चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहंभाषणं न हि ॥ ३९ ॥
अहं ब्रह्मास्मि नास्त्येव नित्यशुद्धोऽस्मि न क्वचित् ।
वाचा यदुच्यते किंचिन्मनसा मनुते क्वचित् ॥ ४० ॥
बुद्धया निश्चिनुते नास्ति चित्तेन ज्ञायते न हि ।
योगयोगादिकं नास्ति सदा सर्वं सदा न च ॥ ४१ ॥

पृथ्वी नहीं है, जल नहीं है, अग्नि नहीं है, वायु नहीं है, आकाश नहीं है, कोई भी देव नहीं है, दिक्पाल नहीं है, वेद नहीं है, और कहीं भी कोई गुरु नहीं है ॥ ३६ ॥ दूर नहीं है, पास नहीं है, अन्त नहीं है, मध्य नहीं है, कोई कहीं भी रहा नहीं है, द्वैत नहीं है, अद्वैत नहीं है, सत्य नहीं है, और यह असत्य भी नहीं है, ॥३७॥ बन्धमोक्ष आदि नहीं है, सत् असत् तथा सुख आदि नहीं है, जाति नहीं है, गति नही है, वर्ण नहीं है, और लौकिकता नही है ॥ ३८ ॥ सब ब्रह्म है, ऐसा भी नहीं है, 'ब्रह्म नहीं' यह भी नहीं है, 'चैतन्य ही है, ऐसा भी नहीं है, और मैं चैतन्य हूँ, ऐसा भाषण भी नहीं है ॥ ३९ ॥ 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी नहीं है, 'मैं नित्य शुद्ध हूँ, ऐसा भी नहीं है। वाणी से जो बोला जाता है, मन से जो कुछ विचारा जाता है, बुद्धि से जो कुछ निश्चय किया जाता है, और चित्त से जो कुछ जाना जाता है, वह कुछ भी नहीं है, योगी और योग आदि नहीं है, और सब कुछ समस्त काल में नहीं है ॥ ४०–४१ ॥

अहोरात्रादिकं नास्ति स्नानध्यानादिकं न हि ।
भ्रान्तिरभ्रान्ति नास्त्येव नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥ ४२॥
वे ं शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः ।
लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ४३ ॥
बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः ।
गौणं मुख्यं परं चान्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ४४ ॥
वाचा वदति यत्किंचित्संकल्पैः कल्प्यते च यत् ।
मनसा चिन्त्यते यद्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥ ४५ ॥

दिन-रात आदि नहीं है,स्नान-ध्यान आदि नही है,भ्रांति-अभ्रांति नहीं है, इस प्रकार अनात्मा है ही नहीं ऐसा तू निश्चय कर ॥ ४२ ॥ वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, करण, ईश्वर, लोक, भूत, मनुष्य और एकता यह सब मिथ्या हैं, इसमें संशय नहीं ॥ ४३ ॥ बन्ध, मोक्ष, सुख दुःख, ध्यान, चित्त, देवगण, असुर, गौण, मुख्य और अन्य सब भी मिथ्या है, इसमें संशय नहीं ॥ ४४ ॥ वाणी से जो बोलते हैं, संकल्प से जो कल्पित किया जाता है और मन से जो चिन्तन किया जाता है वह सब मिथ्या है, इसमें संशय नहीं ॥ ४५ ॥

बुद्धया निश्चीयते यद्यच्चिते निश्चीयते क्वचित् ।
शास्त्रैः प्रपञ्चयते यद्यन्नेत्रेणैव निरीक्ष्यते ॥ ४६ ॥
श्रोत्राभ्यां श्रूयते यद्यदन्यत्सद्भावमेव च ।
नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव मिथ्येति च सुनिश्चितम् ॥ ४७ ॥
इदमित्येव निर्दिष्टमयमित्येव कल्प्यते ।
त्वमहं तदिदं सोऽहमन्यत्सद्भावमेव च ॥ ४८ ॥
यद्यत्संभाव्यते लोके सर्वसंकल्पसंभ्रमः ।
सर्वाध्यासं सर्वगोप्यं सर्वभोगप्रभेदकम् ॥ ४९ ॥
सर्वदोषप्रभेदाश्च नास्त्यनात्मेनि निश्चिनु ।
मदीयं च त्वदीयं च ममेति च तवेति च ॥ ५० ॥

मह्यं तुभ्यं मयेत्यादि तत्सर्वं वितथं भवेत् ।
रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ।। ५१ ।।
संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
स्नानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ।। ५२ ।।
मन्त्रं तन्त्रं च सत्सङ्गो गुणदोषविजृम्भणम् ।
अन्तःकरणसद्भाव अविद्यायाश्च संभवः ।। ५३ ।।
अनेककोटिब्रह्माण्डं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।
सर्वदेशिकवाक्योक्तिर्येन केनापि निश्चितम् ।। ५४ ।।
दृश्यते जगति यद्यद्यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।। ५५ ।।

बुद्धि से जो कुछ निश्चय किया जाता है, चित्त में जो कुछ निश्चय होता है, शास्त्रों द्वारा प्रपंच का वर्णन किया जाता है, नेत्रों से जो कुछ देखा जाता है, दोनों कानों से जो सुना जाता है, और अन्य जो कुछ स्थित जान पड़ता है, वह सब कुछ मिथ्या है, इसमें संशय नहीं। आंख, कान और शरीर ही मिथ्या है, ऐसा भली प्रकार निश्चय कर लिया है ।। ४६--४७ ।। 'यह' इस प्रकार से जो कुछ भी बताया गया हैं, 'यह' ऐसा कहकर जो कुछ कल्पित किया जाता है, 'तू' मै, यह, वह, मैं, अन्य और जो कुछ सच्चा भाव ही है'—ऐसा जो कुछ लोक मैं मान लिया गया है वह सब संकल्पों का संभ्रम है। समस्त आरोप, सर्व गुप्त रखने लायक, सब भोगों के भेद और सब दोषों के भेद, यह सब अनात्मा रूप कुछ है ही नहीं, ऐसा तू निश्चय कर। मेरा यह, मेरा-तेरा, मेरे लिये-तेरे लिये, इत्यादि सब झूंठा है। 'विष्णु रक्षा करने वाले हैं; ब्रह्मा सृष्टि के कारण हैं और रुद्र संसार के कारण है' इत्यादि यह सब झूंठा है, ऐसा तू निश्चय कर। जप, तप; होम; स्वाध्याय; देव पूजन; मन्त्र; तंत्र; सत्संग; गुण दोष का विलास; अन्तःकरण की सत्यता; अविद्या का संशय और अनेक करोड़

ब्रह्माण्ड यह सब मिथ्या है; ऐसा तू निश्चय कर। सब गुरुओं के वाक्य और वचन; जिस किसी ने भी जो कुछ निश्चय किया है; जगत में जो-जो दिखाई देता है; जो-जो जान पड़ता है; और जगत में जो कुछ भी है; वह सब मिथ्या है; ऐसा तू निश्चय कर ॥ ४८-५५ ॥

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केन विनिर्णितम्।
येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ॥ ५६ ॥
येन केनापि यद्दत्तं येन केनापि यत्कृतम्।
यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ॥ ५७ ॥
यद्यत्करोषि सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।
त्वमेव परमात्माऽसि त्वमेव परमो गुरुः ॥ ५८ ॥
त्वमेवाकाशरूपोऽसि साक्षिहीनोऽसि सर्वदा।
त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥ ५९ ॥
कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्घनः।
सर्वतः स्वस्वरूपोऽसि चैतन्यघनवानसि ॥ ६० ॥

जो कुछ अक्षरों द्वारा कहा गया है, जिस किसी ने विशेष निश्चय किया है, जिस किसी ने कहा है, जिस किसी ने आनन्द पाया है, जिस किसी ने जो कुछ किया है, जो जो शुभ कार्य हैं, जो जो पाप कर्म हैं, और जिस जिस सत्य को मानता है, वह सब मिथ्या है, ऐसा तू निश्चय कर। तू ही परमात्मा है और तू ही परम गुरु है ॥ ५६--५८ ॥ तू ही आकाश रूप है, तू ही सर्व काल में साक्षी रहित है, तूही सर्व पदार्थ रूप है, और तू ब्रह्म है, इसमें संशय नहीं ॥५९॥ तू काल रहित है, काल है, सदा ब्रह्म है, चैतन्य व्याप्त है, सर्वत्र स्व-स्वरूप है और चैतन्य से भरपूर है ॥ ६० ॥

सत्योऽसि सिद्धोऽसि सनातनोऽसि मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि मुदामृतोऽसि।
देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि ब्रह्मासि पूर्णोऽसि परात्परोऽसि॥

समोऽसि सच्चासि सनातनोऽसि सत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितोऽसि ।
सर्वाङ्गहीनोऽसि सदा स्थितोऽसि ब्रह्मेन्द्ररुद्रादिविभावितोऽसि ॥
सर्वप्रपञ्चभ्रमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु च भासितोऽसि ।
सर्वत्र संकल्पविवर्जितोऽसि सर्वागमान्तार्थविभावितोऽसि ॥६३॥
सर्वत्र संतोषसुखासनोऽसि सर्वत्र गत्यादिविवर्जितोऽसि ।
सर्वत्र लक्ष्यादिविवर्जितोऽसि ध्यातोऽसि विष्णवादिसुरैरजस्रम् ॥
चिदाकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरंकुशः ।
आत्मन्येव स्थितोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ॥ ६५ ॥

तू सत्य है, सिद्ध है, सनातन है, मुक्त है, मोक्ष है, आनन्द सहित अमर है, निर्दोष है, ब्रह्म है, पूर्ण है और पर से भी पर है ॥ ६१ ॥ तू समान है; सत् है; सनातन है; सत्य आदि वाक्यों से बोध पाया हुआ है; सर्व अङ्गों से रहित है; सदा काल रहने वाला है और ब्रह्मा इन्द्र, रुद्र आदि द्वारा चिन्तन किया जाने वाला है ॥ ६२ ॥ तू सर्व प्रपंच रूपी भ्रम से रहित है, सब भूतों में प्रकाशमान है, सब स्थानों में संकल्प रहित है, और सर्व उपनिषदों के अर्थ से विचारा हुआ है ॥६३॥ सर्वत्र संतोष रूपी सुखासन पर तू विराजमान है, सर्वत्र गति आदि से रहित है, लक्ष्य आदि से रहित है और विष्णु आदि देवों द्वारा निरन्तर ध्यान किया जाने वाला है ॥ ६४ ॥ तू चैतन्य के आकार स्वरूप है, मात्र चैतन्य है, निरंकुश है, आत्मा में ही रहने वाला है, सब से शून्य है और निर्गुण है ॥ ६५ ॥

आनन्दोऽसि परोऽसि त्वमेक एवाद्वितीयकः ।
चिद्घनानन्दरूपोऽसि परिपूर्णस्वरूपकः ॥ ६६ ॥
सदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्षसि ।
सच्चिदानन्दरूपोऽसि वासुदेवोऽसि वै प्रभुः ॥ ६७ ॥
अमृतोऽसि विभुश्चासि चञ्चलो ह्यचलो ह्यसि ।
सर्वोऽसि सर्वहीनोऽसि शान्ताशान्तविवर्जितः ॥ ६८ ॥

सत्तामात्रप्रकाशोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि ।
नित्यसिद्धिस्वरूपोऽसि सर्वसिद्धिविवर्जितः ॥ ६९ ॥
ईषन्मात्रविशून्योऽसि अणुमात्रविवर्जितः ।
अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥ ७० ॥

तू आनन्द है, पर है, एक और अद्वितीय है, चैतन्य से व्याप्त और आनन्द रूप है, साथ ही परिपूर्ण स्वरूप वाला है ॥ ६६ ॥ सत् है, 'तू' है, ज्ञानी है, 'वह' है, तू जानता है, देखता है, सच्चिदानन्द रूप है और वासुदेव प्रभु है ॥ ६७ ॥ तू अमर है, तू व्यापक है, चचल है, अचल है, सर्व स्वरूप है, सर्व से रहित है, शान्त-अशान्त से रहित है ॥ ६८ ॥ तू मात्र सत्ता रूप प्रकाश वाला है, सामान्य सत्ता रूप है, नित्य सिद्ध स्वरूप है और सर्व सिद्धियों से रहित है ॥ ६९ ॥ तू लेशमात्र शून्यता से रहित है, अणुमात्र से रहित है, अस्तिपन से रहित है नास्तिपन से भी रहित है ॥ ७० ॥

लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः ।
सर्वनादान्तरोऽसि त्वं कलाकाष्ठाविवर्जितः ॥ ७१ ॥
ब्रह्मविष्णवीशहीनोऽसि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि ।
स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वानन्दाब्धौ निमज्जसि ॥ ७२ ॥
स्वात्मराज्ये स्वमेवासि स्वयंभावविवर्जितः ।
शिष्टपूर्णस्वरूपोऽसि स्वस्मात्किंचिन्न पश्यसि ॥ ७३ ॥
स्वस्वरूपान्न चलसि स्वस्वरूपेण जृम्भसि ।
स्वस्वरूपादनन्योऽसि ह्यहमेवासि निश्चिनु ॥ ७४ ॥
इदं प्रपञ्चं यत्किंचिद्यद्यज्जगति विद्यते ।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥ ७५ ॥

तू लक्ष्य तथा लक्षण से रहित है, निर्विकार है, निरोगी है, सर्व नाद के भीतर रहने वाला है और कला तथा सीमा से रहित है ॥ ७१ ॥ तू ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर से भिन्न है, अपने स्वरूप को तू देख

रहा है, अपने स्वरूप में तू ही शेष रहता है और अपने आनन्दमय स्वरूप मे तू डूब रहा है ।। ७२ ।। अपने आत्मा रूप राज्य में तू ही है, 'स्वयं' ऐसे भाव से तू रहित है; शेष रहे पूर्ण स्वरूप में तू ही है और अपने से भिन्न तू कुछ भी नहीं देखता ।। ७३ ।। तू अपने स्वरूप से चलता नहीं है, अपने स्वरूप को तू प्रकाशित करता है, अपने स्वरूप से तू भिन्न नही है और 'मै ही हूँ' ऐसा तू निश्चय कर ।। ७४ ।। इस जगत में जो कुछ दृश्य रूप और द्रष्टा रूप प्रपंच है, वह सब शशक के सींगों के समान मिथ्या है ।। ७५ ।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकारश्च तेजश्च लोकं भुवनमण्डलम् ।। ७६ ।।
नाशं जन्म च सत्यं च पुण्यपापजयादिकम् ।
रागः कामः क्रोधलोभौ ध्यानं ध्येयं गुणं परम् ।। ७७ ।।
गुरुशिष्योपदेशादिरादिरन्तं शमं शुभम् ।
भूतं भव्यं वर्तमानं लक्ष्यं लक्षणमद्वयम् ।। ७८ ।।
शमो विचारः संतोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ।। ७९ ।।
आदिमध्यान्तरङ्गं च ग्राह्यं त्याज्यं हरिः शिवः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ।। ८० ।।
चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ।। ८१ ।।
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम् ।
विद्याऽविद्यादिरूपं च सर्ववेदं जडाजडम् ।। ८२ ।।
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ।। ८३ ।।
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ।। ८४ ।।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार, तेज,

लोक, भुवन मण्डल, नाश, जन्म, सत्य, पुण्य-पाप, जप आदि, राग, काम, क्रोध, लोभ, ध्यान, ध्येय, गुण, पर वस्तु, गुरु-शिष्य, उपदेश इत्यादि, आदि-अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, विचार, संतोष, भोगने वाला, भोगना आदि का स्वरूप; यम आदि अष्टाङ्ग योग, गमन-आगमन का स्वरूप, आदि, मध्य, अन्त-रङ्ग, ग्रहण करना, त्यागना, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, तीन अवस्थाएँ, चौबीस तत्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि लोक, सर्व वर्णों और आश्रमों के आचार, मंत्र-तंत्र आदि का संग्रह, विद्या-अविद्या आदि का रूप; सर्व जानने लायक, जड़-अजड़, बन्धमोक्ष के विभाग, ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप, बोध-अबोध का स्वरूप, द्वैत-अद्वैत आदि भाषण, सर्व वेदान्त का सिद्धान्त, सर्व शास्त्रों के अर्थ का निर्णय, अनेक जीवों का अस्तित्व और एक जीव आदि का निर्णय—यह सब शशक शृङ्ग की तरह मिथ्या है ।। ७६-८४ ।।

यद्यद्ध्यायति चित्तेन यद्यत्संकल्प्यते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद्गुरुणा संशृणोति यत् ।। ८५ ।।
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।
यद्यत् स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ।। ८६ ।।
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः ।
शिवो क्षहरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ।।८७।।
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ।। ८८ ।।
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ।
देहोऽहमिति संकल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ।। ८९ ।।

मनुष्य चित्त से जो-जो ध्यान करता है, किसी विषय में जो-जो सङ्कल्प करता है, बुद्धि से जो-जो निश्चय करता है, गुरु के पास कुछ सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है; आचार्य का जो-जो

ाषण है स्वर और इन्द्रियों से जो-जो होता है, भिन्न-भिन्न जो कुछ विचारा जाता है, वेद पारंगत महापुरुषों ने न्याय द्वारा जो-जो निर्णय किया है; शिव लोकों का संहार करते हैं, विष्णु तीनों जगत का रक्षण करते हैं, ब्रह्मा लोकों की सृष्टि करते हैं—इत्यादि जो क्रियाएँ हैं, पुराणों और वेदों में जो-जो निर्णय हैं और सर्व उपनिषदों का जो भाव है वह शशकश्रृङ्ग के समान मिथ्या है। 'मै देह हूँ' ऐसा सङ्कल्प ही अन्तःकरण कहलाता है ॥ ८५-८९ ॥

देहोऽहमिति संकल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति संकल्पं तद्बन्धमिति चोच्यते ॥ ९० ॥
देहोऽहमिति संकल्पं तद्दुःखमिति चोच्यते ।
देहोऽहमिति यत् ज्ञानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥ ९१ ॥
देहोऽहमिति संकल्पं जगत्सर्वमितीर्यते ।
देहोऽहमिति संकल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥ ९२ ॥
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥ ९३ ॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥ ९४ ॥
देहोऽहमिति संकल्पः सत्यजीवः स एव हि ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥ ९५ ॥
देहोऽहमिति संकल्पो महापापमिति स्फुटम् ।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल ।
यत्किंचिदपि संकल्पं तापत्रयमितीरितम् ॥ ९६ ॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही महत् संसार कहलाता है 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन कहलाता है; 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है, 'मैं देह हूँ' ऐसा भान ही नर्क कहा जाता है; 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही समस्त जगत है, ऐसा कहा जाता है;

"मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गांठ कहा जाता है; 'मैं देह हूँ' ऐसा जो ज्ञान है वही अज्ञान कहा जाता है; 'मैं देह हूँ' ऐसा जो ज्ञान वही असत् भाव है; 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्ट पाप है और 'मै देह हूँ' ऐसी जो बुद्धि है, वही दोष पूर्ण तृष्णा है ॥ ९०-९६ ॥

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदु:खं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।
यत्किंचेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किंचेदं मानसं सोम्य विद्धि॥९७॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥ ९८ ॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम् ।
मन एव हि कालं च मन एव मलं तथा ॥ ९९ ॥
मन एव हि संकल्पो मन एव हि जीवकः ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहंकार एव च ॥ १०० ॥
मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत् ।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥ १०१ ॥
मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान् ।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥ १०२ ॥

जो कुछ संकल्प होता है, उसी को त्रय-पाप कहते हैं । काम, क्रोध, बन्धन, सर्व दुःख, समस्त दोष, काल के अनेक प्रकार के स्वरूप, जो कुछ सर्व संकल्पों का समूह है और जो कुछ यह है, हे सौम्य ! वह सब मानसिक है, ऐसा तुझे जान लेना चाहिये ॥ ९७ ॥ मन ही समस्त जगत है, मन ही बड़ा शत्रु है, मन ही संसार है, मन ही तीनों जगत है, मन ही बड़ा दुःख है, मन ही बुढ़ापा आदि है, मन ही काल है, मन ही मैल है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अन्तःकरण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही तेज है, मन ही महान वायु है, मन ही आकाश है और मन ही शब्द है ॥ ९८-१०२ ॥

स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥ १०३ ॥
दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः ।
दृश्यं जडं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥ १०४ ॥
संकल्पमेव यत्किंचित्तत्तन्नास्तीति निश्चिनु ।
नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं नहि ॥ १०५ ॥
इत्युपनिषत् ॥

स्पर्श, रूप, रस, गंध और पाँच कोश मन से ही उत्पन्न हुये हैं और जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि को मनोमय कहते हैं ॥१०३॥ दिक्पाल, वसु, रुद्र और आदित्य मनोमय हैं और दृश्य जड़ वस्तु, द्वन्दों का समुदाय तथा अज्ञान मनोमय कहा जाता है ॥१०४॥ जो कुछ भी संकल्प है, वे सब नहीं हैं (मिथ्या हैं) ऐसा तू निश्चय कर । समस्त जगत नही है और गुरु-शिष्य आदि भी नहीं हैं, ऐसा यह रहस्य है ॥ १०५ ॥

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त ॥

षष्ठोऽध्यायः

ऋभुः—

सर्वं सच्चिन्मयं विद्धि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ।
सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥ १ ॥
सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दमेव खम् ॥ २ ॥
सच्चिदानन्दमेव त्वं सच्चिदानन्दकोऽस्म्यहम् ।
न मनोबुद्ध्यहंकारचित्तसंघातका अमी ॥ ३ ॥
न त्वं नाहं न चान्यं वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
न वाक्यं न पदं वेदं नाक्षरं न जडं क्वचित् ॥ ४ ॥

न मध्यं नादि नान्तं वा न सत्यं न निबन्धनम् ।
न दुःखं न सुखं भावं न माया प्रकृतिस्तथा ॥ ५ ॥

ऋभु ने कहा—तुझे जानना चाहिये कि सब कुछ सत् चित्मय है, सर्वत्र सत् चित्मय फैला हुआ है, सत्-चित्-आनन्द ही अद्वैत है और केवल सत् चित् आनन्द ही है ॥ १ ॥ मात्र सत्-चित-आनन्द ही है, दूसरा भी सत्-चित्-आनन्द है, मैं सत्-चित्-आनन्द हूँ और आकाश सत्चित्–आनन्द है ॥ २ ॥ तू सत्-चित्-आनन्द ही है, मैं सत्-चित्-आनन्द हूँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त का यह संघात सत्-चित्-आनन्द ही है ॥ ३ ॥ तू नहीं है, मैं नहीं हूँ या अन्य नहीं है; सब कुछ केवल ब्रह्म है; वाक्य नहीं है, पद नहीं है, वेद नहीं है, अक्षर नहीं है और कहीं भी जड़ नही है ॥ ४ ॥ मध्य नहीं है, आदि नहीं, अंत नहीं है, सत्य नहीं है, बन्धन नहीं है, दुःख नहीं है, सुख नहीं है, पदार्थ नहीं है, माया नही है और प्रकृति नहीं है ॥ ५ ॥

न देहं न मुखं घ्राणं न जिह्वा न च तालुनी ।
न दन्तोष्ठौ ललाटं च निश्वासोच्छ्वास एव च ॥ ६ ॥
न स्वेदमस्थि मांसं च न रक्तं न च मूत्रकम् ।
न दूरं नान्तिकं नाङ्गं नोदरं न किरीटकम् ॥ ७ ॥
न हस्तपादचलनं न शास्त्रं न च शासनम् ।
न वेत्ता वेदनं वेद्यं न जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः ॥ ८ ॥
तुर्यातीतं न मे किंचित्सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ।
नाध्यात्मिकं नाधिभूतं नाधिदैवं न मायिकम् ॥ ९ ॥
न विश्वस्तैजसः प्राज्ञो विराट्सूत्रात्मकेश्वराः ।
न गमागमचेष्टा च न नष्टं न प्रयोजनम् ॥ १० ॥

शरीर नहीं, मुख नहीं, नाक नहीं, जीभ नहीं, दो तलुवा नहीं, दाँत और होठ नहीं और श्वासोच्छ्वास भी नहीं ॥ ५ ॥ पसीना नही, हड्डियाँ नही, मांस नहीं, लोहू नहीं, मूत्र नहीं, दूर नहीं, पास नहीं,

अङ्ग नहीं, पेट नहीं और किरीट भी नहीं है ॥ ७ ॥ हाथ पैर का चलना नहीं, शास्त्र नहीं, आज्ञा नहीं, जानकार नही, जानना नहीं, जागृत–स्वप्न–सुषुप्ति भी नही है ॥ ८ ॥ मेरी तुरीयातीत अवस्था भी नही, समस्त सत्-चित्मय फैला हुआ है; आध्यात्मिक नहीं, अधिभूत नहीं, अधिदैव नहीं और मायिक नहीं ॥ ९ ॥ विश्व नहीं है, तेजस, प्राज्ञ, विराट्, सूत्रात्मा और ईश्वर नहीं है, जाना आना और चेष्टा नही है, नाश पाया हुआ नहीं है और प्रयोजन भी नहीं है ॥ १० ॥

त्याज्यं ग्राह्यं न दूष्यं वा ह्यमेध्यामेध्यकं तथा ।
न पीनं न कृशं क्लेदं न कालं देशभाषणम् ॥ ११ ॥
न सर्वं न भयं द्वैतं न वृक्षतृणपर्वताः ।
न ध्यानं योगसंसिद्धिर्न ब्रह्मक्षत्रवैश्यकम् ॥ १२ ॥
न पक्षी न मृगो नाङ्गी न लोभो मोह एव च ।
न मदो न च मात्सर्यं कामक्रोधादयस्तथा ॥ १३ ॥
न स्त्रीशूद्रबिडालादि भक्ष्यभोज्यादिकं च यत् ।
न प्रौढहीनौ नास्तिक्यं न वार्तावसरोऽस्ति हि ॥ १४ ॥
न लौकिको न लोको वा न व्यापारो न मूढता ।
न भोक्ता भोजनं भोज्यं न मातृ मानमेयकम् ॥ १५ ॥

त्यागने और ग्रहण करने को नही है, दोषमात्र या पवित्र-अपवित्र नही है, पुष्ट नही है, पतला नही है, गीला नही है, काला नहीं है, देश-भाषण भी नही है ॥ ११ ॥ सर्व नही है, भय नहीं है, ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य नहीं है ॥ १२ ॥ पक्षी नहीं है, मृग नहीं है, प्राणी नही है, लोभ या मोह नहीं है, मद नहीं है, मत्सर नहीं है और काम तथा क्रोध आदि नही है ॥ १३ ॥ स्त्री, शूद्र या बिल्ली आदि नहीं है, भक्ष्य-भोज्य आदि नहीं है, प्रौढ़ या हीन नही है, नास्तिकता नहीं है और बात करने का समय भी नहीं है ॥ १४ ॥ लौकिक नहीं है, लोक नहीं है, व्यापार नहीं है, मूढ़ता नहीं है, खाने वाला नहीं है,

भोजन नहीं है, भोज्य सामग्री नहीं है, पात्र नहीं है, पीना नहीं है, पेय नहीं है ॥ १५ ॥

न शत्रुमित्रपुत्रादिर्न माता न पिता स्वसा ।
न जन्म न मृतिर्वृद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः ॥ १६ ॥
न शून्यं नापि चाशून्यं नान्तःकरणसंसृतिः ।
न रात्रिर्न दिवा नक्तं न ब्रह्मा न हरिः शिवः ॥ १७ ॥
न वारपक्षमासादि वत्सरं न च चञ्चलम् ।
न ब्रह्मलोको वैकुण्ठं न कैलासो न चान्यकः ॥ १८ ॥
न स्वर्गं न च देवेन्द्रो नाग्निलोको न चाग्निकः ।
न यमो यमलोको वा न लोका लोकपालकाः ॥ १९ ॥
न भूर्भुवः स्वस्त्रैलोक्यं न पातालं न भूतलम् ।
नाविद्या न च विद्या च न माया प्रकृतिर्जडा ॥ २० ॥

शत्रु, मित्र या पुत्र आदि नहीं है, माता नहीं है, पिता नहीं है, बहिन नहीं है, जन्म नहीं है, मरण नहीं है, वृद्धि नहीं है, 'मैं देह हूँ' ऐसा भ्रम है ॥ १६ ॥ शून्य नहीं है, अशून्य नहीं है, भीतर नहीं है, कारण रूप संसार नहीं है रात्रि नहीं है, दिन नहीं है, मध्यरात्रि नहीं है, ब्रह्मा नहीं है, विष्णु नहीं है या शिव नहीं है ॥ १७ ॥ वार पखवारा या महीना नहीं है, वर्ष नहीं है, चंचल नहीं है, ब्रह्मलोक नहीं है, बैकुण्ठ नहीं है, कैलाश नहीं है अथवा कोई अन्य लोक नहीं है ॥ १८ ॥ स्वर्ग नहीं है, देवों का इन्द्र नहीं है, अग्निलोक नहीं है, अग्नि नहीं है, यम नहीं है, यमलोक नहीं है, लोक नहीं है और लोकपाल भी नहीं है ॥ १९ ॥ भूर्-भुवः स्वः ये त्रैलोक नहीं है, पाताल नहीं है, भूतल नहीं है, अविद्या नहीं है, विद्या नहीं है, माया नहीं है, जड़ प्रकृति नहीं है ॥२०॥

न स्थिरं क्षणिकं नाशं न गतिर्न च धावनम् ।
न ध्यातव्यं न मे स्नानं न मन्त्रो न जपः क्वचित् ॥ २१ ॥

न पदार्थं न पूजार्हं नाभिषेकं न चार्चनम् ।
न पुष्पं न फलं पत्रं गन्धपुष्पादिधूपकम् ॥ २२ ॥
न स्तोत्रं न नमस्कारो न प्रदक्षिणमण्वपि ।
न प्रार्थना पृथग्भावो न हविर्नाग्निवन्दनम् ॥ २३ ॥
न होमो न च कर्माणि न दुर्वाक्यं सुभाषणम् ।
न गायत्री न वा संधिर्न मनस्यं न दुःस्थितिः ॥ २४ ॥
न दुराशा न दुष्टात्मा न चण्डालो न पौल्कसः ।
न दुःसहं दुरालापं न किरातो न कैतवम् ॥ २५ ॥

स्थिर या क्षणिक नहीं है, नाश नहीं है, गति नहीं है, दौड़ना नहीं है, ध्यान करना नहीं है, ध्यान नहीं है, मन्त्र नहीं है और कोई जप नहीं है ॥ २१ ॥ पदार्थ नहीं है, पूजने योग्य नहीं है, अभिषेक नहीं है, पुष्प नहीं है, फल नहीं है, पत्ते नहीं है, गंध-पुष्प आदि या धूप भी नहीं है ॥ २२ ॥ स्तोत्र नहीं है, नमस्कार नहीं है, प्रदक्षिणा नहीं है, प्रार्थना नहीं है, पृथकता नहीं है, हविष नहीं है और अग्नि को वन्दन भी नहीं है ॥ २३ ॥ होम नहीं है, कर्म नहीं है, दुष्ट वाक्य अथवा उत्तम वाक्य नहीं है, गायत्री नहीं है, संधि नहीं है, मन होने वाला नहीं है या दुष्ट स्थिति नहीं है ॥ २४ ॥ दुष्ट आशा नहीं है, दुष्टात्मा नहीं है, चांडाल नहीं है, मंत्री नहीं है, दु.सह नहीं है, दुष्ट आलाप नहीं है, किरात नहीं है और कपट भी नहीं है ॥२५॥

न पक्षपातं पक्षं वा न विभूषणतस्करौ ।
न च डम्भो डाम्भिको वा न हीनो नाधिको नरः ॥२६॥
नैकं द्वयं त्रयं तुर्यं न महत्त्वं न चाल्पता ।
न पूर्णं न परिच्छिन्नं न काशी न व्रतं तपः ॥ २७ ॥
न गोत्रं न कुलं सूत्रं न विभुत्वं न शून्यता ।
न स्त्री न योषिन्नो वृद्धा न कन्या न वितन्तुता ॥ २८ ॥

मैं सूतकं न जातं वा नान्तर्मुखसुविभ्रमः ।
न महावाक्यमैक्यं वा नाणिमादिविभूतयः ॥ २९ ॥
सर्वं चैतन्यमात्रत्वात्सर्वदोषः सदा न हि ।
सर्वं सन्मात्ररूपत्वात्सच्चिदानन्दमात्रकम् ॥ ३० ॥

पक्षपात नहीं है, पक्ष नहीं है, आभूषण नहीं है और चोर नहीं है, दंभ नहीं है और दाम्भिक नहीं है, दीन और उच्च मनुष्य नहीं है ॥ २६ ॥ एक दो वाला, तीन वाला या चौथा नहीं है, महत्व या अल्पता नहीं है, पूर्ण और मर्यादित नही है, काशी नहीं है, व्रत नहीं है और तप नही है ॥ २७ ॥ गोत्र नही है, कुल नहीं है, विभुता नही है, शून्यता नही है, स्त्री नहीं है, युवती नहीं है, वृद्धा नही है, बांझ नहीं है ॥ २८ ॥ सूतक नही है, जन्मा हुआ नहीं है, अन्तर्मुख वाला भली प्रकार से विभ्रम नही है, महावाक्य नहीं है, एकता नहीं है, और अणिमा आदि ऐश्वर्य भी नहीं है ॥ २९ ॥ सब कुछ चैतन्य रूप होने से सर्व काल में सर्व दोष नहीं है, सब कुछ सत्य रूप होने से मात्र सत्-चित्-आनन्द ही है ॥ ३० ॥

ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति तदहं तदहं तथा ।
तदेवाहं तदेवाहं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥ ३१ ॥
ब्रह्मैवाहं न संसारी ब्रह्मैवाहं न मे मनः ।
ब्रह्मैवाहं न मे बुद्धिर्ब्रह्मैवाहं न चेन्द्रियम् ॥ ३२ ॥
ब्रह्मैवाहं च देहोऽहं ब्रह्मैवाहं न गोचरः ।
ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ॥ ३३ ॥
ब्रह्मैवाहं जडो नाहमहं ब्रह्म न मे मृतिः ।
ब्रह्मैवाहं न च प्राणो ब्रह्मैवाहं परात्परः ॥ ३४ ॥
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म प्रभुर्हि सः ।
कालो ब्रह्म कला ब्रह्म सुखं ब्रह्म स्वयंप्रभम् ॥ ३५ ॥

सब ब्रह्म ही है, अन्य कोई पदार्थ नही है । वह मैं हूं—वह मैं

हीं हूँ—वह मैं ही हूँ, और मैं सनातन ब्रह्म ही हूं ॥ ३१ ॥ मैं ब्रह्म ही हूँ, संसारी नहीं हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, मेरे मन नहीं है; मैं ब्रह्म ही हूँ, मेरे बुद्धि नहीं है, मैं ब्रह्म ही हूँ, मेरे इन्द्रियाँ नही है ॥ ३२ ॥ मै ब्रह्म ही हूँ, देह नहीं हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, विषय नही हूँ, मै ब्रह्म ही हूँ, जीवन नही और मैं ब्रह्म ही हूँ, भेद का स्थान नहीं ॥ ३३ ॥ मैं ब्रह्म ही हूं, मेरी मृत्यु नही है, मैं ब्रह्म ही हूँ, प्राण नही. मै ब्रह्म ही हूँ और परसे पर हूँ ॥ ३४ ॥ यह ब्रह्म है, दूसरा भी ब्रह्म है, सत्य ब्रह्म है और वही प्रभु है, काल ब्रह्म है, कला ब्रह्म है और सुख स्वयं प्रकाश ब्रह्म है ॥ ३५ ॥

> एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम् ।
> दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः ॥ ३६ ॥
> लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः ।
> पूर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म शुद्धं ब्रह्म शुभाशुभम् ॥ ३७ ॥
> जीव एव सदा सच्चिदानन्दमस्म्यहम् ।
> सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥ ३८ ॥
> स्वयं ब्रह्म न संदेहः स्वस्मादन्यन्न किंचन ।
> सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमद्वयम् ॥ ३९ ॥
> नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किंचन ।
> अणुमात्रलसद्रूपमणुमात्रमिदं जगत् ॥ ४० ॥

एक ब्रह्म है, द्वैत ब्रह्म है, मोह ब्रह्म है, शम आदि ब्रह्म है, दोष ब्रह्म है, गुण ब्रह्म है, दम-शांति ब्रह्म है और वही विभु तथा प्रभु है ॥ ३६ ॥ लोक ब्रह्म है, गुरु ब्रह्म, है, शिष्य, सदाशिव ब्रह्म है, पूर्व ब्रह्म पिछला ब्रह्म है और शुद्ध ब्रह्म ही शुभाशुभ है ॥ ३७ ॥ जीव ही सदा ब्रह्म है, मै सच्चिदानन्द हूँ, सब ब्रह्ममय कहलाता है और सब जगत ब्रह्ममय ही है ॥ ३८ ॥ स्वयं ब्रह्म है, इसमें सन्देह नहीं, स्वयं से भिन्न कोई नही है, सब आत्मा ही है, शुद्ध आत्मा सर्व रूप और

मात्र अद्वैत चैतन्य है ।। ३९ ।। आत्मा नित्य निर्मल स्वरूप है, आत्मा से भिन्न कुछ भी नही है, मात्र अणु स्वरूप में प्रकाशित होती है, यह जगत मात्र अणु स्वरूप है ।। ४० ।।

अणुमात्रं शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम् ।
अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ।। ४१ ।।

ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम् ।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किंचिन्न किंचन ।। ४२ ।।
चैतन्यमात्रमोंकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम् ।
अहमेव जगत्सर्वमहमेव परं पदम् ।। ४३ ।।
अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः ।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ।। ४४ ।।
अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात्सुखम् ।
आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति आत्मनोऽन्यत्सुखं न च ।। ४५ ।।

शरीर मात्र अणु है, अणुमात्र असत्य है, अणुमात्र अचिन्त्य है अथवा अणुमात्र चिन्तनीय है ।। ४१ ।। ब्रह्म ही सर्वत्र चैतन्य है, तीनों जगत मात्र ब्रह्म है, वह आनन्द और परमानन्द है, अन्य कुछ नही है, कुछ भी नही है ।। ४२ ।। मात्र चैतन्य ॐकार है, ब्रह्म ही स्वयं सर्वत्र है, मै भी सर्व जगत हूँ और मैं ही परम पद हूँ ।। ४३ ।। मैं ही गुणातीत हूँ, मैं ही पर से पर हूँ, मै ही परब्रह्म हूँ और मैं ही गुरु का गुरु हूँ ।। ४४ ।। मैं ही सबका आधार हूं, मैं ही सुख में सुख हूँ, आत्मा से भिन्न जगत नही है और आत्मा से भिन्न सुख नही है ।। ४५ ।।

आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।
आत्मनोऽन्यन्नहि क्वापि आत्मनोऽन्यत्तृणं न हि ।। ४६ ।।
आत्मनोऽन्यत्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ।
ब्रह्ममात्रमिद सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ।। ४७ ।।
ब्रह्ममात्रं श्रुतं सर्वं स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ।

ब्रह्ममात्रं वृतं सर्वं ब्रह्ममात्रं रसं सुखम् ॥ ४८ ॥
ब्रह्ममात्रं चिदाकाशं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
ब्रह्मणोऽन्यतरन्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ॥ ४९ ॥
ब्रह्मणोऽन्यदहं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्फलं न हि ।
ब्रह्मणोऽन्यतृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि ॥ ५० ॥

आत्मा से भिन्न गति नहीं है, सब जगत आत्मामय है, आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है और आत्मा से भिन्न एक तिनका भी नहीं है ॥ ४६ ॥ आत्मा से भिन्न एक छिलका भी नहीं है, समस्त जगत आत्म-मय है; यह सब कुछ ब्रह्म ही है, और मात्र ब्रह्मरूप होने के कारण कुछ भी असत् नहीं है ॥ ४७ ॥ सब कुछ सुना हुआ ब्रह्म ही है, स्वयं केवल ब्रह्म ही है, सब बना हुआ ब्रह्म है और पृथक कुछ है ही नहीं; ब्रह्म से भिन्न जगत नहीं है ॥ ४९ ॥ ब्रह्म से भिन्न मैं नहीं हूं; ब्रह्म से भिन्न फल नहीं है; ब्रह्म से भिन्न तृण भी नही है और ब्रह्म से भिन्न कोई पद नहीं है ॥ ५० ॥

ब्रह्मणोऽन्यद्गुरुर्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः ।
ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहंता त्वत्तेदन्ते न हि क्वचित् ॥ ५१ ॥
स्वयं ब्रह्मात्मकं विद्धि स्वस्मादन्यन्न किंचन ।
यत्किंचिद्दृश्यते लोके यत्किंचिद्भाष्यते जनैः ॥ ५२ ॥
यत्किंचिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि ।
कर्तृभेदं क्रियाभेदं गुणभेदं रसादिकम् ॥ ५३ ॥
लिङ्गभेदमिदं सर्वमसदेव सदा सुखम् ।
कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं जयाजयम् ॥ ५४ ॥
यद्यद्भेदं च तत्सर्वमसदेव हि केवलम् ।
असदन्तःकरणकमसदेवेन्द्रियादिकम् ॥ ५५ ॥

ब्रह्म से पृथक् गुरु नहीं है, ब्रह्म से भिन्न असत् शरीर नहीं है और ब्रह्म से भिन्न 'तू' 'यह' कुछ भी कहीं नहीं है ॥ ५१ ॥ तू

स्वयं को ब्रह्मरूप जान, स्वयं से भिन्न कुछ भी नही है, लोकों में जो कुछ दिखाई पड़ता है और मनुष्य जो कुछ बोलते हैं, जो कुछ खाया है और भोगा जाता है, वह सब असत् ही है। कर्त्ता का भेद क्रिया का भेद, गुण का भेद, रस आदि और जाति का भेद, यह सब असत् ही है। सदैव केवल सुख ही है। काल का भेद, देना का भेद, वस्तु का भेद, जय और पराजय आदि जो-जो भेद है, वे सव मिथ्या हैं। अन्तः करण मिथ्या ही है और इन्द्रियाँ आदि असत् हैं ॥ ५२-५५ ॥

असत्प्राणादिकं सर्वं संघातमसदात्मकम्।
असत्यं पञ्चकोशाख्यमसत्यं पञ्च देवताः ॥ ५६ ॥
असत्यं षड्विकारादि असत्यमरिवर्गकम्।
असत्यं षड्तुश्चैव असत्यं षड्सस्तथा ॥ ५७ ॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्।
आत्मैवाहं परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः ॥ ५८ ॥
सत्यमानन्दरूपोऽहं चिद्घनानन्दविग्रहः।
अहमेव परानन्द अहमेव परात्परः ॥ ५९ ॥
ज्ञानाकारमिदं सर्वं ज्ञानानन्दोऽहमद्वयः।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं सर्वाभावस्वरूपकः ॥ ६० ॥

प्राणादि सब असत् हैं, संघातरूप शरीर असत् है, जो पांच कोश कहे जाते हैं वे भी असत् है और पाँच देव असत्य हैं ॥ ५६ ॥ छः विकार आदि असत्य हैं, शत्रु आदि असत्य है, छः ऋतु असत्य हैं ॥५७॥ केवल मैं सच्चिदानन्द हूँ, यह जगत उत्पन्न नहीं हुआ है—आत्मा ही परम सत्य है, संसार की अन्य दृष्टियाँ सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥ मैं वास्तव में आनन्दरूप हूँ, चैतन्य से व्याप्त आनन्द रूप शरीर वाला हूँ, मैं ही परमानन्द और पर से पर हूं ॥ ५९ ॥ यह सब ज्ञान का आकार है, मैं अद्वैत ज्ञाननन्द हूं, मैं सर्व प्रकाश रूप हूं और अन्य सब अभावरूप है ॥ ६० ॥

अहमेव सदा भामीत्येवंरूपं कुतोऽप्यसत् ।
त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ।। ६१ ।।
चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम् ।
आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ।। ६२ ।।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
कालं नास्ति जगन्नास्ति मायाप्रकृतिरेव न ।। ६३ ।।
अहमेव हरिः साक्षादहमेव सदाशिवः ।
शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्धासत्त्वानुभावनः ।। ६४ ।।
अद्वयानन्दमात्रोऽह चिद्घनैकरसोऽस्म्यहम् ।।
सर्व ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।। ६५ ।।

मैं ही सदा प्रकाशमान हूं, उससे ऐसा असत् रूप कैसे हो सकता है ? जिसे 'तू' कहाजाता है वही परब्रह्म, चैतन्यमय और आनन्द स्वरूप वाला है ।। ६१ ।। चैतन्य के आकार रूप चिदाकाश है, चैतन्य ही परम सुख है । मैं ही आत्मा हूं, मैं असत् नही हूँ, मै कूटस्थ हूं और परम गुरु हूँ ।। ६२ ।। मैं मात्र सच्चिदानन्द हूं, यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, काल नहीं है, जगत नहीं है और माया रूप प्रकृति भी नहीं है ।। ६३ ।। मैं ही साक्षात् श्रीहरि हूं, मैं ही सदाशिव हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य रूप भाव पदार्थ हूँ और शुद्ध सत्वगुण का अनुभव करने वाला हूँ ।। ६४ ।। मैं अद्वैत आनन्द मात्र हूं, मैं चैतन्य व्याप्त एक रस हूं, सब कुछ निरन्तर ब्रह्म ही है, समस्त केवल ब्रह्म ही है ।। ६५ ।।

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम् ।
सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणः ।। ६६ ।।
परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परा गतिः ।
सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ।। ६७ ।।
योगानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दमहोदयः ।
सर्वज्ञानप्रकाशोऽस्मि मुख्यविज्ञानविग्रहः ।। ६८ ।।

तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि तुर्यातुर्यादिवर्जितः ।
चिदक्षरोऽहं सत्योऽहं वासुदेवोऽजरोऽमरः ।। ६९ ।
अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम् ।
शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकम् ।। ७० ।।

सर्व सतत् ब्रह्म ही है, सर्व चैतन्य ब्रह्म ही है, मैं सर्व का अन्तर्यामी रूप हू और सबका साक्षी रूप लक्षण वाला हूँ ।। ६६ ।। मैं परमात्मा हूं, परम ज्योति हूँ, परमधाम हूँ, सर्व वेदान्त का सार हूँ और सर्व शास्त्रों द्वारा भली प्रकार निश्चय किया हुआ हूँ ।। ६७ ।। मैं योगानन्द स्वरूप हूँ, मुख्य आनन्दरूप महान् उदय वाला हूँ, सर्वज्ञान का प्रकाश हूं और मुख्य विज्ञान शरीर वाला हूँ ।। ६८ ।। मैं चौथा--चौथा प्रकाश हूँ, तुरीय नहीं— तुरीय आदि से रहित हूं। मैं चैतन्य अक्षर हूँ, मैं सत्य हूं, वासुदेव हूँ, अजर और अमर हूँ ।। ६९।। मैं चिदाकाश ब्रह्म हूं, नित्य निरंजन ब्रह्म हूँ, शुद्ध, बुद्ध, सदा मुक्त, नाम रहित और रूप रहित हूँ ।। ७० ।।

सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
सत्यासत्यं जगन्नास्ति संकल्पकलनादिकम् ।। ७१ ।।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ।
अनन्तमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ।। ७२ ।।
मत्तोऽन्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।
वन्ध्याकुमारवचने भीतिश्चेदस्ति किंचन ।। ७३ ।।
शशश्रृङ्गेण नागेन्द्रो मृतश्चेज्जगदस्ति तत् ।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तश्चेदस्त्विदं जगत् ।। ७४ ।।
नरश्रृङ्गेण नष्टश्चेत्कश्चिदस्त्विदमेव हि ।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवति सर्वदा ।। ७५ ।।

मैं सच्चिदानन्द रूप हूं, यह जगत उत्पन्न नहीं हुआ है, सत्य या असत्य जगत नहींहै और संकल्पों की घटना आदि भी नहींहै ।।७१।।

सदाकाल नित्य आनन्दमय ब्रह्म केवल स्वयं ही है और अनन्त, अविनाशी, शांत, एक रूप तथा निर्दोष-निरोगी है ।। ७२ ।। मेरे से भिन्न जो कुछ हैं, तो वह मरीचिका के जल की तरह मिथ्या है, बन्ध्या पुत्र के वचन से जो भय हो, वह वैसा ही मिथ्या है ।। ७३ ।। शशक शृंग से जो एक बड़ा हाथी मारा गया हो तो यह जगत वैसा ही है। मृग मरीचिका का जल पीकर यदि कोई तृप्त हुआ हो तो यह जगत वैसा ही है ।। ७४ ।। आदमी के सींग से अगर कोई मारा गया हो, तो यह जगह वैसा ही है, गन्धर्व का नगर यदि सत्य हो तो यह जगत भी सर्वदा सत्य हो सकता है ।। ७५ ।।

गगने नीलिमासत्ये जगत्सत्यं भविष्यति ।
शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगद्भवेत् ।। ७६ ।।
रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु संसृतिः ।
जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ।। ७७ ।।
विन्ध्याटव्यां पायसान्नमस्ति चेज्जगदुद्भवः ।
रम्भास्तम्भेन काष्ठेन पाके सिद्धे जगद्भवेत् ।। ७८ ।।
सद्यःकुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत् ।
चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्चेदस्त्विदं जगत् ।। ७९ ।।
मासात्पूर्वं मृतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत् ।
तक्रं क्षीरस्वरूपं चेत्क्वचिन्नित्यं जगद्भवेत् ।। ८० ।।

आकाश में दिखलाई देने वाला आकाश का नीला रङ्ग जो सत्य हो, तो यह जगत भी सत्य होगा, सीप में दिखलाई पड़ने वाले चाँदी के रङ्ग से अगर आभूषण बनाया जा सके, तो यह जगत भी सम्भव हो सकता है ।। ७६ ।। डोरी में भ्रम वश दिखाई पड़ने वाले सांप से अगर मनुष्य डस लिया जाय तो यह संसार भले ही सत्य हो, और सोने के बाण से ज्वालायुक्त अग्नि का नाश हो गया हो तो जगत भले ही हो ।। ७७ ।। विध्याचल के घोर अरण्य में अगर खीर हो तो

जगत भले ही हो, और केला के तने से अगर रसोई बनती हो तो जगत भले ही हो ॥ ७८ ॥ तुरन्त उत्पन्न हुई कन्या के द्वारा अगर रसोई तैयार की गई हो, तो जगत भी हो सकता है; और चित्र में खींचे हुये दिये से अंधेरा दूर होता हो तो जगत भले ही हो ॥ ७९ ॥ महीना भर पहले मरा हुआ मनुष्य जो वापस आ गया हो, तो जगत भले ही हो, और मठा (छाछ) यदि फिर से दूध बन जाय तो, जगत भले ही हो ॥ ८० ॥

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत् ।
भूरजोऽब्धौ समुत्पन्ने जगद्भवतु सर्वदा ॥ ८१ ॥
कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदस्तु तदोत्कटे ।
नालस्थतन्तुना मेरुश्चेलितश्चेज्जगद्भवेत् ॥ ८२ ॥
तरङ्गमालया सिन्धुर्बद्धश्चेदस्त्विदं जगत् ।
अग्नेरधश्चेज्ज्वलनं जगद्भवतु सर्वदा ॥ ८३ ॥
ज्वालावह्निः शीतलश्चेदस्तिरूपमिदं जगत् ।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदस्त्विदम् ॥ ८४ ॥
महच्छैलेन्द्रनीलं वा संभवेच्चेदिदं जगत् ।
मेरुरागत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत ॥ ८५ ॥

गाय के थन से निकला हुआ दूध जो फिर से थन में भर दिया जाय तो जगत भी भले ही हो, और पृथ्वी की धूल का यदि समुद्र बन जाय तो जगत भले ही हो ॥ ८१ ॥ कछुआ के रोंगटे से यदि महा मत्त हाथी बाँधा गया हो, तो जगत भले ही हो, और कमल नील के तन्तु से मेरु पर्वत चलायमान हो तो जगत भले ही हो ॥ ८२ ॥ तरंगों की पंक्ति से यदि समुद्र बाँधा गया हो, और अग्नि (दीपक) के नीचे उजेला हो तो, जगत भले ही हो ॥ ८३ ॥ अग्नि की ज्वालाएँ जो शीतल हों, तो जगत भले ही हो, और ज्वालायुक्त अग्नि के मंडल में कमलों की वृद्धिहो तो यह जगत चाहे हो सके ॥८४॥ महान

पर्वत के ऊपर यदि नील कमल उत्पन्न हो, तो यह जगत भी चाहे हो सके, और मेरु पर्वत आकर यदि कमल के पुष्प के ऊपर बैठ जाय तो यह जगत भी चाहे हो सके ॥ ८५ ॥

निगिरिश्चेद्भृङ्गसूनुर्मेरुश्चलवदस्त्विदम् ।
मशकेन हते सिंहे जगत्सत्यं तदाऽस्तु ते ॥ ८६ ॥
अणुकोटर विस्तीर्णे त्रैलोक्यं चेज्जगद्भवेत् ।
तृणानलश्च नित्यश्चेत्क्षणिकं यज्जगद्भवेत् ॥ ८७ ॥
स्वप्नदृष्टं च यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्भवः ।
नदीवेगो निश्चलश्चेत्केनापीदं भवेज्जगत् ॥ ८८ ॥
क्षुधितस्याग्नि भोज्यश्चेन्निमिषं कल्पितं भवेत् ।
जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगत्सदा ॥ ८९ ॥
नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेद्भवेज्जगत् ।
निर्मितः शशशृङ्गेण रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥ ९० ॥

भौंरे का बच्चा यदि मेरु पर्वत को निगल जाय तो जगत भी चाहे हो सके और मच्छर यदि सिंह को मार दे तो यह जगत भी चाहे हो सके ॥ ८६ ॥ परमाणु के भीतर जो तीनों लोक हो सकें, तो जगत भी चाहे हो सके, और घास की अग्नि यदि चिरकाल तक स्थिर रहे तो यह क्षणिक जगत भी चाहे सत्य हो जाय ॥ ८७ ॥ स्वप्न में देखी हुई वस्तु यदि जाग्रत अवस्था में दिखाई दे, तो जगत की उत्पत्ति भी चाहे हो, और नदी का बहाव यदि निश्चल रहे, तो यह जगत भी किसी दृष्टि से सत्य हो जाय ॥ ८८ ॥ भूखा मनुष्य यदि अग्नि को खाकर पेट भर सके तो कल्पित भी चाहे सत्य मान लिया जाय, और जन्मान्ध मनुष्य यदि भली प्रकार से रत्नों की परीक्षा कर सके तो जगत का होना भी संभव मान लिया जाय ॥ ८९ ॥ नपुंसक के पुत्र को यदि स्त्री का सुख प्राप्त हो, तो यह जगत भी चाहे हो सके; और शशक के सींग से बना हुआ रथ यदि हो तो जगत भी चाहे हो सके ॥ ९० ॥

सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेज्जगत् ।
वन्ध्या गर्भाप्ततत्सौख्यं ज्ञाता चेदस्त्विदं जगत् ।।६१।।
काको वा हंसवद्गच्छेज्जगद्भवतु निश्चलम् ।
महाखरो वा सिंहेन युध्यते चेज्जगत्स्थितिः ।। ६२ ।।
महाखरो गजगतिं गतश्चेज्जगदस्तु तत् ।
संपूर्णचन्द्रसूर्यश्चेज्जगद्भातु स्वयं जडम् ।। ६३ ।।
चन्द्रसूर्यादिकौ त्यक्त्वा राहुश्चेद्दृश्यते जगत् ।
भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेज्जगदस्तु सत् ।। ६४ ।।
दरिद्रो धनिकानां च सुखं भुङ्क्ते तदा जगत् ।
शुनां वीर्येण सिंहस्तु जितो यदि जगत्तदा ।। ६५ ।।

तुरन्त ही जन्मी कन्या यदि युवती के सदृश्य आचरण कर सके तो यह जगत भी हो और बांझ स्त्री गर्भ रहने के बाद उसके सुख को जाने तो जगत भले ही हो ।। ६१ ।। कौआ जो हंस के समान चलने लगे, तो यह जगत भी सत्य माना जाय और बड़ा सा गधा यदि सिंह के साथ युद्ध करे, तो यह जगत भी संभव हो ।। ६२ ।। बड़ा गधा जो हाथी की चाल चले तो यह जगत चाहे हो और पूर्ण चन्द्रमा यदि सूर्य बन जाय तो यह जड़ जगत भी स्वयं प्रकाशमान हो ।।६३।। चन्द्र तथा सूर्य को तज कर जो राहु दिखाई दे, तो यह जगत भी दृष्टिगोचर हो और भूने हुये बीज का वृक्ष यदि वृद्धि को प्राप्त हो, तो यह जगत भी सत् समझा जाय ।। ६४ ।। दरिद्र मनुष्य धनवान की तरह सुख भोगने लगे, तो यह जगत भी चाहे हो और कुत्ता अपने पराक्रम से सिंह को जीत ले तो यह जगत भी संभव हो ।।६५।।

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्ज्ञातं चेत्कल्पनं तदा ।
श्वानेन सागरे पीते निःशेषेण मनो भवेत् ।। ६६ ।।
शुद्धाकाशो मनुष्येषु पतितश्चेत्तदा जगत् ।
भूमौ वा पतितं व्योम व्योमपुष्पं सुगन्धकम् ।। ६७ ।।

शुद्धाकाशे वने जाते चलिते तु तदा जगत् ।
केवले दर्पणे नास्ति प्रतिबिम्बं तदा जगत् ॥ ९८ ॥
अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्न हि ।
सर्वथा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते ॥ ९९ ॥
मायाकार्यमिदं भेदमस्ति चेद्ब्रह्मभावनम् ।
देहोऽहमिति दुःखं चेद्ब्रह्माहमिति निश्चयः ॥ १०० ॥

ज्ञानी के हृदय को यदि मूढ़ मनुष्यों ने जान लिया हो तो यह जगत भी चाहे हो और कुत्ता जो सम्पूर्ण समुद्र को पी गया हो तो यह मन रूप जगत भी चाहे हो सके ॥ ९६ ॥ अगर शुद्ध आकाश मनुष्यों के ऊपर गिर पड़े, तो जगत भी चाहे हो और आकाश में उत्पन्न सुगन्धित फूल पृथ्वी पर गिरा हो, तो जगत भी संभव हो जाय ॥९७॥ शुद्ध आकाश में यदि बगीचा लगाया गया हो और फला फूला हो तो जगत भी चाहे हो और उत्तम दर्पण में यदि प्रतिबिम्व न पड़े तो जगत भी चाहे हो ॥ ९८ ॥ जिस प्रकार बकरा के पेट में जगत नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा के पेट में भी जगत की स्थिति नहीं हो सकती । सर्व प्रकार के भेद की गिनती और द्वैत-अद्वैत है ही नहीं ॥ ९९ ॥ इस माया का कार्य जो भेद रूप है, तो ब्रह्म की भावना करनी और "मैं देह हूँ" ऐसा मानने से जो दुःख जान पड़ता हो तो 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करना ॥१००॥

हृदयग्रन्थिरस्तित्वे छेदने ब्रह्मचक्रकम् ।
संशये समनुप्राप्ते ब्रह्मनिश्चयमाप्नुयात् ॥ १०१ ॥
अनात्मरूपचोरश्चेदात्मरत्नस्य रक्षणम् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥ १०२ ॥
एवमादिसुदृष्टान्तैः साधितं ब्रह्ममात्रकम् ।
ब्रह्मैव सर्वं भवनं भुवनं नाम संत्यज ॥ १०३ ॥

अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहंभावं परित्यज ।
सर्वमेव लयं याति सुप्तहस्तस्थपुष्पवत् ॥ १०४ ॥
न देहो न च कर्माणि सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
न भूतं न च कार्यं च न चावस्थाचतुष्टयम् ॥ १०५ ॥

हृदय रूपी गाँठ यदि हो तो ब्रह्म रूप चक्र उसे काट डालेगा और यदि कोई संशय जान पड़े तो ब्रह्म रूप निश्चय का ही आश्रय लिया जाय ॥ १०१ ॥ अनात्मा रूप चोर हो तो, आत्मा रूप रत्न की रक्षा करनी चाहिये । सर्व काल में नित्य आनन्दमय ब्रह्म केवल स्वयं ही है ॥ १०२ ॥ उपर्युक्त दृष्टान्तों से ब्रह्म को ही सिद्ध किया गया है; इस लिये ब्रह्म ही सबका निवास स्थल है, भुवन (जगत) के नाम को तू त्याग दे ॥ १०३ ॥ 'मै ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके अहंभाव का त्याग करो; इससे सोते हुये के हाथ मे लिये फूल की तरह सब लय हो जाता है ॥ १०४ ॥ देह कुछ नहीं है, कर्म भी नहीं है, जो कुछ है वह ब्रह्म ही है । भूत नहीं है, कोई कार्य नहीं है और चारों अवस्थाएँ भी नही हैं ॥ १०५ ॥

लक्षणात्रयविज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय ॥ १०६ ॥
अहं ब्रह्म न संदेहो ह्यहं ब्रह्म चिदात्मकम् ।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमिति निश्चित्य तत्त्यज ॥ १०७ ॥
शांकरीयं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् ।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ १०८ ॥
गुरुभक्तिविशुद्धान्त.करणाय महात्मने ।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षाण्मासवत्सरम् ॥ १०९ ॥
सर्वोपनिषदभ्यासं दूरतस्त्यज्य सादरम् ।
तेजोबिन्दूपनिषदमभ्यसेत्सर्वदा मुदा ॥ ११० ॥
सकृदभ्यासमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत् ॥ १११ ॥

तीन लक्षणाओं का विशेष ज्ञान रूप सब कुछ ब्रह्म ही है, इस लिये सब व्यापारों को त्याग कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना कर ॥१०६॥ 'मैं ब्रह्म हूँ' इसमें सन्देह नहीं है। मैं चैतन्य रूप ब्रह्म ही हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द हूँ, ऐसा निश्चय करके, इस निश्चय का भी त्यागकर ॥ १०७ ॥ शङ्कर का यह महान शास्त्र है, उसे जो कोई नास्तिक, कृतघ्नी, दुराचारी और दुष्टात्मा हो, उसको नहीं देना ॥ १०८ ॥ पर जिसका अन्तःकरण गुरुभक्ति से शुद्ध हो, ऐसे मनुष्यों की एक महीना, छः महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही, इस शास्त्र को देना ॥ १०९ ॥ सब उपनिषदों का अभ्यास त्यागकर, आदरपूर्वक इस तेजोविन्दु उपनिषद का सदा आनन्द से अभ्यास करना, क्योंकि इसका एकबार अभ्यास करने से स्वयं ब्रह्म ही बन जाता है, स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, ऐसा यह रहस्य है ॥१११॥

॥ छठा अध्याय समाप्त ॥

॥ इति तेजोबिन्दु उपनिषद् समाप्त ॥

क्षुरिकोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्य करवा वहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषा वहै । ॐ शांतिः, शातिः, शांतिः ।

शांति पाठ—ॐ ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) का साथ ही भला करो । हमारा दोनों का साथ ही पालन करो । हम दोनों साथ ही पराक्रम करें । हमारी दोनों की विद्या-बुद्धि, तेजस्वी हो हम किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये ।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥ १ ॥

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा ।
निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥ २ ॥

कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः ॥ ३ ॥

पूरयेत् सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च ।
उरोमुखकटिग्रीवं किंचिद्धृदयमुन्नतम् ॥ ४ ॥

प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरुच्छ्वासमुच्छ्वसेत् ॥ ५ ॥

योग की सिद्धि के लिये धारणा रूप क्षुरिका अर्थात छुरी को मैं यहाँ बतलाता हूँ, जिसको प्राप्त करके योगयुक्त होने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता ॥१॥ हल्ला-गुल्ला से रहित स्थानमें आसन लगाकर बैठना और जिस प्रकार कछुवा अपने अवयवों को सिकोड़ लेता है वैसे ही मनको हृदय में

रोकना। इसके पश्चात् धीरे-धीरे बारह मात्रा वाले ॐकार द्वारा वेद में तत्वार्थ रूप से विधान किया हुआ और ब्रह्म के बतलाइये हुये पूरक प्राणायाम से समस्त शरीर को पूर्ण करना। छाती, मुख, रीढ, गर्दन और हृदय को कुछ ऊँचा रखना ॥ २-४ ॥ फिर नाक के भीतर चलते प्राण को हृदय में धारण करना। इस प्रकार कुम्भक रूप में रह कर वहां प्राण के पहुँच जाने पर उसे धीमे-धीमे छोड़ना (अर्थात् रेचक करना) ॥ ५ ॥

स्थिरमात्मदृढं कृत्वा अंगुष्ठेन समाहितः ।
द्वे गुल्फे तु प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः ॥ ६ ॥
द्वे जानुनी तथोरू द्वे गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः ।
पायोरायतनं तत्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ॥ ७ ॥
तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडिभिर्दशभिर्वृता ।
तत्र रक्ता च पीता च कृष्णा ताम्रा विलोहिता ॥ ८ ॥
अतिसूक्ष्मा च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत् ।
तत्र सञ्चारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ॥ ६ ॥
ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत् ।
दहरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते ॥ १० ॥

इस प्रकार इस अभ्यास के स्थिर और दृढ हो जाने पर पूर्ण सावधान रह कर पैर के अंगूठा से लेकर दोनों गुल्फों में दो-दो, दोनों जाँघों में दो-दो, दोनों जानुओं में तथा उपस्थ और गुदा इन्द्रिय में तीन-तीन प्राणायाम करने और फिर वायु के स्थान नाभि-प्रदेश का आश्रय करना ॥ ६-७ ॥ वहाँ सुषुम्णा नाम की नाड़ी है, वह अनेक नाडियों से लिपटी हुई है; उनमें से कितनी ही सूक्ष्म, लाल, पीली, काली और ताँबे के रङ्ग की हैं ॥ ८ ॥ पर जो नाडी अत्यन्त सूक्ष्म, पतली और श्वेत है उसका आश्रय करना, जैसे ऊर्णनाभि अपनी लार के तन्तु द्वारा संचार करता है, उसी प्रकार योगी को उस नाड़ी में

प्राणों का संचार करना चाहिये ॥ ९ ॥ इसके पश्चात् वेदान्त में जिसको "दहर पुण्डरीक" कहते हैं, उस (हृदय रूप) बड़े पुरुष (आत्मा) का जो स्थान है, वह लाल कमल के समान प्रकाशित होता है ॥१०॥

तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तन्नाडीं पूरयेदिति ।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥ ११ ॥
पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत् ।
मनोधारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥ १२ ॥
इन्द्रवज्रमिति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम् ।
तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥ १३ ॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम् ।
चतुरभ्यस्य योगेन छिन्देदनभिशङ्कितः ॥ १४ ॥
ततः कण्ठान्तरे योगी समूहेन्नाडिसञ्चये ।
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा ॥ १५ ॥

उसे भेद कर वायु उक्त नाड़ी को भरता हुआ कण्ठ में आता है; इस लिये योगी को बुद्धि द्वारा निर्मल अतिशय तीक्ष्ण मन रूप छुरी को लेकर पैरों से ऊपर मध्य भाग में जो नाम तथा रूप है, उसे काट डालना। ऐसे तीक्ष्ण मन द्वारा नित्य योग का अभ्यास करना ॥ ११-१२ ॥ फिर "इन्द्रवज्र" नाम का स्थान, जो जंघा में बतलाया जाता है उसे ध्यान योग के बल से और धारणा से काट डालना ॥ १३ ॥ फिर दोनों उरुओं के बीच प्राण को स्थापित करके उसे मर्म भागों में ले जाना चाहिये और चार बार योगाभ्यास करके निशङ्क होकर मर्म भागों को काट डालना चाहिये ॥ १४ ॥ फिर योगी कण्ठ के भीतर नाड़ियों को इकट्ठी करता है। उनमें से एक सौ एक श्रेष्ठ नाड़ी कही गई हैं ॥ १५ ॥

सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ॥ १६ ॥

तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित् ।
द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥ १७ ॥
छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते ।
योगनिर्मलसारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥ १८ ॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि ।
जातीपुष्पसमं योगी यदा पश्यति तैतिलम् ॥ १९ ॥
एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडीनां विभावयेत् ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥ २० ॥

सुषुम्णा परतत्व में लीन है, विरजा ब्रह्म रूप है, इड़ा बाईं तरफ रहती है और पिङ्गला दाहिनी तरफ है ॥ १६ ॥ इन दोनों नाड़ियों के बीच जो उत्तम स्थान है, उसे जो जानता है, वह वेद का जानने वाला है । समस्त सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार है जिनको "तैतिल" कहते है ॥ १७ ॥ ध्यान योग से ये सब नाड़ियाँ छेदी जाती हैं; एक सुषुम्णा नही छेदी जाती । धीर पुरुष को इस जन्म में आत्मा के प्रभाव से अग्नि के समान तेजस्वी और योग रूपी निर्मल धार वाली (मन रूपी) छुरी से सब नाड़िओं को छेदना चाहिये; इससे तैतिल नाड़ियाँ उसी प्रकार सुवासित हो जाती है जिस प्रकार जवा पुष्पों से तिल सुवासित हो जाते है ॥ १८-१९ ॥ इस प्रकार शुभाशुभ भावों से सुषम्णा नाड़ी का ध्यान करना । उसमें भावना करने से मनुष्य पुनर्जन्म से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥२०॥

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः ।
निःसङ्गः साङ्ख्ययोगज्ञो निरपेक्षः शनैःशनैः ॥ २१ ॥
पाशान् छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्पतेत् ।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥ २२ ॥
यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत् ।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥ २३ ॥

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेणयोगवित् ।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तन्तुं न बध्यते ॥ २४ ॥
इत्युपनिषत् ॥

तप द्वारा जिसने चित्त को जीत लिया है वह शब्द रहित एकान्त प्रदेश में बैठकर निःसंग तत्व के योग का अभ्यास करे और धीरे-धीरे निरपेक्ष हो जाय ॥ २१ ॥ हंस जिस प्रकार निःशंक होकर आकाश में उड़ जाता है; उसी प्रकार इस अभ्यास द्वारा समस्त बन्धनों के कट जाने से बन्धनमुक्त हो संसार से सदा के लिये पार हो जाता है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार दिये के बुझने के समय, उसका समस्त तेल जलकर समाप्त हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों को जला कर भस्म करके ब्रह्म में लय पाता है ॥ २३ ॥ प्राणायाम द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण बनाई, ॐकार रूप धार वाली और वैराग्य रूप पत्थर पर घिसी हुई (मन रूपी) छुरी से संसार रूपी सूत्र को काट कर योगवेत्ता मनुष्य फिर उसके द्वारा नहीं बाँधा जाता ॥ २४ ॥ जब वह कामनाओं से छूटता है और समस्त ऐषणाओं से रहित होता है, तब अमृतत्व को पाता है। इस प्रकार संसार को काट डालने पर वह बन्धन में नहीं पड़ता ऐसा यह रहस्य है ॥ २५ ॥

॥ इति अथर्ववेद का क्षुरिकोपनिषद समाप्त ॥

योगतत्त्वोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवा वहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु माविद्विषा बहै । ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः ।

शान्तिः पाठ—ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करें, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो । हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शांति, शांति, शांति ।।

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया ।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। १ ।।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।। २ ।।
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः ।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ।। ३ ।।
तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ।। ४ ।।
तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मुक्तितारकम् ।। ५ ।।

योगियों की हित दृष्टि से मैं योग तत्व को कहता हूँ, जिसके सुनने और पढ़ने से सर्व पाप छूट जाते हैं ।। १ ।। विष्णु ही महायोगी, सब भूतों के आदि महाभूत और महातपस्वी हैं । वे पुरुषोत्तम तत्व-मार्ग में दीपक के समान प्रकाशमान हैं ।। २ ।। ब्रह्माजी ने उन जगत स्वामी की आराधना करके और प्रणाम करके पूछा—"अष्टाङ्ग युक्त

योग का मुझे उपदेश दें ॥ ३ ॥ यह सुन कर हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्व को कहता हूँ, तू ध्यान पूर्वक श्रवण कर—"सब जीव माया के सुख-दुःख रूपी जाल में फँसे हैं ॥ ४ ॥ इस माया के जाल को काट कर उनको मुक्ति का मार्ग दिखलाने वाला और जन्म, जरा, व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला मार्ग यही है ॥ ५ ॥

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६ ॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्य तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥ ७ ॥
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥ ८ ॥
परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।
सर्वं भावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९ ॥
वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १० ॥

कैवल्य रूपी परम पद अन्यान्य मार्गों का आश्रय लेने से दुष्प्राप्य रहता है। तरह-तरह के शास्त्रों के मतों में पड़ कर ज्ञानियों की बुद्धि मोहित हो जाती है ॥ ६ ॥ उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते तब उस स्वात्म प्रकाश रूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है ? ॥ ७ ॥ वह निष्कल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत, निरामय तत्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥ यहाँ प्रश्न होता है कि जब वह परमात्मा पद नित्य, सब भाव से अतीत, ज्ञान रूप और माया से रहित है तो वह जीव भाव को कैसे प्राप्त होता है ? ॥ ९ ॥ उसमें जल के समान स्फुरण हुआ और उसमें अहङ्कार की उत्पत्ति हुई और पाँच महाभूत रूप धातु से बँधा गुणात्मक पिण्ड हुआ ॥ १० ॥

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥ ११ ॥
कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥ १२ ॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥ १३ ॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४ ॥
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥ १५ ॥

उसने सुख-दुःख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया ॥ ११ ॥ काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कार्पण्य, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद, हर्ष—इन सब दोषों से मुक्त हो जाने पर जीव को 'केवल' माना जाता है ॥ १२—१३ ॥ अब इन दोषों को दूर करने का उपाय कहा जाता है। योग रहित ज्ञान किस प्रकार मोक्ष देने वाला हो सकता है? ॥ १४ ॥ ज्ञान रहित योग से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती, इस लिये मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करना चाहिये ॥१५॥

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥ १६ ॥
ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ।
निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७ ॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥ १९ ॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः ।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥ २० ॥

अज्ञान से ही संसार है और ज्ञान द्वारा ही इससे निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय की प्राप्ति हो सकती है ॥ १६ ॥ जिससे अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्य पद, परम पद, निष्कल, निर्मल, सच्चिदानन्द रूप का, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, स्फुरण का ज्ञान हो वही वास्तविक ज्ञान है । इससे आगे योग के विषय में कहते हैं ॥ १७–१८ ॥ हे ब्रह्मा, व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेक भेद है—मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ॥ १९ ॥ योग की चार अवस्थायें सर्वत्र बतलाई गई हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति ॥२०॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये शृणु समासतः ।
मातृकादियुत मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥ २१ ॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥ २२ ॥
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥ २३ ॥
स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु ।
यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ॥ २४ ॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम् ।
समाधिः समताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥ २५ ॥

इनके लक्षण संक्षेप में कहे जाते हैं—जो मात्रायुक्त बारह सौ जप करता है वह क्रम से अणिमा आदि का ज्ञान प्राप्त करता है, पर इस प्रकार के योग को अल्पबुद्धिजन करते हैं और वे अधम श्रेणी के

साधक होते हैं ॥ २१—२२ ॥ चित्त का लय योग है वह बहुत तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करता रहे ॥ २३ ॥ यह तो लय योग हुआ, अब हठयोग को सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रकुटी के मध्य में श्रीहरि का ध्यान, समाधि (साम्यावस्था) को अष्टांग योग कहते हैं ॥ २४-२५ ॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालंधरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥ २६ ॥
दीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रवणं तथा।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ॥ २७ ॥
एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः।
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः ॥ २८ ॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।
सिद्धं पद्मं तथा सिहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २९ ॥
प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम् ॥ ३० ॥

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध खेचरी, जालंधर बंध, उड्डियाण मूलबन्ध; दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त का श्रवण, बज्रोली, अमरोली, सहजोली ये तीन मुद्राऐं हैं ॥ २६-२७॥ हे ब्रह्मा ! अब इनमें से प्रत्येक के लक्षण सुन—यमों में एकमात्र सूक्ष्म आहार ही मुख्य है और नियमों में अहिंसा प्रधान है। सिद्ध, पद्म, सिह तथा भद्र, ये चार आसन मुख्य हैं ॥ २८-२९ ॥ प्रथम अभ्यास काल में विघ्न होते ही हैं जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें, मंत्रादिक का साधन ॥ ३० ॥

धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान् पुण्यप्रभावतः ॥ ३१ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम् ।
सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ॥ ३२ ॥
सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ।
मत्कुणैर्मशकैर्लूकैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥
दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः ।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥ ३४ ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥ ३५ ॥

बुद्धिमान साधक धातु (रुपया) और स्त्री की लोलुपता को मृगतृष्णा समझ कर और विघ्न रूप जान कर त्याग दे ॥ ३१ ॥ तब उसे पद्मासन लगा कर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये और इसके लिये सर्व प्रथम एक अच्छी सी कुटिया छोटे द्वार वाली और बिना छेद की बनावे ॥ ३२ ॥ उसको गोबर से लीप कर सुन्दर बनावे और भली प्रकार स्वच्छ करे और प्रयत्न पूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे ॥ ३३ ॥ उसे प्रतिदिन झाड़-बुहार कर साफ करता रहे और धूप गूगल आदि की धूनी से सुवासित करे ॥ ३४ ॥ न तो बहुत ऊचा, न बहुत नीचा ऐसा वस्त्र, मृगचर्म और कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगावे ॥ ३५ ॥

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अंगुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥ ३६ ॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥ ३७ ॥
पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥ ३८ ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्तयाऽऽपूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९ ॥

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥ ४० ॥

शरीर को सीधा रखे, हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करे, इसके पश्चात् दाँये हाथ के अँगूठे से पिंगला को दबाकर धीरे-धीरे वायु को भीतर खींचे और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करे ॥ ३६-३७ ॥ फिर पिङ्गला द्वारा उस वायु को साधारण गति से बाहर निकाल दे। तत्पश्चात् पिङ्गला से वायु को पेट में भरे और यथाशक्ति धारण करके इडा द्वारा रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु निकाले उसी तरफ से पुनः भर कर दूसरे से निकालता रहे ॥ ३८-३९ ॥ न तो वेग से और न धीरे से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजावे, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है ॥४०॥

इडया वायुमा पूर्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्टया तु मात्रया ॥ ४१ ॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ४२ ॥
प्रातर्माध्यदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ४३ ॥
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥४४॥

पहले इडा से सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, फिर चौंसठ तक कुम्भक करे और तब बत्तीस मात्रा तक इडा नाडी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार पिङ्गला से वायु खीच कर पूर्ववत् क्रिया करे ॥ ४१-४२ ॥ प्रातः, दोपहर संध्या और आधीरात के समय चार बार में शनै-शनै अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ावे ॥४३॥

इस प्रकार तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है और ऐसा होने से उसके चिह्न भी योगी की देह मे दिखलाई देने लगते हैं ।। ४४ ।।

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ।। ४५ ।।
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ।
योगविघ्नकराहार वर्जयेद्योगवित्तमः ।। ४६ ।।
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।। ४७ ।।
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।। ४८ ।।
गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः ।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ।। ४९ ।।
यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः ।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ।। ५० ।।

वे इस प्रकार हैं कि शरीर में हल्कापन जान पड़ता है और जठराग्नि तीव्र हो जाती है, शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। इस अवसर पर योग में विघ्न डालने वाला आहार त्याग देना चाहिये। नमक, तेल, खटाई गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री-प्रसङ्ग, अधिक चलना, प्रातःकाल का स्नान, उपवास और अन्य काया को क्लेश देने वाले कार्यों को त्याग दे। अभ्यास काल के आरम्भ में दूध घी का भोजन ही श्रेष्ठ है ।। ४४-४८ ।। गेहूँ, मूँग, चावल का भोजन योग की वृद्धि करने वाला होता है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को यथेच्छ धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है ।। ४९ ।। यथेष्ट वायु धारण कर

सकने पर 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है और तव रेचक और पूरक को त्याग दे ॥५०॥

न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
प्रस्वेदो जायते पूर्व मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ५१ ॥
ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥ ५२ ॥
ततोऽधिकतराभ्यासात् दर्दरी स्वेन जायते ।
यदा च दर्दरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥ ५३ ॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥ ५४ ॥
पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य गच्छति ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥ ५५ ॥

फिर उस योगी के लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता । अभ्यास करते समय जो पसीना निकल आवे उसे शरीर में ही मल लेना चाहिये ॥ ५१ ॥ इसके पश्चात् वायु की धारणा शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती रहे, इससे आसन पर बैठे हुये साधक के देह में कम्प होने लगता है ॥ ५२ ॥ इससे अधिक अभ्यास होने पर मेंढक की सी चेष्टा होने लगती है, अर्थात् जिस प्रकार मेंढक उछलता है और फिर जमीन पर आ जाता है उसी प्रकार की दशा पद्मासन पर बैठे योगी की होती है । जब अभ्यास और बढ़ता है तो वह भूमि से ऊपर उठने लगता है ॥ ५३-५४ ॥ पद्मासन पर बैठे हुये ही भूमि से ऊपर रहता है । इस प्रकार और भी अतिमानुषी चेष्टायें करने लगता है ॥ ५५ ॥

न दर्शयेच्च सामर्थ्य दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा ॥ ५६ ॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धताऽऽनने ॥ ५७ ॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्बलमुत्पद्यते बहु ॥ ५८ ॥
येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो याऽपि गजो गवय एव वा ॥ ५६ ॥
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥ ६० ॥

पर इस प्रकार की सामर्थ्य और शक्ति को किसी को दिखलाना नही चाहिये वरन् स्वयं ही देखकर अपनी उत्साह वृद्धि करनी चाहिये । फिर थोड़ा बहुत कष्ट योगी को पीड़ित नही कर सकता ॥ ५६ ॥ मल और मूत्र घट् जाता है, निद्रा भी अल्प हो जाती है । कीचड़, नाक, थूक, पसीना मुख की दुर्गन्ध आदि उसको फिर नहीं होती और अभ्यास बढ़ाने से बडी शक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ५७-५८ ॥ इस प्रकार भूचर सिद्धि प्राप्त होने से समस्त भूचरों पर विजय प्राप्त हो जाती है; व्याघ्र, शरभ, हाथो, गवय, सिंह आदि योगी के हाथ के मारने से ही मर जाते है । उसका स्वरूप भी कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है ॥ ६० ॥

तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि सङ्गं करोत्येष तस्य विन्दुक्षयो भवेत् ॥ ६१ ॥
वर्जयित्वा स्त्रियां संगं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥ ६२ ॥
ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३ ॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ॥ ६४ ॥

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा ।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ६५ ॥
अन्योन्यस्याविरोधेन एकतां घटते यदा ।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥ ६६ ॥

उसके रूप को देख कर अनेक स्त्रियाँ उस पर मोहित होकर भोग की आकाङ्क्षा करने लगती है, पर यदि योगी ऐसा करेगा तो उस का वीर्य नाश हो जायगा ॥ ६१ ॥ इस लिये स्त्रियों का ध्यान न करके दृढतापूर्वक अभ्यास करते जाना चाहिये । वीर्य धारण करने से योगी की देह से सुगन्ध आने लगती है ॥ ६२ ॥ तब एकान्त स्थान में बैठ कर प्लुत मात्रा में प्रणव का जप करे जिससे पूर्व जन्म के पापों का क्षय हो ॥ ६३ ॥ यह प्रणव मन्त्र सब प्रकार के विघ्नों और दोषों को दूर करने वाला है और इसका अभ्यास करने से सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं ॥ ६४ ॥ तब वायु धारण का अभ्यास करते रहने से घटावस्था प्राप्त होने लगती है । इसमें प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव और परमात्मा में अवरोध होकर जो पारस्परिक एकता स्थापित होती है, उसके चिह्न अब आगे कहे जाते हैं ॥६५-६६॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत् ।
दिवा वा यदि वा सायमेककालं समभ्यसेत् ॥ ६७ ॥
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥ ६८ ॥
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ।
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ६९ ॥
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ।
लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७० ॥

पहले जितना अभ्यास किया जाता था अब उसका चौथाई करे, दिन या रात्रि में एक प्रहर मात्र अभ्यास करे । केवल कुम्भक दिन में

एक बार करे और कुम्भक में स्थित होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच कर लावे, यही प्रत्याहार होता है। उस समय नेत्रों से जो कुछ भी देखे उसको आत्मवत् समझे ॥ ६७-६९ ॥ जो कुछ कानों से सुने, जो कुछ नाक से सूँघे उस सबको आत्म भावना से ही ग्रहण करे ॥७०॥

जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत् ।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७१ ॥
एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत् ।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥ ७२ ॥
यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरागमस्तथा ॥ ७३ ॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४ ॥
खे गतिस्तस्य जायेत संततांभ्यासयोगतः ।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५ ॥

जिह्वा द्वारा जिस रस को ग्रहण करे उसे भी आत्मा रूप समझे, त्वचा से जो स्पर्श हो उसमें भी आत्मा की भावना करे ॥७१॥ इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के जितने विषय हैं उन सबका साधन करे और दिन में एक प्रहर तक इसका अभ्यास किया करे ॥ ७२ ॥ इस प्रकार के अभ्यास से जैसे-जैसे योगी की चित्त सामर्थ्य बढ़ती जायगी वैसे-वैसे ही उसे दूर का सुन सकना, दूर दर्शन, क्षण भर में दूर से आ जाना, वाक्यसिद्धि, चाहे जैसा रूप धारण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसका मल मूत्र लगने से लोहे का सोना हो जाना, आकाश में गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। बुद्धिमान योगी सदैव इनकी तरफ ध्यान रखे ॥ ७३-७५ ॥

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥ ७६ ॥

~~यथा~~ मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥ ७७ ॥
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत् ॥ ७८ ॥
सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥ ७९ ॥
एवं भवेद्घटावस्था संतताभ्यासयोगतः ।
अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिध्यति ॥ ८० ॥

पर ये सब योग के सिद्ध होने में विघ्न रूप हैं, बुद्धिमान को उनसे बचना चाहिये और अपनी इस प्रकार की सामर्थ्य को कभी किसी के सामने प्रकट न करे ॥ ७६ ॥ इसलिये सर्व साधारण के सामने उसे पागल, अन्धा, बहरे की तरह बन कर रहना चाहिये और अपनी सामर्थ्य को सब प्रकार से गुप्त रखना चाहिए ॥ ७७ ॥ शिष्यगण अपने कार्य के लिए योगी से अवश्य प्रार्थना करेंगे, पर उनके काम में पड़कर अपने अभ्यास को न भूल जाना चाहिये ॥ ७८ ॥ उसे गुरु के वाक्यों को स्मरण करके सदैव अभ्यास में ही लगे रहना चाहिये । इस प्रकार निरन्तर योगाभ्यास से घटावस्था प्राप्त हो जाती है ॥ ७९ ॥ पर इस प्रकार की सिद्धि अभ्यास द्वारा ही प्राप्ति हो सकती है, केवल बातों से कुछ नही हो सकता, इसलिये प्रयत्न पूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिये ।८०।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाऽभ्यसेत् ।
ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥ ८१ ॥
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ ८२ ॥
वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥ ८३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥ ८४ ॥
पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥ ८५ व
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतु र्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥ ८६ ॥

फिर अभ्यास योग से परिचय अवस्था आरम्भ होती है। उसके लिये यत्न पूर्वक वायु सहित अग्नि और कुण्डली का साधन करके भावना पूर्वक सुषुम्ना में प्रवेश करना। वहां के अवरोध को जीतकर वायु के सहित महापथ में अग्रसर हो ॥ ८१-८२ ॥ जिसका चित्त पवन सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है उसके लिये पृथिवी जल; अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूत रूपी देवताओं की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है। पैरों से जानु पर्यन्त पृथिवी, का तत्व का स्थान कहा गया है ॥ ८३-८४ ॥ पृथिवी चार कोने वाली, पीत वर्ण 'ल' अक्षर युक्त होती है। पृथिवी तत्व मे वायु का आरोप करने और 'ल' को उसमे युक्त करके उसमें सुवर्ण के से रङ्ग वाले चार भुजा और चार मुँह वाले ब्रह्मा का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से पृथिवी तत्व जय हो जाता है ॥ ८५-८६ ॥

धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयागतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७ ॥
आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
अपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं वंबीजं परिकीर्तितम् ॥ ८८ ॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ ८९ ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९० ॥

इस पृथिवी योग के प्रभाव से योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। जानु से गुदा स्थान तक जल-तत्व का स्थान कहा गया है। यह अर्ध-चन्द्र के रूप में 'ब' बीज वाला होता है। इस जल तत्व में वायु का आरोप करके 'ब' को समान्वित करके चार भुजा, किरीट धारण किये शुद्ध स्फटिक के सदृश्य, पीतवस्त्र धारण किये अच्युत देव नारायण का ध्यान करे ॥ ८९ ॥ इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से प्रभु सब पापों से छुडा देते है। फिर उसे जल से किसी प्रकार का भय नहीं रहता न जलमें उसकी मृत्यु हो सकती है ॥ ९० ॥

ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।
आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥ ९१ ॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥ ९२ ॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥ ९३ ॥
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते ।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निकुण्डके ॥ ९४ ॥
आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥ ९५ ॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥ ९६ ॥

गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान कहा गया है। अग्नि तीन कोण वाला, लाल रङ्ग का और 'र' अक्षर युक्त होता है। अग्नि में वायु का आरोप करके, उस 'र' अक्षर को समन्वित करके तीन नेत्रों वाले, वरदान देने वाले, तरुण आदित्य के समान प्रकाशमान, सर्वाङ्ग में भस्म लगाये भगवान रुद्र का प्रसन्न मन से ध्यान करे। पाँच घड़ी ऐसा ध्यान करने से वह अग्नि से नहीं जलाया जा सकता ॥९१-९३॥

अगर वह प्रज्वलित अग्नि में भी चला जाय तो भी नहीं जलता। हृदय से भ्रकुटियों तक वायु का स्थान कहा गया है, यह छः कोण के आधार वाला, कृष्ण वर्ण 'म' अक्षर युक्त होता है। मरुत-स्थान में 'य' अक्षर के सहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से वायु के समान आकाश में जाने वाला हो जाता है॥ ९४-९६॥

धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगो भवेत्॥
मरणं न तु वायोस्तु भयं भवति योगिनः॥ ९७॥
आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम्॥ ९८॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम्।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्॥ ९९॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम्।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्॥ १००॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम्॥ १०१॥

उस योगी को वायु का कुछ भय नहीं रहता और न वह वायु में मरता है। भ्रकुटी से मूर्धान्त तक आकाश का स्थान कहा गया॥ ९७॥ व्योम वृत्ताकार धूम्र वर्ण का और 'ह' अक्षर से प्रकाशित है। आकाश तत्व में वायु का आरोप करके शंकर भगवान, जो बिन्दु रूप महादेव हैं, व्योम के आकार के सदाशिव हैं, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है, बाल चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये है, पाँच मुख वाले, सौम्य, दश भुजा और तीन नेत्र युक्त, सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को लिये हुये, सब प्रकार के आभूषणों से भूषित, पार्वती के अर्धाङ्ग, वर देने वाले, सर्व कारणों के कारण हैं, उसकी धारणा आकाश में करने से निश्चय ही आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है॥ ९८-१०१॥

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्‌ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तमश्नते ॥ १०२ ॥
एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥ १०३ ॥
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च ॥ १०४ ॥
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ।
सगुणध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥ १०५ ॥

इससे साधक कहीं भी रहता हुआ अत्यन्त सुख प्राप्त करता है इस प्रकार विलक्षण बुद्धि का योगी पाँच प्रकार की धारणा करे ॥ १०२ ॥ इससे उसका शरीर दृढ़ हो जाता है और मृत्यु का भय जाता रहता है, और वह ब्रह्म प्रलय होने पर भी दुःखी नहीं होता ॥ १०३ ॥ छः घड़ी तक इस प्रकार वायु को रोकते हुये आकाश में इष्ट सिद्धि दाता देवताओं का ध्यान करे ॥ १०४ ॥ सगुणरूप से ध्यान करने पर अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और निर्गुण ध्यान करने से समाधि की प्राप्ति होती है ॥ १०५ ॥

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥ १०६ ॥
समाधिः समताऽवस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥ १०७ ॥
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं ॥ १०८ ॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥ १०९ ॥
मनुष्यो वाऽपि यक्षो वा स्वेच्छयाऽपि क्षणाद्भवेत् ।

सिंहो व्याघ्रो गजो वाऽश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥११०॥

योग का ज्ञाता बारह दिन मे ही समाधि को सिद्ध करके जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ १०६ ॥ समाधि मे जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है, उसमें अगर अपनी देह छोड़ने की इच्छा हो तो उसे छोड़ा जा सकता है ॥ १०७ ॥ इस प्रकार जो परब्रह्म में लय हो जाता है उसे फिर जन्म नही लेना पड़ता। यदि उसे शरीर प्रिय हो, तो वह शरीर में ही स्थिति रह कर अणमादि सिद्धियों से युक्त सब लोकों में विहार कर सकता है और चाहे तो कभी भी स्वर्ग में देवता भी हो सकता है ॥ १०८-१०९ ॥ वह अपनी इच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष बन सकता है और सिंह, व्याघ्र, हाथी, घोड़ा आदि बहुत से रूपो को ग्रहण कर सकता है ॥ ११० ॥

यथेष्टमेव वर्तेत योगी यद्वा महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥ १११ ॥
पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ११२ ॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ॥ ११३ ॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन समभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि मानयेत् ॥ ११४ ॥
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ ११५ ॥

योगी महेश्वर पद प्राप्त कर लेने पर इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है । यह भेद केवल अभ्यास का है, फल की दृष्टि से दोनों समान ही हैं ॥ १११ ॥ बायें पैर की ऐड़ी से योनि स्थान को दवाकर और दाँयें पैर को फैलाकर उसके अँगूठे दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ ले । ठोड़ी को छाती से लगाकर वायु को भीतर भरे और

यथाशक्ति कुम्भक करके रेचक द्वारा वायु निकालदे ॥ ११३ ॥ इस अभ्यास को बाँयें अङ्ग से करने के पश्चात् दाँये से करे, अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था उसको योनि स्थान पर लगावे ॥ ११४ ॥ इसको महाबन्ध कहते हैं और इसका दोनों प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध करने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ मुद्रा द्वारा वायु की गति का निरोध करके दोनों नासा-रंध्रों का संकुचन करनेसे वायु शीघ्र भर जाती हैं ॥ ११५ ॥

वायूनां गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ ११६ ॥
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥ ११७ ॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया ॥ ११८ ॥
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ ११९ ॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ॥ १२० ॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥ १२१ ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।
करणी विपरीताख्या सर्वाधिव्याधिनाशिनी ॥ १२२॥

सिद्ध योगी गण इस महावेध का सदैव अभ्यास करते हैं। अब खेचरी मुद्रा से कहते हैं कि जिह्वा को लौटकर कपाल कुहर में लगादे और दोनों भ्रकुटियों में दृष्टि को जमाये। कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से जालन्धर बन्ध होती है जो मृत्यु रूपी हाथी के लिये सिंह के समान है। इससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में

उठ जाता है। इसको योगी उड्डियान बन्ध कहते हैं। एड़ी द्वारा योनि स्थान को अच्छी तरह दबाकर भीतर की तरफ खीचे। इस प्रकार अपान को ऊपर की तरफ उठाना योनि-बन्ध कहा जाता है। इस विधि से प्राण, अपान, नाद और विन्दु में मूलबन्ध द्वारा एकता प्राप्त होती है और यह निःसन्देह योग सिद्धि कराने वाला है। अब विपरीतकरणी मुद्रा को कहते है जो सर्व व्याधि विनाशिनी है ॥ ११६-१२२ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी।
आहारा बहवस्तस्य संपाद्याः साधकस्य च ॥ १२३ ॥
अल्पाहारा यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ १२४ ॥
क्षणात्तु किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने।
वली च पलित चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ॥ १२५ ॥

यह मुद्रा अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि को बढ़ाती है, जिससे साधक अधिक आहार को पचा सकता है ॥ १२३ ॥ यदि वह थोड़ा आहार करेगा तो अग्नि तुरन्त ही देह का नाश करने लगेगी। इस मुद्रा के लिये प्रथम दिन क्षणभर के लिये नीचे शिर करके ऊपर को पैर करे ॥ १२४ ॥ इसके बाद प्रतिदिन क्षण-क्षणभर अभ्यास बढ़ाता रहे तो छः महीने में ही शरीर की झुर्रियों और केशों की की श्वेतता मिट जायगी ॥ १२५ ॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १२६ ॥
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ १२७ ॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥ १२८ ॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रिया ॥ १२९ ॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥ १३० ॥

जो नित्यप्रति एक पहर तक इसका अभ्यास करता है वह काल को भी जीत सकता है । अब बज्रोली मुद्रा को कहते हैं कि जो योगी उसे करता है वह शीघ्र ही सिद्ध बन सकता है । जो उसका अभ्यास कर लेता है तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो । वह भूत, भविष्य का ज्ञाता हो जाता है और निश्चय ही आकाश मार्ग से चलने लगता है ॥ १२६–१२७ ॥ जो नित्यप्रति 'अमरी' का पान करता है और उसकी नासिका द्वारा नास लेता है और बज्रोली का साधन करता है तो वह 'अमरोली' का साधक कहा जाता है ॥ १२८ ॥ तब वह राजयोग करने वाला हो जाता है, इसमें संशय नही । राजयोग के हो जाने से योगी को हठयोग की शारीरिक क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १२९ ॥ उसको निश्चित रूप से विवेक और वैराग्य प्राप्त हो जाता है । विष्णु भगवान ही महायोगी, महाभूत स्वरूप और महातपस्वी हैं ॥ १३० ॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥ १३१ ॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥ १३२ ॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥ १३३ ॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान् समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ॥ १३४ ॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ॥ १३५ ॥

तत्व-मार्ग पर चलने वाले को वह पुरुषोत्तम दीपक के समान स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यह जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि में आता है एक समय वह जिस स्तन को पीता है दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबाकर प्रसन्नताका अनुभव करता है। जिस योनि से जन्म लिया था वैसी ही योनियों में रमण करता है। एक जन्म में जो माता होती है वह अन्य जन्म में भार्या हो जाती है और जो भार्या होती है वह माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र,पिता या माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र, पिता के रूप में जन्म ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के समान है, जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है। तीनलोक हैं, तीन वेद है, तीन संध्या हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण है, तीन अक्षरों में सब कुछ स्थित है। इन तीन अक्षरों और आधे अक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिये ॥ १३१-१३५ ॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥ १३६ ॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥ १३७ ॥
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥ १३८ ॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥ १३९ ॥
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत् ॥ १४० ॥

एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धे तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ् निःश्वासस्तथा ।। १४१ ।।
घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ।। १४२ ।।
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवया ।।
इत्युपनिषत् ।।

सब कुछ उसी में पिरोया हुआ है, वही सत्य है, वही परम पद है। जिस प्रकार फूल में महक होती है और दूध में घी होता है, तिलों तेल होता, पत्थर में सोना होता उसी प्रकार वह भी सब में व्याप्त है। हृदय स्थान में जो कमल है उसका मुख नीचे की तरफ है और उसकी दण्डी ऊपर है, नीचे बिन्दु है, उसी में मन स्थित है। 'ॐ'कार में रेचित किया हुआ कमल 'उ'कार में भेदा जाता है और 'म'कार में नाद को प्राप्त होता है। अर्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के सदृश्य निष्कल और पाप नाशक है ।। १३६-१३६ ।। इस प्रकार योगयुक्त हुआ पुरुष मुक्ति को प्राप्त करता है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ-पैरों, शिर को अपने भीतर कर लेता है, इसी प्रकार सब द्वारों से भर कर दबाया हुआ वायु नौ द्वारों के बन्द होने से ऊपर चला जाता है ।। १४०-१४१ ।। घड़ा के मध्य में रखा दीपक जिस प्रकार होता है उसी प्रकार कुम्भक को जानो। इस योग-साधन में नौ द्वारों के रोके जाने पर निर्जन और निरुपद्रव स्थान में आत्मा मात्र ही शेष रहता है, ऐसा यह उपनिषद है ।।१४२।।

।। योगतत्व उपनिषद समाप्त ।।

सुबालोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिपाठ—ॐ यह ब्रह्म पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को निकाललें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। ॐ शांति, शांति, शांति ॥

प्रथम खण्ड

तदाहुः । किं तदासीत् ? तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥ १ ॥

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ॥ २ ॥

तदण्डं समभवत्तत् संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रबाहुरिति ॥ ३ ॥

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत् । त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥ ४ ॥

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश । स मानसान् सप्त पुत्रानसृजत् । ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन् । ते ह प्रजापतयः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात् सर्वमिदं जायते ॥ ६ ॥

ॐ । सृष्टि से पहले क्या था ? इस विषय में ऋषियों ने प्रश्न किया, तब उन में से मुख्य रैकव ऋषि से घोरांगिरस ऋषि ने कहा— "सृष्टि के पहले सत् नहीं था, असत् भी न था, और सदासद भी न था । इनमें से तमस् (अज्ञान) उत्पन्न होता है । इस तमस से भूतादि—अहङ्कार की उत्पत्ति हुई । अहङ्कार से आकाश, आकाश से वायु वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल में से पृथ्वी हुई । यही ब्रह्माण्ड रूप अण्डा हो गया । इसमें केवल एक वर्ष तक रह कर पुरुष ने उसके दो भाग कर दिये । नीचे का भाग भूमि बन गया और ऊपर का आकाश हो गया । बीच में दिव्य पुरुष हजार मस्तक वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला, हजार हाथों वाला रहा । उसने पहले भूतों की मृत्यु को बनाया । वह तीन अक्षर वाला, तीन मस्तक वाला, तीन पैर वाला और छोटा सा फरसा धारण किये हुये था । उसका नाम 'ब्रह्म' था । उसी ने ब्रह्मा में प्रवेश किया । उसने सात मानसिक पुत्र उत्पन्न किये । वे प्रजापति हुये । ब्राह्मण विराट का मुख हुआ, क्षत्रिय दोनों भुजाओं के रूप में हुये, वैश्य दोनों ऊरुओं के रूप में हुये और दोनों पैरों से शूद्र हुये । चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ और चक्षु में से सूर्य हुआ । कान में से वायु हुआ और हृदय में से प्राण हुआ । इस प्रकार यह सर्व जगत उत्पन्न होता है ॥ १—६ ॥

॥ पहला खण्ड समाप्त ॥

द्वितीय खण्ड

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्य: पर्वता लोम-भ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात् क्रोधजो रुद्रो जायते ।। १ ।।

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्य दृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युपव्याख्यानानि च सर्वाणि च भूतानि ।। २ ।।

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माऽधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन् यक्षराक्षसगन्धर्वान् ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृजदितरा गौरितरोऽनड्वानितरा बडबेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वंभरीतरो विश्वंभर: ।। ३ ।।

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा सं दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तम: परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिनि वेदानुशासनम् ।। ४ ।।

(इस विराट के) अपान में से भील, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व हुये; हड्डियों में से पर्वत हुये, रोमों में से औषधियाँ और वनस्पतियाँ हुई और ललाट में से क्रोध द्वारा रुद्र उत्पन्न हुआ । वह विराट पुरुष सब से महान भूत रूप है । उसका जो श्वासोच्छ्वास है वही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष शास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, नाना व्याख्याएँ और सब प्राणी हैं । वह सुवर्ण के

समान तेजस्वी है और उसी में यह आत्मा और समस्त लोक स्थित हैं। उसने अपने स्वरूप के दो विभाग किये; आधे से स्त्री और आधे से पुरुष हुआ। उसने देव होकर देवों को बनाया; ऋषि होकर ऋषियों को बनाया। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा बस्ती और जङ्गल में रहने वाले पशुओं को बनाया। उनमें कोई गाय हुई, कोई बैल हुआ; कोई घोड़ी हुई, कोई घोड़ा हुआ; कोई गधी हुई, कोई गधा हुआ; कोई सब का पोषण करने वाली हुई, कोई सब का पोषण करने वाला हुआ। फिर अन्त में यह पुरुष अग्नि रूप होकर सब को जला डालता है। उस समय पृथ्वी जल में लय हो जाती है, जल तेज में लय हो जाता है, तेज वायु में लय होता है, वायु आकाश में लय होती है, आकाश इन्द्रियों में लय हो जाता है, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में लय हो जाती हैं, तन्मात्रा अहङ्कार में लय हो जाती है। अहङ्कार महत्तत्व में लय होता है, महत्तत्व प्रकृति में लय हो जाता है, प्रकृति अक्षर में लय हो लाती है; अक्षर तमस् (अज्ञान) में लय हो जाता है और तमस् परमदेव-परमात्मा में एक रूप हो जाता है। उसके पीछे सत् नहीं रहता, असत नहीं रहता; और सत्-असत् दोनों नहीं रहते। यही निर्वाण (मोक्ष) का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और ऐसी वेद की सीख है ॥ १—४ ॥

॥ दूसरा खण्ड समाप्त ॥

तृतीय खण्ड

असद्वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययममहान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १ ॥

अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपादमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घम-

स्थूलमनण्वनल्पमपारमनिर्देश्यमनपावृतमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरम-
बाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ २ ॥

एतद्वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदने-
नानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति
न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्मा-
प्येति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथवा प्रथम सृष्टि के पूर्व यह जगत असत् था, उससे आत्मा का जन्म नहीं हुआ है, उत्पन्न नही हुई है, प्रतिष्ठा नहीं पाई है । वह आत्मा शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गंध रहित, निर्विकार है, न तो बड़ा, न बहुत विस्तारयुक्त है, वह अजन्मा है। ऐसा जानकर धीर पुरुष शोक नही करते । फिर यह आत्मा प्राण बिना, मुख रहित, कान रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, चक्षु रहित, बिना नाम का, बिना गोत्र का, बिना माथे का, बिना हाथ-पैर का, बिना आकाश का, बिना रक्त का है । इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता, यह न लम्बा है, न मोटा है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, इसका पार नहीं है, इसका बता सकना असंभव है, यह ढका हुआ नही है, इसके नियम मे तर्क नही किया जा सकता, इसे प्रकाशित नही किया जा सकता; यह न संकीर्ण है, न भीतर का है, न बाहर का । वह कुछ खाता नही है और न कोई उसे खाता है । इसे तो सत्य, दान, तप, अनशन, ब्रह्मचर्य, अखंड वैराग्य, इन छः साधनों से ही जानना चाहिये । इसी प्रकार दम (इन्द्रिय निग्रह), दान और दया—इन तीनों की तरफ दृष्टि रखनी चाहिये । जो पुरुष ऐसा समझता है, उसका प्राण ऊँचा (अन्य गति) में नहीं जाता, वरन् इस आत्म तत्व में ही लीन हो जाता है और वह ब्रह्म स्वरूप हो कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ १-३ ॥

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

चतुर्थ खण्ड

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पौण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ १ ॥

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च ऋषींश्च यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षस-गन्धर्वान् यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान् देवान् स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देव-लोकान् धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते तदा पश्यति दृष्टं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥ २ ॥

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति तासामेकैकस्या द्वा-सप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखानाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति शब्दानां च करोत्यथ द्वितीये स कोशे स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति । हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिल एवेदं सलिलं वनं मग्नं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच ॥ ४ ॥

हृदय के मध्य लाल मांस का पिण्ड है, उसी के मध्य में वह सूक्ष्म आत्म तत्व है। वह रात्रि में विकसित होने वाले कमल की तरह

श्वेत वर्ण का है और वह अनेक प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ है । हृदय के दश छिद्र हैं, जिनमे प्राण रहते हैं । उपासना करने वाला जब प्राणों के साथ संयुक्त होता है, तब नदियों और बहुत से नगरों को देखता है; जब व्यान के साथ संयुक्त होता है तब देवता और ऋषियों को देखता है; जब अपान के साथ संयुक्त होता है तब यक्ष, राक्षस तथा गन्धर्वों को देखता है; जब उदान के साथ संयुक्त होता है तब देवों को, देवताओं को, कार्तिक स्वामी और जयंतदेव को देखता है; जब 'समान' के साथ संयुक्त होता है तब वह देवताओं और धन को देखता है; जब वैरंभ के साथ संयुक्त होता है तब भूतकाल में देखा हुआ, खाया हुआ, नहीं खाया हुआ, सत् और असत् सब दृष्टिगोचर होता है ।

अब इस हृदय की दश-दश नाड़ियाँ हैं; उन नाड़ियों में से प्रत्येक की ७२-७२ शाखायें हैं; इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं जिनमें आत्मा शयन करता है तथा शब्दों की क्रिया करता है । अब जो दूसरा कोश है, उसमें जब आत्मा शयन करता है तब इस लोक और परलोक को देखता है और सब शब्दों को जानता है, तब उसे 'संप्रसाद' कहा जाता है । प्राण शरीर की रक्षा करता है । यह जो नाडियाँ है वे भूरे, नीले, पीले, लाल और सफेद रक्त से भरी हैं ।

इस शरीर में जो यह सूक्ष्म हृदय कमल है, वह रात्रि में विकसित होने वाले कमल के समान श्वेत रङ्ग का है । उसका अनेक प्रकार से विकास हुआ है । जैसे बाल को हजारो हिस्सों में चीर दिया जाय वैसी सूक्ष्म 'हिता' नाम की नाडियाँ हैं । हृदयाकाश श्रेष्ठ कोश है । उसमें यह दिव्य आत्मा निवास करता है; जब वह निद्रित अवस्था में होता है, तो किसी प्रकार की कामना की इच्छा नहीं करता, किसी प्रकार का स्वप्न भी नहीं देखता । वहाँ देव नहीं हैं, देवताओं के लोक नहीं हैं, यज्ञ नहीं हैं, यज्ञ की क्रियाएँ नहीं हैं । माता नहीं है, पिता

नहीं है, बन्धु नहीं हैं, बांधव नहीं है, चोर नहीं है और ब्रह्म हत्याकारी नहीं है। वह तेज रूप है, अमृत है। जल में यह जल रहता है। यह एक वन की तरह है, इसी मार्ग से आत्मा जागृत अवस्था की तरफ दौड़ता है, ऐसा सम्राट (जनक) कहते थे॥ १—४॥

॥ चौथा खण्ड समाप्त ॥

पञ्चम खण्ड

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ १॥

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतयितव्ये यो दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ २॥

नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नसायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां...नन्तम्॥ ३॥

जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां...नन्तम्॥ ४॥

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यां...नन्तम्॥ ५॥

आत्मा उस-उस स्थान में रहने वालों को स्थान देती है। नाड़ी उसका मूल स्थान है; चक्षु अध्यात्म है, देखा जाने वाला पदार्थ (रूप) अधिभूत है और सूर्य उसमे अधिदैवत है । उसका मूल स्थान नाडी है । चक्षु में, देखे जाने वाले पदार्थ में, सूर्य में, नाडी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और सर्व शरीर में जो संचार करता है, वह आत्मा है, उसकी उपासना करनी चाहिये । वह वृद्धावस्था रहित, अमर, भय रहित, शोक रहित और अनन्त है ॥ १ ॥

इसी प्रकार श्रोत्र (इन्द्रिय) अध्यात्म है । सुना जाने वाला शब्द अधिभूत है और दिशाएँ उसमें अधिदैवत हैं । इन तीनों का मूल स्थान नाड़ी है । जो श्रोत्र में, सुने जाने वाले शब्द में, दिशाओं में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और समस्त शरीर के भीतर संचार करता है वह आत्मा है। इसकी उपासना करनी । यह वृद्धावस्था रहित, अमर, भय रहित, शोक रहित तथा अनन्त है ॥ २ ॥ इसी प्रकार नासिका इन्द्रिय अध्यात्म है, सूंघा जाने वाला (गन्ध) अधिभूत है, पृथ्वी उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उनका मूल स्थान है । जो नाक मे, सूँघे जाने वाले गंध में, पृथ्वी में, नाड़ी में······अनन्त है ॥ ३ ॥ इसी प्रकार जीभ अध्यात्म है, स्वाद लेना (रस) अधिभूत है, वरुण उसमें अधिदैवत (देव) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो जीभ में, स्वाद लेने के रस में, वरुण में और नाडी मे··········· अनन्त है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार त्वचा इन्द्रिय अध्यात्म है, स्पर्श करना अधिभूत है, वायु उसमें अधिदैवत (देव) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो त्वचा इन्द्रिय में, स्पर्श किये गये पदार्थ में, वायु में, नाड़ी मे······अनन्त है ॥ ५ ॥

मनोऽध्यात्मं मंतव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां···नन्तम्।।६।।

बुद्धिध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यां··· नन्तम् ।। ७ ।।

अहंकारोध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडीं तेषां निबन्धनं योऽहंकारे योऽहंकर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां··· नन्तम् ।। ८ ।।

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां···नन्तम् ।। ९ ।।

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां··· नन्तम् ।। १० ।।

इसी प्रकार जो मन में, विचारणीय विषय में चन्द्रमा में, नाड़ी में·········अनन्त है। इसी प्रकार बुद्धि अध्यात्म है,जानने योग्य विषय अधिभूत है, ब्रह्मा उसमें अधिदैवत (देव) है और नाड़ी उसका स्थान है। इस प्रकार जो बुद्धि में, जानने योग्य विषय मे, ब्रह्मा में, नाड़ी में ·········अनन्त है। उसी प्रकार अहङ्कार अध्यात्म है, अहङ्कार का विषय अधिभूत है, रुद्र उसमें अधिदैवत (देव) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है। और जो अहंकार में, अहंकार के विषय मे, रुद्र में, नाड़ी में·········अनन्त है। इसी प्रकार चित्त अध्यात्म है, चिन्तन का विषय अधिभूत है, क्षेत्रज्ञ उसमें अधिदैवत है, नाड़ी उसका मूल स्थान है। जो चित्त में चिन्तन के विषय में, क्षेत्रज्ञ में, नाड़ी में··········· अनन्त है। उसी प्रकार वाणी अध्यात्म है, बोलना अधिभूत है, अग्नि

उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका स्थान है। जो वाणी में, बोलने के विषय में, अग्नि में, नाड़ी मे.........अनन्त है ॥ ९–१० ॥

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां...नन्तम् ॥ ११ ॥

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाड्यां...नन्तम् ॥ १२ ॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विसर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां...नन्तम् ॥ १३ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरयि सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥ १४ ॥

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्या नुपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्रा नुपास्यति यस्यान्नमिदं सर्व न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनप्रशास्ताऽन्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा विज्ञानमयः कालात्माऽऽनन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्य नास्त्यमृतं कुतो नान्तः प्रज्ञो न बहिः प्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार हाथ अध्यात्म है, लेना अधिभूत है, इन्द्र उसमें अधिदैवत है और नाडी उसका मूल स्थान है। जो हाथ में, लेने के विषय मे, इन्द्र में, नाडी में……अनन्त है। इसी प्रकार पैर अध्यात्म है, जाने का विषय अधिभूत है, विष्णु उसमे अधिदैवत है और नाड़ी उसका स्थान है। जो पैर मे,जाने के विषय में,विष्णु मे,नाड़ी में…… अनन्त है। इसी प्रकार गुदा अध्यात्म है, इस गुदा से विसर्जन करना अधिभूत है, मृत्यु उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है। जो गुदा में, उससे विसर्जन योग्य में, मृत्यु मे, नाड़ी में……अनन्त है। इसी प्रकार जननेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्द का विषय अधिभूत है, प्रजापति उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है। जो जननेन्द्रिय में, आनन्द के विषय मे, प्रजापति मे, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस समस्त शरीर में संचार करता है वह आत्मा है, उसकी उपासना करनी। वह वृद्धावस्था रहित, अमर, भयरहित, शोक रहित और अनन्त है। वह सर्वज्ञ है, सबका ईश्वर है, सबका अधिपति है, अन्तर्यामी है और सबका मूल उत्पत्ति स्थान है। समस्त सुख इसकी उपासना करते हैं,पर यह समस्त सुखों की उपासना नहीं करता; वेद और शास्त्र इसकी उपासना करते हैं पर यह वेद और शास्त्र की उपासना नही करता। यह सब इसका अन्न है, पर यह किसी का अन्न नही है। इससे अधिक यह भी कहा जा सकता है कि यह आत्मा सबका नेत्र रूप है, सब पर आज्ञा चलाने वाला, अन्नमय है, यही भूतों का आत्मा है, प्राणमय है, इंद्रियों का आत्मा है, मनोमय है, सङ्कल्प रूप है, विज्ञानमय है, काल स्वरूप है, आनन्दमय है, लयं स्वरूप है। उसमें एकत्व (एकपना) नहीं है तो द्वैत तो कहाँ से हो सकता है? उसमें मरण धर्म नहीं तो अमृत कहाँ से हो? इसके भीतर प्रज्ञा नहीं है, बाहर प्रज्ञा नहीं है, भीतर-बाहर दोनों जगह प्रज्ञा नहीं है; यह प्रज्ञान से व्याप्त नही है, बहुत जानने वाला नही है, बहुत

न जानने वाला भी नहीं है, इसने कुछ भी नहीं जाना हुआ है और इसे कुछ जानना भी नही है। बस, यही मोक्ष के लिये उपदेश है। यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की सीख है ॥ ११–१५ ॥

॥ पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

षष्ठ खण्ड

नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥

चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणः पादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः ॥ २ ॥

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्राग्निराज्याहुति संभवो दिव्यो देव एको नारायणः ॥ ३ ॥

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः ॥ ४ ॥

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशिशुरासुरासूर्या भास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि ॥ ५ ॥

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमाः कालः कविर्धाता ब्रह्मा मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं च दिशश्च सर्वं नारायणः ॥ ६ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥
तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ ७ ॥

सृष्टि के पहले इस जगत में कुछ भी न था; बिना मूल का और बिना आधार का था। फिर जिसमें से यह प्रजा उत्पन्न हुई है, वही एक दिव्य देव नारायण है। यही चक्षु है और यही देखने का विषय है, यह नारायण ही कान है और सुनने का विषय है; नारायण घ्राणेन्द्रिय है और सूंघने का विषय है; नारायण जीभ है और स्वाद लेने का विषय है; नारायण त्वचा है और स्पर्श करने का है; नारायण मन है और मन का विषय है; नारायण बुद्धि है और उसका विषय है; नारायण अहङ्कार है और उसका विषय है; नारायण चित्त है और चिन्तन भी है; नारायण वाणी है और बोलने का विषय भी है; नारायण हाथ है और देने का विषय भी है; नारायण पैर है और उसका विषय गमन करना भी है; नारायण गुदा है और उसका विषय विसर्जन करना भी है; नारायण जननेन्द्रिय है और उसका विषय आनन्द है; नारायण धारणकर्ता है, विधाता है, कर्ता है, विशेष रचना करने वाला है और यही एक दिव्य देव है। आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, मंत्र, अग्नि और घी की आहुति नारायण ही है। यही दिव्य देव उत्पत्ति रूप और संभव रूप

है। एक नारायण ही माता, पिता, भाई, निवास, शरण, मित्र और गति है। यह नारायण ही विराजिता, सुदर्शना, जिता, सौम्या, मोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशु, सूर्या, असुरा और भास्वती ऐसी दिव्य नाड़ियों के रूप में है। यह नारायण ही गर्जता है, गाता है, बहता है और बरसता है। वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, कलाएँ, काल, धाता, ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, दिवस, अर्ध दिवस, कला, ऊपर का भाग और दिशा—यह सब नारायण ही है। जो कुछ इस वर्तमान काल में है, भूत काल में हो चुका है और भविष्य में होगा, यह सब पुरुष (परमात्मा) ही है। यह अमृतत्व का ईश्वर है और जो कुछ अन्न (आहार) द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है, वह सब यही परमात्मा है। यह विष्णु का परमपद है; इसको ज्ञानी सदा देखते रहते हैं, यह आकाश में फैले हुये चक्षु के समान है। क्रोध रहित और जागृत रहने वाले ब्राह्मण इसका साक्षात्कार करते है, यही विष्णु का परम पद है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की सीख है ॥ १—७ ॥

॥ छठा खण्ड समाप्त ॥

सप्तम खण्ड

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे

संचरन् यं चित्त न वेद यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥ १ ॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ रैक्को रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ २ ॥

जो शरीर के मध्य हृदय रूपी गुफा के भीतर रहता है, वह आत्मा अजन्मा, एक और नित्य है। पृथ्वी उसका शरीर है, जो पृथ्वी के ऊपर संचार करता है, तो भी पृथ्वी उसको जानती नहीं। जल जिसका शरीर है, जल के भीतर जो संचार करता है, तो भी जल जिसे जानता नहीं। तेज जिसका शरीर है, तेज के भीतर जो संचार करता है, तो भी तेज जिसको जानता नही। वायु जिसका शरीर है, वायु के भीतर जो संचार करता है, तो भी वायु जिसको नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, आकाश के भीतर जो सञ्चार करता है, तो भी आकाश जिसको नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, मन के भीतर जो सञ्चार करता हैं, तो भी मन जिसको नहीं जानता। बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि के भीतर संचार करता है, तो भी बुद्धि जिसको नहीं जानती। अहङ्कार जिसका शरीर है, जो अहङ्कार के भीतर सञ्चार करता है, तो भी अहङ्कार जिसको नहीं जानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त के भीतर सञ्चार करता है, तो भी चित्त जिसे नही जानता। प्रकृति जिसका शरीर है, प्रकृति के भीतर जो सञ्चार करता है, तो भी प्रकृति जिसे जानती नहीं, अक्षर जिसका शरीर है, अक्षर के भीतर जो सञ्चार करता है, तो भी अक्षर जिसे जानता नहीं। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु के अन्दर सञ्चार करता

है, तो भी मृत्यु जिसे जानता नहीं। ऐसा जो है वही सर्व भूतों का अन्तरात्मा है। इसके पाप नष्ट हो गये है और वही एक दिव्य देव नारायण है। यह विद्या नारायण ने अवांतर मन को दी थी; अवान्तर मन ने ब्रह्मा को दी थी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी थी; घोरागिरस ने रैकव को दी थी, रैकव ने राम को दी थी और राम ने सब भूतों (प्राणियों) को दी है। इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश रूप है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञा रूप है ।। १-२ ।।

।। सातवाँ खण्ड समाप्त ।।

अष्टम खण्ड

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीरमध्येऽत्यन्तोपहिते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गन्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुदवच्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ।। १ ।।

सबके शरीर में हृदय रूपी गुफा के भीतर यह शुद्ध आत्मा रहता है। शरीर तो यह मांस और रक्त से भरा हुआ, अत्यन्त नाशवान, चित्र युक्त दीवार की तरह, गन्धर्व नगर की तरह, केला के गर्भ की तरह निःसार और पानी के बुलबुले की तरह चञ्चल है । पर उससे भिन्न रहने वाला आत्मा अचिन्त्य स्वरूप वाला, दिव्य प्रकाशवान सङ्ग रहित, शुद्ध, तेज रूप शरीर वाला, रूप रहित, सब का ईश्वर, अचिन्त्य और शरीर रहित है। वह हृदय रूपी गुफा में रहने वाला अमर और दैदीप्यमान है। ज्ञानी उसको आनन्द स्वरूप देखते हैं और उसमें लय हो जाने पर फिर उससे भिन्न और कुछ नहीं देखते ।। १ ।।

।। आठवाँ खण्ड समाप्त ।।

नवम खण्ड

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन् कस्मिन् सर्वेऽस्तं गच्छ-न्तीति। तस्मै स होवाच। चक्षुरेवाप्येति यश्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्य-मेवास्तमेति विराजामेवाप्येति यो विराजामेवास्तमेति प्राणमे-वाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवा-स्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्ये-तीति होवाच ॥१॥

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपा-नमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥२॥

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद . . . होवाच ॥३॥

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवा-प्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवास्तमेति सौम्या-मेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदान-मेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद . . . होवाच ॥४॥

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति

मोघामेवाप्येति यो मोघामेव.स्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद'''होवाच ॥ ५ ॥

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्यग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्तमेति कुमारा-मेवास्तमेति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भ-मेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद'''होवाच ॥ ६ ॥

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमेतीन्द्रमेवाप्येतियइन्द्रमेवास्तमेत्यमृतामेवाप्येति योऽमृतामेवास्मेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद. . . होवाच ॥ ७ ॥

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेतिविष्णुमेवाप्येतियो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामे-वाप्येति यः सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्त-मेति विज्ञानमेवाप्येति तद . . . होवाच ॥ ८ ॥

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति यो विसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद . . . होवाच ॥९॥

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवा-स्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति क्रूर्मिरमेवाप्ये-ति यः क्रूर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद ... होवाच ॥१०॥

फिर रैकव ने घोराँगिरस से पूछा–"हे भगवन् ! सब पदार्थ किस वस्तु में अस्त होते हैं ॥ १ ॥ तब घोराँगिरस ने रैकव से कहा कि जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्राप्त होते हैं (दिखाई पड़ते हैं) वे चक्षु में ही अस्त होते हैं, यह चक्षु दर्शनीय पदार्थ के प्रति प्राप्त होता है, इस लिये वह

दर्शनीय पदार्थ में ही अस्त होता है, यह दर्शनीय पदार्थ सूर्य के प्रति प्राप्त होता है इस लिये वह सूर्य में ही अस्त होता है, यह सूर्य विराट के प्रति प्राप्त होता है, इस लिये वह विराट में ही अस्त होता है, यह प्राण के प्रति प्राप्त होता है, इस लिये वह प्राण में ही अस्त होता है, यह प्राण विज्ञान के प्रति प्राप्त होता है, इस लिये वह विज्ञान में ही अस्त होता है, यह विज्ञान आनन्द के प्रति प्राप्त होता है, इस लिये वह आनन्द में ही अस्त होता है, और आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है, इस लिये वह अमर, अभय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय स्वरूप को ही पाता है। इसी प्रकार जो श्रोत्र को पाता है, वह श्रोत्र में ही अस्त होता है, यह श्रोत्र सुनने के विषय को पाता है, इस लिये सुनने के विषय में ही अस्त होता है, यह सुनने का विषय दिशाओं को पाता है इस लिये वह दिशाओं में ही अस्त होता है, यह दिशाएँ सुदर्शना को पाती है, इस लिये वे सुदर्शना में ही अस्त होती हैं, यह सुदर्शना अपान में जाती है, इस लिये वह अपान में ही अस्त होती है, यह अपान विज्ञान के प्रति जाता है, इस लिये वह विज्ञान में ही अस्त होता है, यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही पाता है। ऐसा कहकर उन्होंने फिर कहा कि जो पदार्थ नाक को पाता है वह नाक में ही अस्त होता है, नाक सूँघे जाने वाले पदार्थ के प्रति जाती है, इस लिये वह सूँघने के पदार्थ में ही अस्त होती है, यह सूँघने का पदार्थ पृथ्वी के प्रति जाता है, इस लिये वह पृथ्वी मे ही अस्त होता है, यह पृथ्वी जिता नाड़ी के प्रति जाती हैं इस लिये वह जिता में ही अस्त होती है, यह जिता व्यान के प्रति जाती है, इस लिये वह व्यान में ही अस्त होती है, यह व्यान विज्ञान के प्रति जाता है, इस लिये वह विज्ञान में ही अस्त होता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही पाता है। यही स्थिति जिह्वा, त्वचा और वाणी की भी है

।। १-६ ।। ऐसा कहकर उन्होंने फिर कहा कि जो हाथ को प्राप्त करता है वह हाथ में ही अस्त होता है, यह हाथ लेने के पमार्थ के प्रति जाता है, इस लिये वह लेने के पदार्थ में ही अस्त होता है, यह लेने का पदार्थ इन्द्र के प्रति जाता है, इस लिये वह इन्द्र में ही अस्त होता है, यह इन्द्र अमृता नाड़ी के प्रति जाता है, इस लिये वह अमृता में ही अस्त होता होता है, यह अमृता मुख्य के प्रति जाती है, इसलिये वह मुख्य में ही अस्त होती है, यह मुख्य विज्ञान के प्रति जाती है, इस लिये उसका विज्ञान में ही अस्त होता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित अनन्त और बीज रहित तुरीय पन को ही प्राप्त करता है। ऐसा बतलाकर फिर उन्होंने कहा—जो पैर के प्रति जाता है, वह पैर में ही लय होता है, यह पैर गन्तव्य स्थान की ओर जाता है, इस लिये वह गन्मव्य स्थान में लय पाता है, यह गन्तव्य स्थान विष्णु की तरफ जाता है, इसलिये वह विष्णु में ही लय होता है, यह विष्णु सत्या नाड़ी की तरफ जाता है, इस लिये वह सत्या नाड़ी में ही लय होता है, यह सत्या अन्तर्याम की तरफ जाती है, इस लिये वह अन्तर्याम मे ही लय होतीहै, यह अन्तर्याम विज्ञानकी तरफ जाता है, इस लिये वह विज्ञान में ही लय पाता है, और वह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को पाती है। ऐसा कह कर फिर उन्होंने कहा—जो गुदा को पाता है, वह गुदा ही में लय प्राप्त करता है, यह गुदा विसर्जन योग्य मल त्याग को पाती है, इस लिये यह तजने योग्य को ही प्राप्त होता है, यह मल त्याग मृत्यु को पाता, इस लिये मृत्यु में ही अस्त होता है, यह मृत्यु मध्यमा नाड़ी को पाता है, इसलिये वह मध्यमा में ही अस्त होता है, यह मध्यमा प्रभञ्जन वायु को पाता है, इसलिये वह प्रभंजन वायु मे ही अस्त होती है, यह प्रभञ्जन विज्ञान को पाता है, इसलिये उसका अस्त विज्ञान में ही होता है, और वह विज्ञान तुरीय के प्रति गाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोकरहित; अनंत

और बीज रहित तुरीयपन को प्राप्त होता है। ऐसा कहकर फिर उन्होंने कहा—जो उपस्थ को पाता है, वह उपस्थ में ही लय होता है, यह उपस्थ आनन्दरूप विषय को ही पाता है, इस लिये वह आनन्द में ही लय होता है, यह आनन्द प्रजापति के प्रति जाता है, इस लिये प्रजापति मे ही लय होता है, यह प्रजापति नासीरा नाड़ी की तरफ जाता है, इसलिये वह नासीरा मे ही लय होता है, यह नासीरा कुमारा नाड़ी की तरफ जाती है, इस लिए वह कुमारा में ही लय होती है; यह कुमारा विज्ञान की तरफ जाती है, इसलिए उसका लय विज्ञान में ही होता है, और यह विज्ञान तुरीय को ही पाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही प्राप्त करता है ।। ७-१० ।।

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवास्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद ... होवाच ।। ११ ।।

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेमि बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवास्तमेति ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवस्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद ... होवाच ।। १२ ।।

अहंकारमेवात्येति योऽहंकारमेवास्तमेत्यहंकर्तव्यमेवाप्येति योऽहंकर्तव्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्य सुरामेवाप्येति योऽसुरामेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद…होवाच ।। १३ ।।

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चैतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्यमेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति य क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो

नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानवास्तमेत्यानन्दमे-वाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवा, स्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्त निर्बीजमेवाप्येति तद··· होवाच ॥ १४ ॥

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्याचक्षते ॥ १५ ॥

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न साँख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमुपलभन्ते प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्थानेन तमेतं ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना उपलभन्ते शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर फिर उन्होंने कहा—जो मन को पाता है वह मन में ही लय होता है, यह मन विचारणीय विषय को पाता है, इसलिए वह विचारणीय में लय होता है, यह विचारणीय चन्द्रमा की तरफ जाता है, इसलिए वह चन्द्रमा में ही लय होता है, यह चन्द्र शिशु नाड़ी की तरफ जाता है, इसलिए वह शिशु में ही लय प्राप्त करता है, यह शिशु श्येन की तरफ जाती है, इसलिए वह श्येन में ही लय होती है, यह श्वेन विज्ञान की तरफ जाता है, इस लिए वह विज्ञान मे ही लय प्राप्त करता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को प्राप्त होती है।

ऐसा कह कर फिर उन्होंने कहा—जो बुद्धि को पाता है, वह बुद्धि में लय होता है, यह बुद्धि जानने योग्य विषय की तरफ जाती है; इसलिये वह जानने के विषय में ही लय प्राप्त करती है, यह जानने का

विषय ब्रह्मा की तरफ जाता है, इस लिये वह ब्रह्मा में ही अस्त प्राप्त करता है, यह ब्रह्मा सूर्यानाड़ी को प्राप्त होता है, इसलिये उसका लय सूर्या में ही होता है, वह सूर्या कृष्ण को पाती है, इस लिये वह कृष्ण मे ही लय होती है, यह कृष्ण विज्ञान को पाता है, इसलिये उसका लय विज्ञान मे ही होता है, और यह विज्ञान तुरीय को पाता है, इसलिये वह अमर, निर्भय, शोकरहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय को ही प्राप्त करता है। ऐसा कहकर फिर उन्होने कहा—जो अहङ्कार को पाता है, वह अहङ्कार मे ही लय होता है, यह अहङ्कार कर्तव्य को पाता है, इसलिए वह कर्तव्य मे ही लय होता है, यह कर्तव्य रुद्र को पाता है, इस लिए उसका लय रुद्र में ही होता है, यह रुद्र असुरा नाड़ी को पाता है, इसलिए उसका लय असुरा मे ही होता है, यह असुरा श्वेत को पाती है, इस लिए उसका लय श्वेत में ही होता है, यह श्वेत विज्ञान को पाती है, इस लिए उसका लय विज्ञान में ही होता है, यह विज्ञान तुरीय को पाता है, इस लिए वह अमर, निर्भय, शोकरहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय को ही प्राप्त करता है। ऐसा वह कर फिर उन्होने कहा—जो चित्त को पाता है, वह चित्त में ही लय होता है, यह चित्त चिन्तन योग्य को पाता है, इसलिए वह चिन्तन करने योग्य में ही लय होता है, यह चिन्तन करने योग्य क्षेत्रज्ञ को पाता है, इस लिए उसका लय क्षेत्रज्ञ में ही होता है, यह क्षेत्रज्ञ भास्वती नाड़ी में जाता है, इस लिए वह भास्वती में लय होता है, यह भास्वती नाग वायु में जाती है, इस लिये वह नाग वायु में ही अस्त होती है, यह नाग विज्ञान की तरह जाता है, इसलिए वह विज्ञान में लय होता है, यह विज्ञान आनन्द को पाता है, इसलिए वह आनन्द में ही लय होता है, और वह आनन्द, अमर, अभय शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय में जाता है, इस लिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही प्राप्त होता है। ऐसा उन्होंने कहा। इस प्रकार जो निर्जीब तत्व को जानता है, वह निर्बीज होता

हैं। वह जन्म नहीं लेता, मरता भी नहीं, मोह नही पाता, भेदा नहीं जाता, जलता नही, छेदा नहीं जाता, काँपता नहीं और न कुपित होता है। वह तो सबको जलाने वाली आत्मा ही है, ऐसा शास्त्रवेत्ता कहते हैं ॥ ११-१५ ॥ यह आत्मा सैकड़ों प्रवचन करने से भी नहीं मिलता, बहुत से शास्त्रों से भी प्राप्त नही होता, बुद्धि और ज्ञान का आश्रय लेने से भी नहीं मिलता। उसी प्रकार मेधा से, वेदों से, यज्ञों से, उग्र तपश्चर्या से, सांख्यज्ञान से, योग से, आश्रमों से अथवा किसी अन्य प्रयत्न से वह प्राप्त नही होता। जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष प्रवचन द्वारा, प्रशंसा द्वारा और समाधि में से बाहर आकर आत्मा में श्रवण करते और व्याख्यान करते हैं, वे ही उसे पाते हैं। इसलिये शम गुण, दमगुण, उपरति और तितिक्षा में स्थिर होकर समाधिनिष्ठ हुआ पुरुष आत्मा को आत्मा में ही देखता है। जो पुरुष इसे जानता है वह सब का हो जाता हैं ॥ १६ ॥

॥ नौवां खण्ड समाप्त ॥

दशम् खण्ड

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् कस्मिन् सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीतिरसातललोकेष्वितिहोवाचकस्मिन् रसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति भुवर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति सुवर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् सुदर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति महर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् जहर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति जनोलोकेष्विति होवाच कस्मिन् गनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति तपोलोकेष्विति होवाच कस्मिस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सत्यलोकेष्विति होवाच कस्मिन् सत्यलोका ओताश्च

प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेष्विति होवाच कस्मिन् प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेष्विति होवाच कस्मिन् ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच ।। १ ।।

एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव सभवतीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।।२।।

फिर रैकव ने घोरांगिरस से पूछा—"हे भगवन् ! कौनसा पदार्थ सब पदार्थों में रहा है ?" तब उन्होंने कहा कि रसातल के लोगों में सब कुछ रहता है। यह रसातल का लोक किसमें ओत प्रोत है ? उन्होंने कहा "भूर्लोक में।" "यह भूर्लोक किसमें ओत प्रोत है ?" उन्होंने उत्तर दिया "भुवर्लोक में।" "यह भुवर्लोक किसमे ओतप्रोत है ?" "महर्लोक मे" "यह उन्होंनेकहा ।" "यह महर्लोक किसमें ओत प्रोत ?" जन लोक में" ऐसा उन्होने कहा। "यह जन लोक किसमें ओत प्रोत है ?" "तपोलोक में" ऐसा उन्होंने कहा,"यह तपलोक किसमें ओत प्रोत है ?" "सत्य लोक में" उन्होंने कहा। "यह सत्य लोक किसमें ओत प्रोत है ?" प्रजापति लोक में" उन्होने कहा। "यह प्रजेपति लोक किसमें ओत प्रोत है ?" "ब्रह्मलोक में" ऐसा उन्होने कहा। "यह ब्रह्म लोक किसमें ओत प्रोत है ?" सब लोक आत्म रूप ब्रह्म में माला के दांनों की तरह ओत प्रोत है" ऐसा उन्होंने कहा। जो मनुष्य इन लोकों को आत्मा में ही रहता जानता है, वह आत्मा ही बन सकता है। इस प्रकार यह मोक्ष विषय का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की आज्ञा है।

।। दसवां खण्ड समाप्त ।।

एकादशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् स केन कतरद्वाव स्थानमुत्सृज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्चतस्रो भवन्ति तत्र रमाऽरमेच्छाऽपुनर्भवेतितत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेनपापमिच्छया यत् स्मरति तदभिसंपद्यतेऽपुनर्भवा(व)याकोशंभिनत्तिकोशंभित्त्वाशीर्षकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवी भिनत्ति पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनत्त्यापोभित्त्वा तेजो भिनत्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनत्ति वायुं भित्त्वाऽऽकाशंभिनत्त्याकाशंभित्त्वामनो भिनत्तिमनोभित्त्वाभूतादिं भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाऽव्यक्तं भिनत्त्यव्यक्तं भित्त्वाऽक्षरं भिनत्त्यक्षरंभित्त्वा मृत्यु भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

फिर रैकव ने उनसे पूछा—"यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब किस मार्ग से किस स्थान को छोड़कर बाहर जाता है ?" यह सुनकर घोरांगिरस ने कहा कि "हृदय के मध्य लाल माँस का पिण्ड है। उसमें चन्द्र से विकसित होने वाले कमल के सदृश्य श्वेत एक अत्यन्त सूक्ष्म कमल है। उसका अनेक प्रकार से विकाश हुआ है। उसके मध्य में समुद्र है, इस समुद्र के मध्य में कोश (कली) हैं। उसमें चार नाड़ियाँ हैं—रमा, अरमा, इच्छा, अपुनर्भवा। इनमें से रमा पुण्य द्वारा पुण्य लोक में ले जाती है, अरमा पाप द्वारा पाप लोक में ले जाती है, इच्छा नाड़ी से जिसका स्मरण किया जाता है उसे पाया जाता है, और अपुनर्भवा द्वारा इस कोश को खोला जाता है, कोशको खोलकर माथे की खोपड़ी को खोला जाता है, माथे की

खोपड़ी को खोलकर पृथ्वी को भेदता है, पृथ्वी को भेदकर जल को भेदता है, जल को भेदकर तेज को भेदकर वायु को भेदता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मनको भेदता है, मनको भेदकर अहकार को भेदता है, अहकार को भेदकर महतत्व को भेदता है। महत्तत्व को भेदकर प्रकृति को भेदता है, प्रकृति को भेदकर अक्षर को भेदता है, अक्षर को भेदकर मृत्यु को भेदता है, और वह मृत्यु परमदेव परमात्मा मे ही एक रूप होती है। इसके पश्चात् सत् नहीं रहता, असत् नही रहता, सदासत् नही रहता। ऐसा यह मोक्ष का उपदेश है। यह वेद की शिक्षा है, यह वेद की आज्ञा है।

॥ ग्यारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

द्वादशः खण्डः

नारायणाद्वा अन्न मागतमपक्व ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुन.पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्न पर्युषित पूतमन्नमयाचितमसक्लृप्तमश्नीयान्न कचन याचेत ॥ १ ॥

ॐ नारायण से अन्न आया है। वह ब्रह्मलोक मे पका है, फिर महा सवर्तक मे पका है, फिर सूर्य मे पका है और फिर क्रव्याद मे पका है। इस अन्न को सन्यासी जलमे भिगोकर वासीतथा पवित्र करके खाय, वह माँगा हुआ और अपने लिये तैयार किया हुआ भी न होना चाहिये। इस प्रकार संन्यासी को किसी से अन्न माँगना न चाहिये।

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

त्रयोदश खण्ड

बाल्येन तिष्ठासेद्बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनं प्राण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्यते कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यौ रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पे तोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत् सत्योऽयमात्मा ॥ १ ॥

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदय सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ २ ॥

(ज्ञानी को) बाल्यावस्था मे रहने की इच्छा करनी, बालक जैसे स्वभाव का होना, संग रहित और निर्दोष रहना । मौन तथा पाण्डित्य प्राप्त करना, कोई विशेष अवधि करने वाले के ढंग पर न चलना । यह अन्तिम कैवल्य स्थिति कही गई हैं। प्रजापति ने कहा है कि महान पद को जानने के पश्चात् पेड़ के नीचे रहना, चिथड़ा धारण करना, किसी की सहायता न लेना और अकेले समाधि में रहना । ऐसा पुरुष आत्मा की ही कामना वाला, पूर्ण काम और निष्काम होता है। उसकी सर्व कामनाएँ जीर्ण हो जाती हैं। वह हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, न्यौला, सर्प, राक्षस या गन्धर्व में मृत्यु का रूप जान कर किसी से नहीं डरता; पेड़ की तरह रहने की इच्छा करता है; कोई काट डाले

तो भी क्रोध नहीं करता; काँपता नही, कमल जैसा निर्लेप रहना चाहता है; छेदा जाय तो भी गुस्सा न करे, विचलित न हो; आकाश जैसा रहना चाहता है; छिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो भी क्रोध न करे, कांपे नहीं; सत्य के साथ रहना चाहता है, यह आत्मा ही सत्य है। सब गन्धों का हृदय पृथ्वी है; सब रसों का हृदय जल है; सब रूपों का हृदय तेज है; सब स्पर्शों का हृदय वायु है; सब शब्दों का हृदय आकाश है; सब गतिओं का हृदय प्रकृति है; सब सत्वों (प्राणियों) का हृदय मृत्यु है और वह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा में एक रूप बनता है। इसके पश्चात् न सत् है, न असत् और न सदासत्। इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यह वेद की आज्ञा है।१-२।

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

चतुर्दश खण्ड

पृथिवी वा अन्नमापोऽन्नादा आपो वा अन्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वा अन्नं वायुरन्नादो वायुर्वा अन्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वा अन्नमिन्द्रियाण्यन्नादानीन्द्रियाणि वा अन्नं मनोऽन्नादं मनो वा अन्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वा अन्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वा अन्नमक्षरमन्नादमक्षरं वा अन्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

ॐ पृथ्वी अन्न खाने वाली है, जल अन्न है और तेज (अग्नि) अन्न खाने वाली है; तेज अन्न है और वायु अन्न खाने वाली है; वायु अन्न है और आकाश अन्न खाने वाला है; आकाश अन्न है और इंद्रियाँ अन्न खाने वाली हैं; इन्द्रियाँ अन्न हैं और मन अन्न खाने वाला है; मन अन्न है और बुद्धि अन्न खाने वाली है, बुद्धि अन्न है और प्रकृति अन्न खाने वाली है; प्रकृति अन्न है और अक्षर अन्न खाने वाला है; अक्षर अन्न है और मृत्यु अन्न खाने वाली है। यह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा

में एक रूप हो जाती है। फिर सत् नहीं है, असत् नहीं है और सदासत् भी नहीं है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की आज्ञा है।

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

पञ्चदशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभञ्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं च तुरीयं च महतीं च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

फिर रैकव ने घोरांगिरस से पूछा कि "हे भगवन! कि यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से निकलता है, तब किसके द्वारा किस स्थान को जलाता है? यह सुन कर उसने कहा—"यह विज्ञानघन आत्मा जब बाहर निकलता है, तब प्रथम प्राण को, अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभंजन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को और नाग को जलाता है। फिर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को जलाता है; फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, बड़ों का लोक और परलोक को जलाता है; फिर लोक और अलोक को जलाता है; धर्म तथा अधर्म को जलाता है; फिर बिना सूर्य के, बिना मर्यादा के तथा बिना प्रकाश के स्थानों को जलाता है। उसके पश्चात् महत्तत्व को जलाता है, प्रकृति को

जलाता है, अक्षर को जलाता है, मृत्यु को जलाता है । यह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा में एक रूप हो जाता है । उसके पीछे न सत् है न असत और न सत्-असत् । यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद की आज्ञा है ।।१।।

।। पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त ।।

षोडश खण्ड

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्य नैव च प्रवक्तव्या ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

इत्यतेन्निर्वाणानुशासनम्िति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।। १ ।।

सौबाल जिसका बीज है ऐसा यह ब्रह्म का उपनिषद् उसे नहीं देना चाहिये जो अत्यन्त शान्त न हो । जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष तक पास न रहा हो, ऐसे अनजान कुलशील वाले को भी नहीं देना और न सुनाना चाहिये; क्योंकि जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परम भक्ति हो उसी के लिये ये अर्थ कहे गये हैं और ऐसे महात्मा को ही यह प्रकाशित करते हैं। ऐसा यह मोक्ष का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञा भी है ।। १ ।।

।। सोलहवाँ खण्ड समाप्त ।।

।। सुबालोपनिषद समाप्त ।।

मण्डलब्राह्मणोपनिषत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुच्यते पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्तिपाठ—ॐ यह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को पृथक करदें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा । ॐ शांति, शांति, शांति ।

प्रथमं ब्राह्मणम्

याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम । तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ।।

स होवाच नारायणः । ज्ञान सहितयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ।।

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ।।

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ।।

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति ।। पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुष्षष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ।। विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ।। विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतस्स्थापनं धारणं भवति ।। सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ।। ध्यानविस्मृतिः समाधिः।। एवं सूक्ष्माङ्गानि । य एवं वेद स मुक्तिभाग्भवति ।। १ ।।

महामुनि याज्ञवल्क्य सूर्यलोक में गये, तब उन्होंने सूर्य देवता को नमस्कार करके पूछा—"हे भगवन ! सूर्यदेव ! तुम आत्म तत्व का उपदेश करो।" इस पर सूर्यनारायण ने कहा—"ज्ञानयुक्त यमादि को अष्टाङ्गयोग कहते हैं। शीत, उष्णता, आहार और निद्रा पर विजय, सदैव शान्ति, निश्चलता और इन्द्रियों पर नियन्त्रण—ये यम हैं। गुरुभक्ति, सत्य मार्ग पर प्रीति, अपने आपको जो कुछ मिल जाय उसपर संतोष, अनासक्ति, एकान्तवास, मन पर अंकुश, फल की इच्छा का अभाव और वैराग्य—ये नियम हैं। सुख पूर्वक लम्बे समय तक एक ही स्थिति में बैठाना और चिथड़ा वस्त्र धारण करना आसन कहलाता है। सोलह मात्रा का पूरक, चौंसठ मात्रा का कुम्भक और बत्तीस मात्रा का रेचक, यह प्राणायाम है। इन्द्रियों के विषयों में से मन को पीछे खींचना—यह प्रत्याहार है। विषयों में से पीछे खींचे हुये मन को चैतन्य में स्थिर करना, धारणा है। सब शरीरों में एकमात्र चैतन्य ही है, ऐसी स्थिरता—यही ध्यान है और ध्यान को भी भूल जाय तो यह समाधि है। इस प्रकार ये सूक्ष्म अङ्ग है; जो इनको जानता है वह मुक्ति को पाने वाला होता है ॥१॥

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिश्वासभयनिद्राः ॥ तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥

निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं ततुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥ भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥

तदाप्त्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा । तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी । तत्र तमोनिवृत्तिः।

तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः ॥ तर्जन्यग्रोन्मीलित कर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते। तत्र स्थिते ममसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि ॥

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशांगुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥ चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दृष्टि स्थिरा भवति ॥ शीर्षोपरि द्वादशांगुलिमानज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति ॥ तदाकाराकारी भवति ॥ अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशसंकाशं सूर्याकाशं भवति ॥ एवमभ्यासात्तन्मयो भवति । य एवं वेद ॥ २ ॥

काम, क्रोध, श्वास, भय और निद्रा—ये शरीर के पाँच दोष है। संकल्परहितपना, क्षमा, अल्पाहार, निर्भयता और तत्वचिन्तन—ये उपर्युक्त दोषों को दूर करने के उपाय हैं। जिसमें निद्रा तथा भय सर्प रूप हैं, हिंसा आदि तरंगें हैं, तृष्णा रूपी भँवर है और स्त्री रूपी कीचड़ है, ऐसे संसार-सागर से तरने के लिये सूक्ष्म मार्ग का आश्रय लेकर तथा सत्वादि गुणों को उलाँघ कर तारक ब्रह्म का ध्यान करना। दोनों भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म रहता है, अभ्यास द्वारा उसको देखना।

इसके उपाय रूप में तीन लक्ष्यों को देखना चाहिये। मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्णा नाम की सूर्य के समान नाड़ी है। मृणाल के तन्तु जैसी सूक्ष्म कुण्डलिनी है, उसमें तमोगुण दूर होता है।

उसके दर्शन से सर्व पाप जाते रहते हैं। तर्जनी अंगुलियों के अग्रभाग से कानों को बन्द किया जाता है, तब उनके दोनों छेदों में फुत्कार का शब्द होता है। उसमें जब मन को स्थिर किया जाता है तब नेत्रों के मध्य नीली ज्योति दिखलाई देती है। इसी प्रकार हृदय में भी दिखलाई पड़ती है। बाहर का लक्ष्य यह है, कि नाक से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, लाल, पीला और दो रङ्गों का मिश्रण ऐसा प्रकाशयुक्त आकाश दिखलाई देने से, योगी हो जाता है। चञ्चल दृष्टि से आकाश के भाग को देखते हुये पुरुष की दृष्टि के सम्मुख तेज की किरणें दिखाई पड़ती हैं, उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है। मस्तक के ऊपर जब बारह अंगुल लम्बा प्रकाश दिखाई देता है तो अमरत्व प्राप्त होता है। मध्यलक्ष यह है कि प्रातःकाल मे सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की ज्वाला जैसा और उससे रहित अन्तरिक्ष जैसा दिखाई देता है, फिर उसके जैसे आकार वाला आकार हो जाता है। अभ्यास से निर्विकार गुण रहित आकाश रूप हो जाता है। प्रकाशयुक्त तारा के जैसा और अत्यन्त गाढ़ अन्धकार की उपमा वाला 'पराकाश' होता है; प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रकाशमान 'महाकाश' होता है; सबसे उत्कृष्ट, परम अद्वितीय स्वरूप में प्रकाशमान 'तत्वाकाश' होता है और करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान सूर्याकाश होता है। जो इनको जानता है वह अभ्यास द्वारा तन्मय होता है ॥ २ ॥

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तर विधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥

तारकं द्विविधम्। मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम् ॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः॥

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम्॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिस्वरूपं भवति महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम्॥ ३॥

पूर्व तथा उत्तर ऐसे विभागों से इस योग के दो प्रकार हैं। पूर्व विभाग तारक ब्रह्म है और उत्तर विभाग अमनस्क है। तारक ब्रह्म दो प्रकार का है—मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियों तक का है, वह मूर्ति तारक है, और जो दोनों भौहों से आगे है; वह अमूर्ति तारक है। इन दोनों का मनके साथ अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि मनयुक्त अन्र्तदृष्टि तारक ब्रह्म को प्रकट करने में समर्थ होती है। तत्पश्चात् दोनों भौहों के बीच छिद्र मे तेज का आविर्भाव होता है। यह पूर्व विभाग रूप तारक है; पर उत्तर विभाग तो मन रहित होता है। तालुके मूलके ऊपरी भाग मे महाज्योति होती है। उसका दर्शन होने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष स्थिर हो जाती है; तब वह शाम्भवी मुद्रा होती है। यह सर्व तन्त्रों में रखी गुप्त महाविद्या है। उसके ज्ञान से संसार दूर हो जाता है। उसका पूजन मोक्ष रूप फल को प्रदान करता है। अन्तर्लक्ष्य जल के समान ज्योतिरूप है। महर्षि ही उसे जान सकते है। भीतर की और बाहर की इन्द्रियों से वह अदृश्य रहता है॥ ३॥

सहस्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित्। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशकः परमात्माऽहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥ एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥ ४ ॥

सहस्रार दल में जल जैसी ज्योति अन्तर्लक्ष्य है, बुद्धिरूपी गुफा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष का स्वरूप अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा अन्य लोग मानते हैं। मस्तक के अन्दर रहने वाले मंडल के बीच में पाँच मुख वाले, पार्वती सहित शंकर अति शान्त अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा कितने ही मानते हैं। केवल अँगूठा के समान पुरुष अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा कितने ही कहते हैं। ऊपर बतलाये गये सभी भेद आत्मा रूप ही हैं। इस लक्ष्य को जो शुद्ध आत्म दृष्टि द्वारा देखता है वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। जीव पच्चीसवाँ तत्व है, वह अपने कल्पित चौबीस तत्वों को छोड़ कर जब ऐसा निश्चय करता है कि "मै छब्बीसवां परमात्मा हूँ" तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है, तब स्वयम् ही अन्तर्लक्ष्य रूप होकर परमाकाश रूप अखंड मंडल वाला हो जाता है ॥ ४ ॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न ज्ञातम् । तद्ब्रूहि मह्यम् ॥ तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तटित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च ॥

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥

तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलाऽतीतमखण्डमण्डलम् । सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥

आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये सुधा चन्द्रमण्डलम् । तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् । तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥

तद्दर्शने त्रयो दृष्टय अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति । तासु पूर्णिमाऽभ्यासः कर्तव्यः ॥ तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शांभवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः ॥

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम् । ततो बुद्धिस्थैर्यम् । तच्चिह्नानि । आदौ तारकवद्दृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । ततः परिपूर्णचन्द्रमण्डलम् । ततो रत्नप्रभामण्डलम् । ततो मध्याह्नार्कमण्डलम् । ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते ॥ १ ॥

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा—"हे भगवन् ! अन्तर्लक्ष्य आदि अनेक प्रकार से आपने कहा, उसे मैं नहीं समझ सका, अतएव आप समझाकर कहो ।" तब उस नारायण ने कहा—"पाँच भूतों का जो कारण है वह बिजलियों के ढेर के समान है । उसमें एक चतु.पीठ है, उसके मध्य मे तत्व का प्रकाश होता है । वह अति गूढ़ और अस्पष्ट है । ज्ञान रूपी नौका में चढा हुआ मनुष्य उसे जान सकता है, वही बाहर का और भीतर का लक्ष्य है । उसके मध्य में जगत लीन है, वह नाद-बिन्दु कला से परे अखंड मंडल है, वह सगुण-निर्गुण स्वरूप है, उसको जानने वाला मुक्त होता है । प्रथम अग्नि मंडल है, उसके ऊपर सूर्य मंडल है, उसके मध्य अमृत रूप चन्द्रमंडल

है। उसके मध्य में अखंड ब्रह्म तेजोमंडल है। वह बिजली की रेखा के समान श्वेत और प्रकाशमान है, वही शाभवी मुद्रा का लक्षण है। उसका दर्शन होने पर तीन मूर्ति रूप दृष्टि में आते है अमावस्या रूप, प्रतिपदारूप और पूर्णिमा रूप। निम्नलिखित (बन्द) दृष्टि अमावस रूप है, अर्ध निम्नलिखित प्रतिपदा रूप है और सम्पूर्ण खुली हुई पूर्णिमा रूप दृष्टि है। इन दृष्टियों में से पूर्णिमा रूप दृष्टि का अभ्यास करना चाहिये। उसका लक्ष्य नासाग्र है। जब तालु के मूल में गाढ़ अन्धकार दिखाई देता है, तब उसके अभ्यास से अखंड मंडलाकार ज्योति के दर्शन होते हैं। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। ऐसे सहजानन्द में जब मन लीन हो जाता है तब प्राणी को शान्ति मिलती है, उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। उसके अभ्यास से मन स्थिर होता है; उसको पीछे वायु स्थिर होती है, उसके चिह्न इस प्रकार होते है; प्रथम तारा जैसा दिखलाई देता है, फिर हीरा का दर्पण जैसा दिखाई नेता है, उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल जान पडता है, उसके पश्चात् नवों रत्नोंकी प्रभाका मंडल दिखाई देता है, फिर दोपहर के सूर्य का मण्डल दिखाई देता है और फिर क्रम से अग्नि की शिखा का मंडल दिखाई पडता है ॥ १ ॥

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकला-नक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणव-रूपम्।

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढ-भावनया द्विकरांगुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवादिध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति।

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्त-व्यम्। एवं विदश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः॥

शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञाने-नोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति।

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् । निश्चयज्ञानमासनम् । उन्मनीवावः पाद्यम् । सदाऽमनस्कमर्घ्यम् । सदा दीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम् । सर्वत्र भावना गन्धः । दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः । चिदाप्तिः पुष्पम् । चिदग्निस्वरूपं धूपः । चिदादित्यस्वरूपं दीपः । परिपूर्णचन्द्रामृतस्यैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहंभावो नमस्कारः । मौनं स्तुतिः । सर्वसंतोषो विसर्जनमिनि । य एवं वेद ॥ २ ॥

उस समय वह पश्चिम की ओर का प्रकाश स्फटिक जैसा धूम्रवर्ण का बिन्दु, नाद, कला, नक्षत्र, खद्योत, दीपक और नेत्र जैसे नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है । वह प्रणव का स्वरूप है। प्राण तथा अपान को एक करके कुम्भक धारण करे और फिर नाक के अग्रभाग पर दृष्टि रख कर दृढ़ भावना से दोनों हाथों की अँगुलियों द्वारा षण्मुखी मुद्रा करके प्रणव का नाद श्रवण करे, फिर मन उसमें लीन हो जाता है और उसे कर्मों का लेप नही होता। सूर्य का उदय तथा अस्त होते समय कर्म किये जाते है, पर चैतन्य रूप सूर्य का तो उदय और अस्त है ही नही, इससे उसका दर्शन करने वाले को कोई कर्म करने को नही रहते। शब्द और काल का लय होने से मनुष्य दिवस और रात से रहित हो जाता है, फिर सब का परिपूर्ण ज्ञान होने से उन्मन अवस्था प्राप्त होती है । इसके फलस्वरूप ब्रह्म से एकता होती है। उन्मन अवस्था से मन रहित स्थिति होती है । निश्चिन्त अवस्था उसका ध्यान है, सर्व कर्म दूर करना उसका आवाहन है; निश्चय ज्ञान ही आसन है; मन रहित होना ही पाद्य है; नित्य मन रहित स्थिति ही अर्घ्य है नित्य का प्रकाश और अपार अमृत रूप वृत्ति ही स्नान है; ब्रह्म के समान भावना ही चन्दन है; दर्शन के स्वरूप में स्थिति अक्षत है; चैतन्य की प्राप्ति ही पुष्प है; चैतन्य रूप अग्नि का स्वरूप ही धूप है; चैतन्य रूप सूर्य का स्वरूप दीप है; परिपूर्ण चन्द्रमा

के अमृत रस से एकात्मता करना ही नैवेद्य है; निश्चलता ही प्रदक्षिणा है; 'मै वही हूँ' यह भावना ही नमस्कार है; मौन ही स्तुति है और सर्व प्रकार का संतोष ही विसर्जन है। जो इसे जानता है वह ब्रह्म रूप हो जाता है ॥ २ ॥

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवच्चलसंपूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥

जाग्रन्निद्राऽन्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ।

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च । समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः संपद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ।

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात् । सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति ।

यस्य संकल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता । तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति । पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवति । य एवं वेद ॥ ३ ॥

इस प्रकार जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप त्रिपुटी दूर हो जाती है, तब तरंग रहित समुद्र के समान और वायु रहित स्थान में रखे दीपक के समान अचल, सम्पूर्ण, भाव-अभाव से रहित केवल ज्योति रूप हो जाता है। जाग्रत और निद्रा में भी ज्ञान रहने से ब्रह्मवेत्ता होता है। सुषुप्ति और समाधि मे यद्यपि मन का लय समान ही होता है, परन्तु इन दोनों में बड़ा अन्तर है। सुषुप्ति में मन अज्ञान में लय पाता है, इससे मुक्ति का कारण नहीं होता, पर समाधि में तमोगुण के विकार नष्ट हो जाने से तदाकार और अखंडाकार बनी हुई वृत्ति स्वरूप साक्षी चैतन्य में प्रपञ्च का लय होता है, क्योंकि प्रपञ्च मन द्वारा ही कल्पित

होता है। फिर कोई भेद शेष नही रहता। यही कारण है कि अनेकबार समाधि में से जाग्रत होने पर भी प्रपञ्च मिथ्या जान पड़ता है। एक ही बार सदानन्द का अनुभव हो जाने से वही एक मात्र मुख्य विषय हो जाता है और तभी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। जिसके संकल्प का नाश हो गया है, उसी के हाथ में मुक्ति है, इसलिये भाव और अभाव का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। बारम्बार प्रत्येक अवस्था में ज्ञान तथा ज्ञेय का, ध्यान तथा ध्येय का, लक्ष्य तथा अलक्ष्य का, दृश्य तथा अदृश्य का और ऊहापोह आदि का त्याग करने से मनुष्य जीवन्मुक्त होता है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म को पाता है ॥ ३ ॥

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः।

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः पापफलनरकादि माऽस्तु शुभकर्मस्वर्गफलमस्त्विति काङ्क्षते।

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्मालं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति।

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन् साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थायामुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनाऽनुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्म्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परं तु न हि मदन्यदिति जातिविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारित परंब्रह्माकारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति।

संकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति। तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वं

जगदात्मत्वेन पश्यंस्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ॥ ४ ॥✓

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ऐसी पाँच अवस्थाएँ है। इनमें से जाग्रत अवस्था में रहने वाला जीव प्रवृत्ति मार्ग में आसक्त होता है; पाप के फल स्वरूप नर्क आदि को पाता है। शुभ कर्म का फल स्वर्ग मुझे प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करता है वही जीव तब वैराग्य को स्वीकार करता है, तो कर्म के फल रूप जन्म और संसार रूप बंधन से छुटकारा पाने की वृत्ति वाला होकर मुक्ति की तरफ अभिमुख होता है और निवृत्ति मार्ग पर चलने लगता है। फिर वही जीव संसार से तरने के लिये गुरु का आश्रय लेकर कामादि का त्याग करता है और वेदोक्त कर्म करता हुआ चार साधनों से युक्त होता है। इससे हृदय कमल के मध्य मे एक मात्र भगवान की सत्तारूप अन्तर्लक्ष्य को प्राप्त करता है और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द का स्मरण करके ऐसा विचारता है कि "मैं एक और अद्वितीय ही हूँ, पर कुछ समय से अज्ञान वृत्ति के कारण आत्म स्वरूप को भूल गया था और जाग्रत अवस्था की वासना के फलस्वरूप स्वप्न में 'मैं तेजस हूँ' ऐसा मानता था; वैसे ही जाग्रत और स्वप्न, इन दोनों अवस्थाओं के दूर हो जाने पर (सुषुप्ति में) मैं प्राज्ञ हूँ ऐसा मानने लगता था। पर अब 'मैं एक ही हूँ' ऐसा अनुभव करता हूँ। वे तो स्थान भेद से जुदी-जुदी अवस्थाएँ थीं, पर मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है।" इस प्रकार का विवेक होने से और "मैं शुद्ध, अद्वैत ब्रह्म ही हूँ" ऐसा अनुभव होने से भेद भाव की सर्व वासनाएं दूर हो जाती हैं; अपने भीतर प्रकाशमान तेजोमंडल के ध्यान से तदाकार बन कर, परब्रह्म के स्वरूप को पाकर मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ होता है और परिपक्व बनता है। सङ्कल्प आदि को प्राप्त हुआ मन बंधन का कारण होता है और सङ्कल्प से रहित मन मोक्ष का कारण होता है। (जीवितावस्था में) मोक्ष प्राप्त करने वाला

आत्मा चक्षु आदि बाह्य प्रपञ्चों से विगत हो जाता है; उसमें प्रपञ्च की गन्ध भी नहीं रहती, सब जगत को वह आत्मा रूप देखता है; अहङ्कार को छोड़कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तन करता है और 'यह सब आत्मा ही है' ऐसी भावना करता है और कृतकृत्य हो जाता है ॥ ४ ॥

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति । तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति । सर्वलोकस्तुति पात्रं सर्वलोकसंचारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राऽखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ।

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति । तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः । एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥ ५ ॥

वह योगी सब प्रकार से परिपूर्ण होकर तुरीयातीत ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार लोग उसकी स्तुति करते हैं । इस प्रकार वह सब लोगों की स्तुति का पात्र बनता है, सर्व देशों में संचार करने के स्वभाव वाला होता है और परमात्मा रूप आकाश में बिन्दु स्थापन करके शुद्ध, अद्वैत, जड़ता रहित और सहज मन रहित स्थिति रूप योग निद्रा में अखंड आनन्द पद का अनुसरण करके जीवन्मुक्त होता है । ऐसे योगी आनन्द समुद्र में मग्न रहते हैं । इन्द्र आदि को भी उनकी अपेक्षा बहुत कम आनन्द होता है । इस प्रकार आनन्द प्राप्त करने वाला परमयोगी होता है, ऐसा यह रहस्य है ॥ ५ ॥

॥ दूसरा ब्राह्मण समाप्त ॥

तृतीयं ब्राह्मणम्

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति । तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् । इदममनस्कमतिरहस्यम् । यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्राऽन्वितम् ।

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं पराकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परं ब्रह्म प्राप्नोति ।

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनः प्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ।

पयःस्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशं भवति तदेवामनस्कम् । तदनु नित्यशुद्धः परमात्माऽहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ।

परिपूर्ण परमाकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गः अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ।

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः ।

इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ।

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्य मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा कि "हे स्वामिन ! अमनस्क स्थिति का लक्षण तुमने कहा पर मैं उसे भूल गया हूँ अतः फिर उसे कहो । "बहुत अच्छा" यह कह कर वह मंडल-पुरुष बोला : "इस अमनस्क स्थिति का स्वरूप अति रहस्यमय है; उसके ज्ञान से मनुष्य कृतार्थ होता है । वह सदैव शांभवी मुद्रायुक्त होता है । परमात्म-दृष्टि से उनको अनुभव कराने वाले लक्ष्यों को देखने के पश्चात् सबका ईश्वर, प्रमाणों द्वारा न जान सकने योग्य, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु रुद्र आदि के लक्ष्य रूप और

सब के कारण रूप परब्रह्म को अपनी ही आत्मा में देखने वाला पुरुष, हृदय रूपी गुफा में ही उनके विहार को निश्चयपूर्वक जान कर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से रहित होकर मन की उन्मन अवस्था का अनुभव करता है; फिर सब इन्द्रियों का नाश होने के लिये अमनस्क स्थिति के सुख रूप ब्रह्मानन्द के समुद्र में उसके मन का प्रवाह बहता है और उसके योग रूप से वायु रहित प्रदेश में रखे दीपक के समान अचल परब्रह्म को वह पाता है। फिर सूखे वृक्ष के समान मूर्च्छा और निद्रामय स्थिति में श्वासोच्छ्वास भी नहीं रहता, जिससे सुख-दुःखादि द्वन्दों का नाश हो जाता है और सदा स्थिर गात्र वाला हो जाता है। इस प्रकार परम शान्ति को स्वीकार करके मन प्रचारशून्य बनता है और परमात्मा मे लीन हो जाता है। जिस प्रकार दूध निकाल लेने के पश्चात् वह गाय के थनों में नही रहता, उसी प्रकार सब इन्द्रियों का नाश होने पर मन का भी नाश हो जाता है और वही अमनस्क स्थिति है। इसके पश्चात् "नित्य शुद्ध परमात्मा मै ही हूँ" इस प्रकार 'तत्वमसि' महावाक्य का उपदेश प्राप्त होने से 'तू ही मैं हूँ और मै ही तू है' ऐसा तारक ब्रह्मरूप योगमार्ग का आश्रय लेकर कृतार्थ होना है ॥ १ ॥

जिसका मन परिपूर्ण पराकाश मे मग्न हुआ हो, वह उन्मनी अवस्था को पाता है; उसका समस्त इन्द्रिय-वर्ग छूट जाता है; अनेक जन्मों से प्राप्त हुये पुण्य के समूह के द्वारा उसका कैवल्य रूप फल पक जाता है और अखंड आनन्द का अनुभव प्राप्त हो जाने से सर्व क्लेश रूपी पाप दूर हो जाते हैं। फिर "मैं ब्रह्म हूँ" इस भाव से वह कृतकृत्य हो जाता है। 'परमात्मा पूर्ण है इस लिये तू ही मैं हूँ' इस प्रकार उच्चारण करते हुये गुरु ने शिष्य को भेद कर इस ज्ञान का उपदेश दिया था ॥ २ ॥

॥ तीसरा ब्राह्मण समाप्त ॥

चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति । स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम् । अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् । एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनात्तद्रूपो भवति ।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥ १ ॥

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा कि "पाँच आकाश का लक्षण तुम विस्तारपूर्वक कहो ।" तब उसने बताया—"आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश ऐसे पाँच आकाश हैं । उसमें बाहर और भीतर का अन्धकारमय आकाश है; बाहर के भीतर प्रलयकाल की अग्नि के समान पराकाश है । बाहर और भीतर अपरिमित कांति जैसा तत्व वाला महाकाश है । बाहर और भीतर सूर्य जैसा सूर्याकाश है और जिसका वर्णन न किया जा सके ऐसा ज्योति रूप, सर्वव्यापक तथा निरतिशय आनन्द रूप लक्षण वाला परमाकाश है । "इस प्रकार जिस-जिस लक्ष्य के दर्शन से मनुष्य का वैसा-वैसा रूप होता है । नवचक्र, छः आधार, तीन लक्ष्य और पाँच आकाश को जो सम्यक् प्रकार से नहीं जानता, वह नाम का ही योगी है ॥ १ ॥

॥ चौथा ब्राह्मण समाप्त ॥

पञ्चमं ब्राह्मणम्

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति। अतः सर्वं चित्तगोचरम् । तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्वं लययोग्यं भवति। तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत् । मनोलय-कारणमहमेव।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः।
यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात् । एतदेव परमतत्त्वम् । स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् । एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्य-निद्राऽऽदृग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ।

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति । तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृजायाऽपत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

विषय वाला मन बन्धन के लिये होता है और विषय रहित मन मुक्ति के लिये होता है।। इस लिये समस्त जगत चित्त का ही विषय है। वही चित्त यदि निराश्रय होवे, तो मन उन्मन अवस्था में परिपक्व होकर लय होने योग्य बनेगा। इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना, क्योंकि मन से लय का कारण 'मैं' ही है। अनहद शब्द और शब्द के भीतर जो ध्वनि होती है, उसके भीतर ज्योति रहती है। इस ज्योति के भीतर मन रहता है, यही मन तीनों जगतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार रूप कर्म करता है । यह मन जिसमें विलय होता है वही विष्णु का परम पद है। इसमें मन का लय होने से

शुद्ध अद्वैत तत्व की सिद्धि होती है। क्योंकि उसके पश्चात् कोई भेद नहीं रहता। यही परम तत्व है। इसका जानने वाला पुरुष बालक, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान जड़ वृत्ति से संसार में आचरण करता है। इस प्रकार की अमनस्क स्थिति का अभ्यास होने से नित्य की तृप्ति होती है, मलमूत्र अल्प हो जाते हैं, आहार भी थोड़ा ही लेना पड़ता है, शरीर मजबूत बनता है, जड़ता नही रहती है, निद्रा और नेत्र-वायु की गति (पलक झपना) नहीं रहती और ब्रह्म दर्शन के लिये सुखमय स्वरूप सिद्धि का ज्ञान हो जाता है। इस तरह बहुत समय तक समाधि का अभ्यास करने से उत्पन्न ब्रह्म रूप अमृत के पीने में परायण रहता हुआ वह संन्यासी परमहंस अवधूत बन जाता है। उसके दर्शन से समस्त जगत पवित्र होता है। उसकी सेवा में तत्पर रहने वाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता है और वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियों को तार देता है। उसके माता-पिता, स्त्री-संतान आदि भी मुक्त होते हैं। ऐसा यह उपनिषद है।

॥ पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥

हंसोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है । पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

गौतम उवाच—

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि येनोपायेन जायते ।। १ ।।

सनत्कुमार उवाच—

विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं श्रृणु गौतम तन्मम ।। २ ।।
अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम् ।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।। ३ ।।

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामो ब्रह्मचारिणे दान्ताय गुरुभक्ताय हंसहंसेति सदा ध्यानम् ।। ४ ।।

सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव । तं विदित्वा न मृत्युमेति ।। ५ ।।

गौतम ने पूछा—हे भगवन् ! आप सब धर्मों के मर्मज्ञ और सब शास्त्रों के जानने वाले हैं, ब्रह्म विद्या का ज्ञान किस विधि से प्राप्त किया जा सकता है यह कृपा करके बतलाइये ? ।। १ ।। सनत्कुमार ने कहा—श्री महादेव जी ने सर्व वेदों के मतों पर विचार करके श्री पार्वती जी

को जो कुछ बतलाया था उसे तुम सुनो ॥ २ ॥ इस गुह्य रहस्य को किसी अज्ञात से कहना नही चाहिये और योगियों के लिये यह एक कोश के तुल्य है। हंस (आत्मा) की स्थिति को बतलाने वाला यह वर्णन मुक्ति रूपी फल को प्रदान करने वाला है। जो ब्रह्मचारी, शान्त, इन्द्रियों को जीतने वाला और गुरु-भक्त हो उसके सम्मुख हंस और परमहंस का रहस्य प्रकट करना उचित है। समस्त देहों में यह जीव 'हंस, हंस' जपता हुआ व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जैसे काठ में अग्नि रहती है और तिलों में तेल रहता है। इसके जान लेने वाला मृत्यु को उलङ्घन कर जाता है ॥ ५ ॥

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य शिरनाभे पार्श्व भवतः। विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुयायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥ ६ ॥ एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम् ॥ ७ ॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम् ॥८॥ अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥ ६ ॥

पहले गुदा को खींच कर आधार चक्र की वायु को बाहर निकालना, फिर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणायें करना, मणिपूर चक्र में जाकर अनाहत चक्र का अतिक्रमण करना चाहिये। फिर विशुद्धचक्र में प्राणों का निरोध करके, आज्ञाचक्र का ध्यान करते हुये ब्रह्मरंध्र का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार 'त्रिमात्र आत्मा मैं हूँ'

ऐसा ध्यान करने से आधार-चक्र से लेकर ब्रह्मरंध्र तक जो नाद होता रहता है, वह स्वच्छ स्फटिक के तुल्य परमात्मा है, ऐसा कहा गया है ॥ ६—९ ॥

अथ हंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो देवता । हं बीजम् । सः शक्तिः । सोऽहं कीलकम् ॥ १० ॥ षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्ति । सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥ ११ ॥ अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यास-करन्यासौ भवतः ॥ १२ ॥ एवं कृत्वा हृदये हंसमात्मानं ध्यायेत् ॥ १३ ॥

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥ एवं हंसवशान्मनो विचार्यते ॥ १५ ॥

अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति । स च दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टा-नादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्ताल-नादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः। दशमो मेघनादः ॥ १६ ॥

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥ १७ ॥
प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् ।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥ १८ ॥
पञ्चमे स्रवती तालू षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे ॥ १९ ॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् ।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥ २० ॥

तस्मान्मनो विलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्ततमः प्रकाशयतीति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत् ।। २१ ।।

इसमे हंस ऋषि है, अव्यक्त गायत्री छन्द है, देवता परमहंस है, 'अहं' बीज रूप है और 'सु' शक्ति रूप है, 'सोहं' कीलक है। इस प्रकार इन छः की संख्या द्वारा एक दिन रात्रि मे इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिये जाते हैं । "सूर्याय सोमाय, निरञ्जनाय निराभासाय तनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्निषोमाभ्याँ वौषट" इस मंत्र का जप करते हुये हृदय आदि अङ्गों का तथा कराऩ्यास करना। ऐसा करने के पश्चात् आठ दल वाले हृदय कमल में हंस-आत्मा का ध्यान करना। अग्नि और सोम इस हस के पक्ष हैं, ओंकार मस्तक है, बिन्दु नेत्र हैं, रुद्र मुख रूप है, रुद्राणी दोनो चरणों के रूप में है, काल दोनों बाहुओं के रूप में और दोनो बगलें अग्नि रूप हैं। पश्यन्ति तथा अनाकार (सगुण और निर्गुण ब्रह्म) दोनों पार्श्व के रूप में है । ऐसा जो परमहंस है वह करोड़ सूर्य के समान प्रकाशयुक्त होता है और सर्वत्र उससे व्याप्त है। उसकी वृत्ति आठ प्रकार की होती है। इन आठ में से जब वह पूर्व दिशा के पत्र पर रहता है तो उसकी मति पुण्य में होती है। जब अग्नेय दिशा के पत्र पर होता है तब निद्रा और आलस होता है; दक्षिण दिशा के पत्र पर क्रूरतायुक्त विषयों मे मति होती है, नैऋत्य में पाप में बुद्धि हो जाती है; पश्चिम दिशा वाले पत्र पर क्रीडा और वायव्य में चलने फिरने की ओर बुद्धि जाती है; उत्तर दिशा के पत्र पर बैठने से विषय की ओर रुचि होती है; ईशान के पत्र पर द्रव्य न देने की प्रवृत्ति और मध्य स्थान में बैठता है तो लोक परलोक के विषय में वैराग्य की भावना प्रादुर्भूत होती है। जब यह हंस (आत्मा) उस हृदय रूपी कमल के केसर पर आसीन होता है

तब जाग्रतावस्था, कर्णिका पर स्वप्नावस्था और मध्य भाग के सूक्ष्म स्थान पर रहने से सुषुप्ति अवस्था होती है। जब हंस हृदय कमल को त्याग देता है तो तुरीयावस्था में चला जाता है। जब हंस नाद में लीन होता है तो तुर्यातीत, उन्मन, अजपोष संहार; इन नामों से कहा जाता है। इस प्रकार सर्व भाव हंस के वश में रहते हैं, इस लिये वह मन मे रहते हुये चिन्तवन करता है। यही हंस जब एक करोड़ जप कर लेता है तब उसे नाद का अनुभव होता है। यह सब नाद हंस के वश में है और वह इस प्रकार का होता है—प्रथम, चिरण, चिञ्चिरण द्वितीय; घण्टा का नाद तीसरा, शङ्ख का नाद चौथा; तंत्री नाद पाँचवाँ, ताल नाद छठा; वेणु का नाद सातवाँ; मृदङ्ग नाद आठवां; भेरी नाद नौवां; मेघ का नाद दसवाँ। इनमे प्रथम नौ को त्याग कर दसवें का अभ्यास करना चाहिये। प्रथम नाद के प्रभाव से देह चिनचिनाती है, दूसरे से गात्र का भंग होता है; तीसरे से पसीना उत्पन्न होता है; चौथे से शिर में कँपकँपी होती है; पाँचवे से तालु से स्राव होता है; छठे से अमृत की वर्षा होती है; सातवे से गूढ विज्ञान ज्ञात होता है और आठवे से परावाच प्राप्त होती है; नौवे से देह को अदृश्य करने की विद्या तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दसवे से परब्रह्म का ज्ञान होना है और ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। तब मन उस हंस में विलीन हो जाता है, संकल्प विकल्प का मन में लय होकर पुण्य-पाप का नाश हो जाता है। तब हंस सदाशिव रूप, शक्ति रूप, सर्वत्र अवस्थित, स्वयं ज्योति, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, शान्त रूप से प्रकाशमान होता है। ऐसा वेद का वचन है, ऐसा उपनिषद् है ॥ १०-२१ ॥

॥ हंसोपनिषद् समाप्त ॥

स्वसंवेद्योपनिषत्

ॐ सर्वेषां प्राणिबुद्बुदानां निरंजनाव्यक्तामृतनिधौ विलयविलासः स्थितिर्विजृम्भते। तेषामेव पुनर्भवनं नो इहास्ति। स यथा मृत्पिण्डे घटानां तन्तौ पटानां तथैवेति भवति। वस्तुतो नोपादानमत एव नोपादेयमत एव न निमित्तमत एव न विद्या न पुराणं नो वेदा नेतिहासा इति न जगदिति न ब्रह्मा नो विष्णुः नाथ रुद्रो नेश्वरो न बिन्दुः नो कलेति अग्रे मध्येऽवसाने सर्व यथावस्थितं यथावस्थितज्ञानं तेषां नो भवत्यागमपुराणे-तिहासधर्मशास्त्रेषु धृताभिमानास्ते। यत्तानि तु मुग्धतरमुनि-शब्दवाच्यैः जीवबुद्बुदैः रचितानीति भवन्ति। तत्र प्रामाण्यं तादृशानामेव। ते त्वज्ञानेनावृताः सयत्नेन गर्भास्तदप्येष श्लोको भवति। तदत्र श्लोको भवति॥

ॐ प्राणि रूपी बुलबुलों (जल के बुद्बुद) का निरञ्जन, अव्यक्त, अमृत की निधि ब्रह्म में विलय होना रूप जो स्थिति है, वह प्रकट है, सत्य है, हुआ करती है। जो ब्रह्मलीन हो जाया करते हैं उन्हीं का फिर यहाँ जन्म नहीं होता। उनकी तो वही स्थिति हो जाती है जो कि मिट्टी के पिण्ड में घड़ों की, धागे में कपड़ों की। वस्तुतः वह उपादान नहीं इसी से उपादेय भी नहीं है और इसी कारण निमित्त भी नहीं सो विद्या भी नही और पुराण, वेद, इतिहास, सब कुछ नहीं न संसार है न ब्रह्मा न विष्णु न रुद्र न ईश्वर न बिन्दु न कला आदि मध्य व अन्त में उन्हें यथावस्थित ज्ञान नहीं हुआ करता। क्योंकि वे आगम्, पुराण, इतिहास एवं धर्म शास्त्रों में अभिमान धारण करने

वाले है। क्योंकि वे बेचारे मुनि शब्दों से कहे जाने वाले जीव बुद्-बुदों द्वारा निर्मित है। उस विषय में तो वैसों की ही प्रामाणिकता मानी जाती है। वे तो अज्ञान से घिरे है। बड़े यत्न से कुछ ज्ञान प्राप्त करते है फिर भी यह सब प्रसिद्ध है ही कि वे सब अज्ञानावृत्त है, मुग्धतर हैं।

इह तेनाप्यज्ञानेन नो किञ्चित् । अथ यथावस्थितज्ञानेन किंचित् नेति यदस्ति तदस्ति यन्नास्ति नास्ति तत् । कालकर्मात्मकमिदं स्वभावात्मकं चेति । न सुकृतं नो दुष्कृतम् । अत एव सुमेरुदातारो गोदातारो वा गोघ्नैः ब्राह्मणघ्नैः सुरापानैः पश्यतोहरैः परोक्षहरैर्वा गुरुपापनिष्ठैः सर्वपापनिष्ठैः समानास्त एते । तैश्च न गोः न ब्राह्मणः न सुरा न पश्यतोहरः न परोक्षहरः न गुरुपापानि न लघुपापानि मत एव तन्निष्ठाः मत एव न निर्वाणं नो निरय इति तदप्येष श्लोको भवति ॥

परञ्च यहां उस अज्ञान से, यथावस्थित ज्ञान से भी कुछ प्रयोजन नहीं। जिसकी सत्ता है वह ठीक है जिसकी नहीं वह भी सत्य है। ये सब कालकर्मात्मक (समयानुसारी) एवं स्वभावात्मक है। न पुण्य है न पाप। इसी कारण सुमेरु के दान करने वाले अथवा गौ के दाता भी गो हत्यारे, ब्रह्म हत्यारे, शराबी, चोर (सुनार) (ठग) गुरुपापी अथवा सभी पापियों के समान हैं। अर्थात् सब की स्थिति एक सी है। काल (समय)के वश ये सब चीज होती है आत्मा इससे परे है। उनसे न गौ, न ब्राह्मण, न शराब, न चोर, न ठग, न बडे पाप न छोटे पाप कुछ नहीं होते। वे सब मतनिष्ठ हैं। उनका सर्वस्व मत है न मोक्ष है न नरक हैं। यह सब सर्व विदित है।

तत्त्वज्ञानं गुहायां निविष्टमज्ञानिकृतमार्गं सुष्ठु वदन्ति। ते तत्र साभिमाना वर्तन्ते। पुष्पितवचनेन मोहितास्ते भवन्ति। स यथातुरा भिषग्ग्रहणकाले बाला अपथ्याहितगुडादिना जनन्या वञ्चिता इति नानादेवता गुरुकर्मतीर्थनिष्ठाश्च ते भवन्ति। केचि-

द्वयं वैदिका इति वदन्ति । नान्येऽस्मभ्यम् । केचिद्वयं सर्व-शास्त्रज्ञा इति । केचिद्वयं देवानुग्रहवन्तः । केचिद्वयं स्वप्ने उपास्य-देवताभाषिणः । केचिद्वयं देवा इति । केचिद्वयं श्रीमद्रमारमण-नलिनभृङ्गा इति । केचित्तु नृत्यन्तु । केचित्तु मूर्खा वयं परम-भक्ता इति वदन्तो रुदन्ति पतन्ति च । ये केचनैते ते सर्वेऽप्य-ज्ञानिनः । ये तु ज्ञानिनो भवन्ति ये तत्त्वज्ञानिनश्च तैस्तेषां को विशेषः । मत एव केषाञ्चित्कैश्चिद्भेदः । मत एव यत्र विरञ्चि-विष्णुरुद्रा ईश्वरश्च गच्छन्ति तत्रैव श्वानो गर्दभाः मार्जाराः कृमयश्च मत एव न श्वानगर्दभौ न मार्जरः न कृमिः नोत्तमाः न मध्यमाः न जघन्याः । तदप्येष श्लोको भवति ॥

तत्वज्ञान तो अन्धकारावृत है । अज्ञानियों द्वारा किये मार्ग को अच्छा कहते हैं । क्योंकि वे उस मार्ग में साभिमान हैं । वे मुग्ध वचनों से मोहित हो जाते है । वे सब अनेकों देवताओं, गुरुओं, सत्कर्मों तीर्थ सेवन आदि जो कर्म करते हैं उसका कारण अच्छे पदों का लोभ ही है सद्गति का लोभ है जिसके लिये ये ठगे जाते हैं । इनकी स्थिति ऐसी ही है जैसे मातायें बच्चों को दवा आदि पी लेने के लिये गुड़ आदि का प्रलोभन देकर बञ्चित करती हैं गुड़ के अन्दर दवा भर कर बच्चों को धोखा दे देती हैं। कुछ हमें वैदिक कहते हैं दूसरे हमें नहीं कहते । कुछ सर्व शास्त्रों के ज्ञाता कहे जाते है तो कुछ देवताओं की कृपा के पात्र । कुछ स्वप्न में अपने उपास्य देवता की कृपा से तथ्यों को (चोरी आदि का) बताने वाले होते हैं (जैसे कि पर्वतीय क्षेत्रों में बहुत से वागीश्वर हुआ करते है जो सोये हुए ही अपने भक्तों की बातें बतला दिया करते हैं ।) कुछ देव स्वरूप पूजे जाते है । कुछ भगवान् विष्णु रूपी कमल रस के मतवाले भौंरे हैं अर्थात् वैष्णव है । कुछ इसी मस्ती में नाचें तो नाचें । कुछ मूर्ख अपने को परम भक्त बतलाकर रोते हैं गिरते हैं । जो भी ये इस प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं वे सब परम अज्ञानी हैं । जो ज्ञानी होते हैं जो तत्वज्ञानी हैं उनमें

परस्पर कौन वरिष्ठ है ? (कोई नहीं)। किन्हीं का किन्हीं से केवल मत में ही भेद होता है। सर्व सम्मत है कि जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ईश्वर जाया करते हैं वहीं कुत्ते, गधे, बिल्ली, कीट, पतङ्ग भी जाया करते हैं लीन होते है। सर्व सम्मत है कि कुत्ते, गधे, बिल्ली, कीट न उत्तम है न मध्यम न अधम किन्तु एक समान है। तभी यह सब प्रसिद्ध हैं।

न तच्छब्दः न किंशब्दः न सर्वे शब्दाः न माता नो पिता न बन्धुः न भार्या न पुत्रो न मित्रं नो सर्वे तथापि साधकैरात्मस्वरूपं वेदितुमिच्छद्भिर्जीव मुमुक्षुभिः सन्तः सेव्याः। भार्या पुत्रो गृहं धनं सर्वं तेभ्यो देयम्। कर्माद्वैतं न कार्यं भावाद्वैतं तु कार्यम्। निश्चयेन सर्वाद्वैतं कर्तव्यम्। गुरौ द्वैतमवश्यं कार्यम्। यतो न तस्मादन्यत्। येन सर्वमिदं प्रकाशितम्। कोऽन्यः तस्मात्परः। स जीवन्मुक्तो भवति स जीवन्मुक्तो भवति। य एवं वेद। य एवं वेद॥

न तो तत् शब्द है न किं शब्द अर्थात् (प्रश्नोत्तर कुछ नहीं) और न कोई अन्य शब्द ही हैं। माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र, मित्र सभी कुछ नहीं है। किन्तु साधकों को अपने स्वरूप को समझने की इच्छा से जीवन्मुक्तेच्छा से सन्तों की सेवा करनी चाहिये। स्त्री, पुत्र, घर, धन सब कुछ उन्हें अर्पण कर देना चाहिये अर्थात् उनके कारण छोड़ देना चाहिये। कर्माद्वैत तो नहीं किन्तु भावाद्वैत करना चाहिये। निश्चय ही सर्वाद्वैत करना चाहिये। किन्तु गुरु में द्वैत अवश्य रखना चाहिये क्योंकि उससे बढ़ कर अन्य कुछ नही। जिसके द्वारा कि यह सब संसार प्रकाशित होता है जाना जाता है। दूसरा कौन उससे बढ़कर है ? वह निश्चित ही जीवन्मुक्त हो जाता है जो कि इस तथ्य को भली भांति समझता है।

॥ स्वसंवेद्योपनिषद् समाप्त ॥

जाबाल्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु । तदात्मनि निरतेय उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्तिपाठः—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हो; सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मरत रहते हुये मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शांतिः शांतिः शातिः।

अथ हैनं भगवन्तं जाबालिं पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन् मे ब्रूहि परमतत्त्वरहस्यम् ॥ १ ॥

किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षोपाय इति ॥ २ ॥

स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यदाज्ञातमिति ॥ ३ ॥

पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥ ४ ॥

पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥ ५ ॥

पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥ ६ ॥

पुनः स तमुवाच तेनेशानादिति ॥ ७ ॥

पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥ ८ ॥

पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ।। ९ ।।

पुनः स तमुवाच भगवन् कृपया मे सरहस्यं सर्व निवेदयेति ।। १० ।।

भगवान जावालि से पैप्पलादि ने प्रश्न किया—"भगवन् ! परमतत्व के रहस्य का कथन कीजिये । तत्व क्या है ? जीव क्या है ? पशु क्या है ? ईश कौन है ? मोक्ष का उपाय क्या है ? जाबालि ने कहा—"बड़ा अच्छा प्रश्न किया, जो कुछ मुझे मालूम है सब बतलाता हूँ ।" पैप्पलादि ने कहा—"आपको कैसे मालूम हुआ ?" उत्तर मिला "षड़ानन से ।" फिर पूछा "उन्हें कहाँ से ज्ञात हुआ ?" जाबालि ने कहा—"ईशान से ।" फिर पूछा—"उन्होंने कैसे जाना ?" उत्तर मिला "उन्होंने उपासना करके जाना था ।" तब पैप्पलादि बोले "भगवन ? अब वह सब रहस्य मुझसे कृपा पूर्वक कहिये ।। १—१० ।।

स तेन पृष्टः सर्व निवेदयामास तत्त्वम् । पशुपतिरहंकाराविष्टः संसारी जीवः । स एव पशुः । सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ।। ११ ।।

के पशव इति पुनः स तमुवाच ।। १२ ।।

जीवाः पशव उक्ताः । तत्पतित्वात् पशुपतिः ।। १३ ।।

स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति । कथं तत्पतिरिति ।। १४ ।।

स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिवध्यमाना गवादयः पशवः । यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः ।। १५ ।।

तज्ज्ञानं केनोपायेन जायते ।। १६ ।।

पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ।। १७ ।।

तत्प्रकारः कथमिति । कुत्रकुत्र धार्यम् ॥ १८ ॥

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत । व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति । तत् समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥ १९ ॥

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति त्रिपुण्ड्रधारणस्य । त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ॥ २० ॥

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति । याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं विष्णुर्देवो देवतेति । याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥ २१ ॥

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति । स सर्वान् वेदानधीतो भवति । स सर्वान् देवान् ध्यातो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ॥ इति ॥ २२ ॥

ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥ २३ ॥

जाबालि ने कहा—"मैं उस सब तत्त्व को कहता हूँ । अहङ्कार से युक्त पशुपति ही संसारी जीव होकर पशु हो जाता है । पञ्च कृत्यों से सम्पन्न, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर ईश ही पशुपति है । पैप्पलादि ने जिज्ञासा की कि "पशु कौन है ? उन्होंने उत्तर दिया—जीव को ही पशु कहा जाता है और उनका पति होने से वे पशुपति कहलाते हैं ।" फिर पूछा—"जीव पशु किस प्रकार होता है ?" उत्तर दिया—जैसे घास खाने वाले,

विवेक रहित, अन्य के दास, कृषि कार्य आदि मे संलग्न, अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करने वाले, बन्धन में पड़े हुये पशु किसी स्वामी के वश में रहते हैं, इसी प्रकार जीवों के स्वामी सर्वज्ञ ईश होते है।" फिर पूछा उनका ज्ञान किस प्रकार होता है ? उत्तर दिया—"विभूति धारण करने से।" "उसकी क्या विधि है और कौन से स्थानों पर उसे धारण किया जाता है ?" उन्होंने कहा—"सद्यो जातादि" पाँच ब्रह्म मे जो भस्म को ग्रहण करे, "अग्निररिति भस्म" इस मंत्र से उसे अभिमंत्रित करे, 'मान स्त्रोक' कह कर उसे धारण करे, जल से गीला करके 'त्र्यायुषं' इस मंत्र से सिर, ललाट, छाती, कन्धों पर 'त्रायुष और त्र्यंवक' इन मंत्रों से तीन रेखा करे। यह शाम्भव व्रत सब वेदों में वेदवादियों को बतलाया गया है, क्योंकि इसके करने से फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता। सनत्कुमार ने प्रमाण पूछने पर बतलाया कि त्रिपुण्ड धारण के लिये तीन प्रकार की रेखा मध्य में ललाट तक, नेत्रो तक, भौंहों तक करे। उसकी प्रथम रेखा गार्हपत्य अग्नि, रजोगुण, 'अ'कार, भूलोक, अपनी आत्मा, क्रियाशक्तिः, ऋग्वेद, प्रातः सवन रूप है और प्रजापति उसका देवता है। उसकी दूसरी रेखा दक्षिणाग्नि, 'उ'कार, सतोगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद, मान्ध्यन्दिन सवन रूप है और उसका देवता विष्णु है। तीसरी रेखा अहवनीय अग्नि, 'म'कार, तमोगुण, द्यौलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद, तृतीय सवन रूप है और महादेव उसके देवता है। त्रिपुण्ड भस्म का लगाया जाता है और जो विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी उसे धारण करता है वह महापातकों और उपपातकों से छूट कर पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओं का ध्यान करने वाला हो जाता है। वह सब तीर्थों में स्नान करने के तुल्य हो जाता है। वह सब रुद्र मन्त्रों का जप करने वाला होता है। वह फिर से जन्म नहीं लेता, फिर से जन्म नहीं लेता। ॐ यह सत्य उपनिषद है। हरि ॐ तत्सत्॥ ११-२३॥

॥ जाबाल उपनिषद समाप्त॥

मैत्रेय्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

शान्तिपाठः—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों; सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मरत रहते हुये मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शांतिः शाँतिः शांतिः।

प्रथमोऽध्यायः

बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति अन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच। भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्ववित् शृणुमो वयम्। स त्वं नो ब्रूहीति। एतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां गाथां जगाद॥ १॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां

प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणाम् । सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीति अन्धूदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

भगवन्निदं शरीरं मैथुनादेवोद्भूतं संविध्यपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम् । एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥३॥

ॐ बृहद्रथ नाम के राजा को, शरीर नाशवान है, ऐसा अनुभव होने पर वैराग्य होगया, इस लिये वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर वन को चला गया । वहाँ उसने उग्र तपश्चर्या की । वह सूर्य के सामने देखता हुआ हाथ ऊँचा करके खड़ा रहता । एक हजार वर्ष पश्चात् इस तपस्या के फल से एक बार निर्धूम अग्नि के समान तेजस्वी शाकामन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि उसके पास आये । उन्होंने राजा से कहा— "उठ-उठ ! वर मांग ।" तब राजा ने उनको नमस्कार करके कहा— "हे भगवन् ! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ और आप तत्वज्ञाता हैं यह हमने सुना है, इस लिये आप मुझे तत्व का उपदेश कीजिये ।" इस पर महामुनि शाकामन्य ने यह विषय अत्यन्त कठिन बतलाकर अन्य कोई वर माँगने को कहा । यह सुन कर बृहद्रथ राजा ने शाकामन्य मुनि के दोनों चरणों को स्पर्श कर के कहा ॥ १ ॥ बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देव भी स्थिर नहीं रह सकते, तो ऐसे नाश होने वाले संसार में विषय भोगों से क्या लाभ ? विषय में डूबे हुये प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमना पड़ता है । इस लिये हे मुनिराज ! अन्धेरे कुंये

में मेंढक की तरह पड़े हुये मेरा उद्धार करने मे आप ही समर्थ हैं। हे भगवन ! इस संसार में मुझे शरण देने वाले आप ही हैं ॥ २ ॥ हे भगवन ! मैथुन से उत्पन्न हुआ यह शरीर अगर ज्ञान रहित हो तो इसे नरक ही समझना चाहिये। क्योंकि यह मूत्र के द्वार से निकला है, हड्डियो से चिना हुआ है, मांस से लीपा गया है, चमड़े से मढ़ा गया है और बिष्ठा, मूत्र, बात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद (चरबी) और अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। ऐसे शरीर में रहने वाले मुझको आप ही शरण दो" ॥ ३ ॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम्। महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतो-ऽसीत्ययं खल्वात्मा ते। कतमो भगवन्वर्ण्य इति। तं होवाच ॥ ४ ॥

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः।
येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥ ५ ॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥ ६ ॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ ७ ॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ८ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥ १० ॥

यह सुन कर भगवान शाकामन्य मुनि ने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा से कहा—"हे महाराज बृहद्रथ तू कृतकृत्य है, मरुत नाम से

विख्यात है, यही तेरा आत्मा है।" तब राजा ने कहा—"हे भगवान ! आत्मा क्या है, इसका वर्णन कीजिये।" यह सुन कर मुनि ने कहा— "शब्द, स्पर्श आदि विषय अनर्थ करने वाले हैं और उसमें आसक्त हुये भूतात्मा को परमपद का स्वरूप याद नहीं आता ॥ ४-५ ॥ तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से मन वश में आता है, मन वश होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के मिल जाने पर संसार से छुटकारा हो जाता है ॥ ६ ॥ जिस प्रकार लकडी के समाप्त हो जाने पर अग्नि अपने आप बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तिओं का नाश होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शांत बन जाता है ॥ ७ ॥ अपने मूल कारण में शांत बने हुये और सत्य की तरफ झुके हुये, इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी मूढ़ता के दूर होते ही, कर्मों के वश में रहने वाले ये विषय झूँठे जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥ चित्त ही संसार है, इस लिये प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करना। "जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति" यह एक सनातन सिद्धान्त है ॥ ६ ॥ चित्त शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शान्त बना मनुष्य जब आत्मा में लीन होता है तब उसे अक्षय आनन्द प्राप्त होता है ॥ १० ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ११ ॥
हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ १२ ॥
अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंप्लवम् ।
सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३ ॥
अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् ।
ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४ ॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चा-
द्वितीयः ।

आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीति-
रस्ति ॥ १५ ॥

मनुष्य का चित्त जितना बाहरी विषयों में आसक्त रहता है उतना ही अगर ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो बन्धनों से मुक्त होना सहज ही है ॥ ११ ॥ हृदय कमल के बीच बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप और परम प्रेम के विषय परमेश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥ १२ ॥ यह परमात्मा मन और वाणी से नहीं जाना जा सकता । वह आदि और अन्त से रहित है । एक मात्र सत रूप प्रकाश से प्रकाशित होता है और कल्पना से परे है ॥ १३ ॥ उसे ग्रहण करने अथवा छोड़ने के लिये सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नही की जा सकती । वह तो स्थिर, शान्त और गम्भीर है । वह तेज भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है; वरन् सङ्कल्प रहित, आभास रहित और मुक्त चैतन्य ही है ॥ १४ ॥ वह नित्य ,शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्त स्वभाव, सत्य, सूक्ष्म, सर्व व्यापक और एकमात्र ही है । इस परम आनन्द का समुद्र और प्रत्येक स्वरूप का धारण करने वाला मैं ही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ १५ ॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम्
॥ १६ ॥

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्तिः
॥ १७ ॥

वर्णाश्रमं सावयवस्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते
॥ १८ ॥

अन्तःकरण में पाये जाने वाले आनन्द के सहारे रहने वाला, आशा रूप पिशाच को दूर धकेलने वाला, समस्त जगत को मदारी के खेल की तरह देखने वाला और असंग, ऐसे मेरे भीतर दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकया है ? ॥ १६ ॥ वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करने वाले मूढ़ लोग ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं; परन्तु वर्ण आदि के धर्मों को छोड़ कर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य, भीतर के आनन्द से ही सन्तुष्ट रहते हैं ॥ १७ ॥ वर्ण और आश्रम के धर्म, उसी प्रकार अवयवों वाला यह शरीर—ये सब आदि अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्ट रूप ही है; इस लिये पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रख कर परम आनन्द रूप अनन्त में ही स्थिर रहना चाहिये ॥ १८ ॥

॥ पहला अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच । भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः ।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ १ ॥

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ २ ॥

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एव मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ४ ॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५ ॥

एक समय भगवान मैत्रेय कैलाश पर्वत पर गये और वहाँ जाकर महादेव से उन्होंने कहा—"हे भगवन ! परमतत्व का रहस्य मुझे बतलाओ ।" महादेव ने कहा—"यह शरीर देवालय है और उसमें जीव केवल परमात्मा है; इस लिये अज्ञान रूप निर्माल्य को छोड़ देना और "परमात्मा मैं ही हूँ" ऐसा समझकर उसकी पूजा करनी ॥ १ ॥ जीव और परमात्मा में भेद न समझना ही ज्ञान है और मन को विषयों से छुडाना यह ध्यान है । मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना यह पवित्रता है ॥ २ ॥ ब्रह्म रूप अमृत पीना और देह टिकी रहे इस उद्देश्य से भिक्षा माँगना । स्वयं अकेला बन कर द्वैत रहित एकान्त स्थान में रहना । बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार चलकर मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ माँ-बाप के मल से बना हुआ, जन्म-मरण वाला, सुख-दुःख का स्थान रूप और अपवित्र ऐसे इस शरीर को छू कर स्नान करना चाहिये ॥ ४ ॥ सात धातुओं से बने, महारोग वाले, पाप के घर के सदृश्य, अस्थिर, और विकारों के आकार से भरे हुये, ऐसे इस शरीर को छू कर स्नान करना चाहिये ॥ ५ ॥

नवद्वारमलस्राव सदा काले स्वभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६ ॥
मात्रा सूतकसंबद्धं सूतके सह जायते ।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७ ॥
अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिलोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ८ ॥
चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम् ।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते ॥ ९ ॥

अद्वैतभावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् ।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥ १० ॥

आँख, कान आदि नौ दर्वाजों द्वारा जिसमें से हमेशा मल निकलता रहता है और इस मल की दुर्गन्ध से जो भरा रहता है, ऐसे इस दुष्ट मलिन शरीर को छू कर स्नान करना चाहिये ॥ ५ ॥ माता के सूतक से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म लेता है और मरण का सूतक भी इसके साथ लगा रहता है, इस लिये इस शरीर को छू कर स्नान करना चाहिये ॥ ७ ॥ मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदि की शुद्धि तो मिट्टी, जल आदि से होती है, परन्तु यह तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक पवित्रता तो "मैं और मेरा" को त्याग करने से ही होती है ॥ ८ ॥ पवित्रता चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करता है। पर ज्ञान रूप मिट्टी और वैराग्य रूप जल से धोने के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है ॥ ९ ॥ अद्वैत की भावना, यही सच्ची भिक्षावृत्ति है और अद्वैत की भावना, यही अभक्ष्य वस्तु है, भिक्षु को गुरु और शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा मांगनी ॥१०॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः ।
कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥ ११ ॥
अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् ।
आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२ ॥
मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ १३ ॥
हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥ १४ ॥
एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम् ।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठं न वनान्तरम् ॥ १५ ॥

जैसे चोर कैदखाने से छूट कर दूर जाकर बसता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास लेकर अपने देश से दूर निवास करना चाहिये ॥ ११ ॥ अहङ्कार रूप पुत्र को, धन रूप भाई को, मोह रूप घर को और आशा रूप पत्नी को छोड़ देने वाला तुरन्त ही मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १२ ॥ मोह रूप मां मर गई है और ज्ञान रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है, इस लिये मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुये हैं, तो फिर संन्ध्या वन्दन आदि कर्म किस प्रकार किये जा सकते हैं ? ॥१३॥ हृदय रूप आकाश में चैतन्य रूप सूर्य हमेशा प्रकाशित रहता है और वह अस्त भी नहीं होता और उदय भी नही होता, तो फिर सन्ध्या किस प्रकार करनी ? ॥ १४ ॥ यहाँ सब कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है, यही भावना एकान्त स्वरूप है, मठ या वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है ॥ १५ ॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् ।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १६ ॥
कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु ।
संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १७ ॥
वमनाहारवद्यस्य भवति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १८ ॥
यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १९ ॥
द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।
संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥ २० ॥

जो संशय रहित है, वे ही मुक्त हो सकते हैं और जिनको संशय है वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते । इससे (गुरु और शास्त्र के वचनों पर) विश्वास रखना ॥ १६ ॥ कर्मों को

छोड़ देना कुछ संन्यास नही है; इसी प्रकार "मैं संन्यासी हूँ" ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नही हो सकता । समाधि में जीव और परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहलाता है ॥ १७ ॥ जिसे समस्त इच्छाएँ उगला हुआ खाने के समान लगती है और जिसने देह की ममता छोड़ दी है, उसी को संन्यास का अधिकार है ॥ १८ ॥ यदि सब वस्तुओं के ऊपर से मन में वैराग्य हो जाय तभी विद्वान मनुष्य को संन्यास लेना चाहिये, नहीं तो अवश्य पतन होगा ॥ १९ ॥ जो मनुष्य पैसा के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा नामवरी के लालच से संन्यास लेता है, वह दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ २० ॥

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तयम् ।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २१ ॥
अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २२ ॥
न त्यजेन्नैद्यतिर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम् ।
वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २३ ॥
धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥ २४ ॥
मन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥२५

तत्व का विचार उत्तम है, शास्त्र का विचार मध्यम है, मंत्रों की साधना अधम है और तीर्थों में फिरना अधम से भी अधम है ॥ २१ ॥ जिस प्रकार कोई पेड़ की छाया में दिखाई देने वाले फल को खाकर आनन्द प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना मूढ मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है ॥ २२ ॥ जो धन में बड़ा है, जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में

बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के सामने नौकर अथवा शिष्य के समान ही है ॥ २४ ॥ जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर "मैं" रूप आत्मा को पूर्ण रूप से नहीं जानते, वे यदि महा बुद्धिमान भी हों तो कौआ की तरह अभागे पेट को भरने के लिये जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं ॥ २५ ॥

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।

तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥ २६ ॥

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ २७ ॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ २८ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभाससमात्मानं केवलं भज ॥ २९ ॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३० ॥

पत्थर, सोना अथवा मिट्टी द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को फिर से जन्म और भोग प्राप्त कराने वाली होती है; इस लिये फिर से जन्म न लेना पड़े इस उद्देश्य से संन्यासी को ऐसी बाहर की पूजा त्याग कर हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी ॥ २६ ॥ समुद्र में रखा घड़ा भीतर और बाहर पानी से भरा हुआ है और बाहर रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है ॥ २७ ॥ तू ग्रहण करने वाला मत बन, इसी प्रकार ग्रहण करने योग्य विषय रूप भी मत बन। ऐसी सब कल्पनाओं को त्याग कर शेष जो कुछ रहे, उसी में तन्मय हो ॥ २८ ॥ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को वासना के साथ

ही छोड़कर, दर्शन का प्रथम आभास जिसमें से होता है उस आत्मा को ही तू भज ।। २९ ।। सब सङ्कल्प जिसमें शान्त हो गये है और जागृति तथा निद्रा जिसमे से दूर हो गई है, ऐसी जो पत्थर के समान अवस्था है, वही परम स्वरूपावस्था है ।। ३० ।।

।। दूसरा अध्याय समाप्त ।।

तृतीयोऽध्यायः

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।। १ ।।
अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ।।२।।
विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ।।३।।
मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ।। ४ ।।
भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ।। ५ ।।
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ।।६।।

"मैं ही हूँ, दूसरा भी मैं ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति हूँ, सर्वलोक का गुरु हूँ और सर्वलोक में जो कुछ है वह मैं हूँ ।। १ ।। मैं ही सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ और परमतत्व भी मैं ही हूँ। मै सदैव हूँ, मैं नित्य हूँ और पवित्र हूँ ।। २ ।। विज्ञान मैं हूँ, विशेप मैं हूँ, सोम मैं हूँ, सब कुछ मैं हूँ; मैं शुभ हूँ, शोक रहित हूँ, सम हूँ और चैतन्य हूँ ।। ३ ।। मैं मान और अपमान से रहित हूँ, तीन गुणों से रहित हूँ, शिव हूँ, द्वैत और अद्वैत

से रहित हूँ, सुख-दुःख आदि द्वन्दों से रहित हूँ, उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ, प्रकाश से अलग हूँ, पर प्रकाश रूप भी मै ही हूँ । मैं शून्य और अशून्य रूप हूं, मैं सुन्दर और असुन्दर हूँ, समता और विषमता रहित हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ और सदाशिव हूँ । मै सर्व और असर्व की कल्पना से रहित हूँ, सात्विक हूँ और सदैव हूँ ॥ ४—६ ॥

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च ।
सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥
नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः ।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥
आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।
बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि शुद्धं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥९॥
चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः ।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥१०॥

मैं एक संख्या और दो संख्या से रहित हूँ, सत और असत के भेद से रहित हूँ और सङ्कल्प से रहित हूं ॥ ७ ॥ मै भिन्नता रहित हूँ और अखंड आनन्द स्वरूप हूँ । मैं "मैं" भी नहीं हूँ और अन्य भी नहीं हूँ । मैं देह आदि से रहित हूँ, आश्रय और आधार रहित हूँ, बन्ध और मोक्ष रहित हूँ और शुद्ध ब्रह्म हूँ ॥ ८—९ ॥ मैं चित्त आदि सबसे रहित हूँ, मैं "मै" से भी परे हूँ । मैं सदा विचार रूप हूँ साथ ही विचार रहित भी हूँ ॥ १० ॥

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः ।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥११॥
सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२ ॥
लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।
मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥

न जमत्सर्व ॐ ष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।
प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥१४॥
सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥

'ॐ'कार, 'उ'कार, 'म'कार रूप भी मैं ही हूँ । मैं धाता, ध्यान और ध्येय से रहित हूँ, सर्व और पूर्ण स्वरूप हूँ और सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ । समस्त तीर्थ भी मैं हूँ और भगवान शिव भी मैं ही हूँ ॥ ११—१२ ॥ मैं ही लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित और लय न होने वाला रस रूप हूं; मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा शिव रूप हूँ ॥ १३ ॥ मैं इस जगत का सर्व द्रष्टा नहीं हूँ, मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ । मै ही वृद्धि पाया हुआ, ज्ञान पाया हुआ, प्रसन्न और परम हूँ ॥ १४ ॥ मै समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ तो भी समस्त कर्म करने वाला मैं ही हूँ । समस्त वेदान्त द्वारा मैं ही सन्तुष्ट बना हूँ और सदैव सहज में मिल सकूँ ऐसा भी मै ही हूँ ॥ १५ ॥

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
नित्यं चिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥१६॥
यत्किंचिदपिहीनोऽस्मि स्वल्पमप्यपिनास्म्यहम् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः ॥ १७ ॥
षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥
देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
नास्तिनास्तिविमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ॥१९॥
अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चमुक्तवित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ २० ॥

आनन्द और शोक रूप, सर्व मौन के फल रूप, नित्य चिद्रूप और सच्चिद्रूप भी मैं हूँ ।। १६ ।। जो कुछ हीन है, वह मैं हूँ तो भी अति अल्प और अधिक नहीं हूँ । मैं हृदय की गांठ बिना का हूँ और हृदय कमल के बीच में रहने वाला भी मैं हूँ ।। १७ ।। मैं जन्म आदि छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोश से रहित और काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं से रहित हूँ और गहरे से गहरे स्थानों में रहने वाला हूँ ।। १८ ।। मैं देश और काल से रहित हूं दिगम्बर और आनन्द रूप हूँ । यह नहीं है, वह नहीं है, पर मैं हूँ । मैं विमुक्त हूँ और नकार से रहित हूँ ।। १९ ।। मै अखंड आकाश हूँ, संसार के प्रपञ्च में से उठ गया चित्त वाला हूँ और संसार-प्रपञ्च से रहित हूँ ।। २० ।।

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ।। २१ ।।
कायकायिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ।।२२।।
सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ।। २३ ।।
सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ।। २४ ।।
यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।। २५ ।।
इत्युपनिषत् ।।

मै सर्व प्रकाश स्वरूप हूँ और चैतन्य रूप ज्योति भी मैं ही हूँ । मैं तीन काल से परे हूँ और काम-क्रोध आदि से रहित हूँ ।।२१।। मैं शरीर आदि से दूर हूँ, निर्गुण हूँ और केवल एक हूँ । मैं मोक्ष बिना का हूँ तो भी मुक्त हूँ ।। २२ ।। मैं सत्य और असत्य रहित हूँ । केवल मैं ही सत्स्वरूप से (भिन्न) सब कालों में नही हूँ । मुझे कहीं जाना अथवा न जाना नही है और जाने का स्थान भी नहीं है ।। २३ ।। मैं

हमेशा सम रूप और शान्त परमात्मा हूं, ऐसा जिसका स्वानुभव है, वह अवश्य ही "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा ब्रह्म रूप हो जाता है,।। २४ ।। इसमें कुछ भी संशय नहीं जो मनुष्य एक बार भी इसे सुनता है, वह स्वयं ही ब्रह्म जाता है, ऐसा इस उपनिषद् का कहना है ।।२५।।

।। तीसरा अध्याय समाप्त ।।

।। मैत्रेयी उपनिषद् समाप्त ।।

शाण्डिल्योपनिषत

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ—ॐ हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

प्रथमोऽध्यायः

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छात्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति। स होवाचाथर्वा—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि । तत्र दश यमाः । तथा नियमाः । आसनान्यष्टौ । त्रिः प्राणायामः । पञ्च प्रत्याहाराः । तथा धारणाः । द्विप्रकारं ध्यानम् । समाधिस्त्वेकरूपः ।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाऽऽर्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश । तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम् । सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभि-

भूतहितयथार्थाभिभाषणम्। अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा। ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्काय-कर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः। दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः। आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्। क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडन-पूजनेषु सहनम्। धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्। मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्नि-ग्धमधुराहारः। शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्॥ १॥

शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा कि "आत्मा की प्राप्ति के उपाय रूप अष्टाङ्ग योग मुझसे कहो।" तब अथर्वा मुनि बोले—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अङ्ग हैं। इनमें दश यम है, नियम भी दस हैं, आसन आठ हैं, प्राणायाम तीन हैं, प्रत्याहार पाँच हैं, धारणा भी पाँच हैं, ध्यान दो प्रकार का होता है और समाधि एक प्रकार की है। इसमें अहिंसा, सत्य, अन्य की वस्तु के प्रति निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धीरज, अल्प आहार और पवित्रता—ये दस यम हैं। अहिंसा का अर्थ है मन, वचन, काया और कर्म द्वारा सर्व प्राणियों को सदैव दुःख न देना; सत्य अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म द्वारा प्राणियों का हितकारक जो हो वैसा ही बोलना; अस्तेय अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म द्वारा अन्य के द्रव्य के विषय में निस्पृह रहना; ब्रह्मचर्य अर्थात् सर्व अवस्थाओं में मन, वचन, काया और कर्म द्वारा सब प्रकार के मैथुन का त्याग; दया अर्थात् सब प्राणियों पर सदैव कृपा, आर्जव अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म के रूप में अपनी तरफ लोग शास्त्रीय अशास्त्रीय आचरण में प्रवृत्ति करें या निवृत्ति

करें, तो भी समान भाव रखना । क्षमा अर्थात् सदैव प्रिय-अप्रिय पूजा अथवा ताड़ना हो, तो भी सहन करना; धृति अर्थात् धन की हानि हो, अपने इष्ट सम्बन्धियों का वियोग हो या संयोग हो, तब सदैव चित्त को स्थिर रखना; मिताहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे इस प्रकार उत्तम घी-दूध वाले मधुर पदार्थों का आहार करना; शौच अर्थात् बाहर और भीतर दोनों प्रकार की शुद्धि करनी; इसमें मिट्टी और जल द्वारा बाह्य शुद्धि होती है और मन की शुद्धि यह अन्तर की शुद्धि है । यह शुद्धि अध्यात्म विद्या से ही प्राप्त होती है ॥ १ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः । तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम् । संतोषो नाम यदृच्छालाभतुष्टिः । आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः । दानं नाम न्यायोर्जितधनधान्यादेः श्रद्धयाऽर्थिभ्यः प्रदानम् । ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम् । सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः । ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा । मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा । जपो नाम विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः । तद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति । मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम् । वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम् । उपांशु सहस्रगुणम् । मानसं कोटिगुणम् । व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम् ॥ २ ॥

तप, सन्तोष, अस्तिक्य, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत—ये दश नियम हैं । इसमें तप अर्थात् विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर का सुखाना, सन्तोष अर्थात् दैवेच्छा से जो कुछ मिल जाय उस पर सन्तोष रखना; आस्तिक्य

अर्थात् वेद में कहे धर्म और अधर्मों के ऊपर विश्वास रखना; दान अर्थात् न्याय पूर्वक प्राप्ति किये धनधान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना; ईश्वर पूजन अर्थात् प्रसन्न भाव से शक्ति के अनुसार विष्णु-रुद्र आदि का पूजन, सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का विचार करना; ह्री अर्थात् वेदमार्ग और लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कर्मों के करने में लज्जा अनुभव हो; मति अर्थात् वेदोक्त कर्म मार्ग में श्रद्धा; जप अर्थात् विधिपूर्वक गुरु ने जिस वेदमान्य मंत्र का उपदेश दिया है उसका अभ्यास। वह दो प्रकार से होता है—वाचिक और मानसिक। इसमें मानसिक तो मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है और वाचिक दो प्रकार से होता हैं—जोर की आवाज से और धीमी आवाज से। इसमें जोर की आवाज से जप करने से जितना कहा जाय उतना ही फल मिलता है, पर धीमी आवाज से जप करने से हजार गुना फल मिलता है और मानसिक जप का फल तो करोड़ गुना मिलता है। व्रत का आशय है वेदोक्त विधि-निषेध का नियमित आचरण करना ॥ २ ॥ ॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ ।

स्वस्तिकं नाम—

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १ ॥
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥ २ ॥
अंगुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥ ३ ॥
एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥ ४ ॥

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्च प्रसार्य च ॥५॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

स्वास्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर नाम के आठ आसन हैं। इनमें पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं के बीच में बराबर रखके सीधा तनकर बैठना स्वस्तिकासन कहा जाता है ॥ १ ॥ पीठ की दाहिनी तरफ दाहिना गुल्फ और बाईं तरफ बांया गुल्फ जोड़ कर गोमुख के समान बैठना गोमुखासन हैं ॥ २ ॥ हे शांडिल्य ! दोनों जङ्घाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को उलटी रीति से पकड़कर रखना, सर्व से मान्य पद्मासन है ॥ ३ ॥ एक जाँघ को एक पैर से मिलाकर दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से मिलाकर बैठना वीरासन कहलाता है ॥ ४ ॥ दाहिने गुल्फ के साथ बाँये गुल्फ को और बांये गुल्फ के साथ दांये गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों जानुओं पर रखना, दोनों हाथों का अँगुलियों को फैलाये रखना। फिर भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख से नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखना, इसे सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५—६ ॥

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ७ ॥
गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ८ ॥
संपीड्य सीविनी सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥ ९ ॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥ १० ॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११ ॥

शरीरान्तर्गताः सर्वरोगा विनश्यन्ति । विषाणि जीर्यन्ते येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत् ।

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति । यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् । तेन नाडयः शुद्धा भवन्ति ।

गुदा को बांये पैर से दबा कर दांये पैर को लिंग के ऊपर लगाना फिर भौंहों के मध्य में लक्ष्य जमाना, सिद्धासन कहलाता है ॥ ७ ॥ लिंग के नीचे की सीवन पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पाश्वों को दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर निश्चलतापूर्वक बैठने से भद्रासन होता है जो सर्व रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है ॥ ८ ॥ सूक्ष्म सीवन को दांयी तरफ से गुल्फ द्वारा दबा कर दांये गुल्फ से दबा कर रखना, मुक्तासन कहलाता है ॥ ६ ॥ हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रहना यह मयूरासन है जो सर्व पापों का नाश करने वाला है ॥ १० ॥ इन आसनों से शरीर के भीतर रहने वाले समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं और विष का शमन हो जाता है जो अशक्त हो उसे प्रत्येक आसन को सुख पूर्वक धारण कर सकने का अभ्यास करना चाहिये । जिसने आसन जीत लिया उसने तीनों लोक जीत लिये । यम तथा नियमों से भली प्रकार युक्त होने के पश्चात् पुरुष को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये; इससे नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं ।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाडयः शुद्धाः स्युः । नाडयः कतिसंख्याकाः तासामुत्पत्तिः कीदृशी । तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि । तत्कर्माणि कानि । देहे यानियानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति ।

स होवाचाथर्वा । अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति । शरीरात्प्राणो द्वादशांगुलाधिको भवति ।

शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति ।

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम् । चतुष्पदां चतुरश्रम् । विहंगानां वृत्ताकारम् । तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति ।

गुदाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति । चतुष्पदां हृन्मध्यम् । विहंगानां तुन्दमध्यम् । देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति ॥

फिर शांडिल्य ने अथर्वा से कहा—"किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं ? नाड़ियों की संख्या कितनी है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ? उनमें कितने वायु रहते हैं ? उनका स्थान कौनसा है ? उनका कार्य क्या है ? शरीर में जो कुछ जानने लायक है वह सब मुझ से कहो ।" तब अथर्वा बोले—"यह शरीर ९५ (छियानवे) अंगुल प्रमाण का है । प्राणवायु शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल अधिक होती हैं । शरीर में रहने वाले प्राण को योगाभ्यास द्वारा जो अग्नि के समान करे अथवा उससे कुछ कम करे, वह उत्तम योगी होता है । मनुष्यों के शरीर में अग्नि का स्थान तीन कौने वाला और तपाये हुये सुवर्ण की सी कांति वाला होता है । चौपायों का चौखूँटा होता है और पक्षियों का गोलाकार है । इस अग्नि स्थान में पतली और उत्तम अग्नि की शिखा रहती है । गुदा से दो अँगुल ऊपर और लिंग से दो

अँगुल नीचे मनुष्य शरीर का मध्य भाग होता है। चौपायों का हृदय का मध्य और पक्षियों का पेट का मध्य उनके शरीरों का मध्य-भाग होता है। शरीर का यह मध्य भाग नौ अंगुल ऊँचा और चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डा के समान है ॥५॥

तन्मध्ये नाभिः । तत्र द्वादशारयुतं चक्रम् । तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवो भ्रमति । तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति । देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत् ।

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम् । अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैष समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति हृदयाकाशं महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति ।

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्याश्चतुर्दश भवन्ति इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरा कुहूः शङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति ।

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते । गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ॥

उसके बीच में नाभि है और उसमें बारह आरा वाला चक्र है। उस चक्र के बीच में पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव फिरता रहता है। उसी प्रकार यह प्राण भी वहीं पर फिरता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर आरूढ़ हुआ है। नाभि की बगल में नीचे ऊपर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति रूप और आठ प्रकार से कुण्डल किये हुये हैं। योग के समय वायु के सञ्चार को यथावद् करके

जल तथा अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के बगल में रोककर, फिर से मुख में लेकर ब्रह्मरन्ध्र, अपान तथा अग्नि द्वारा प्रकाशित होती है। हृदयाकाश, महाउज्ज्वल और ज्ञान रूप है। बीच में रहने वाली कुण्डलिनी का आश्रय लेकर चौदह मुख्य नाडियाँ हैं। इड़ा, पिंगला, सुष्मणा, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शङ्खिनी, पयस्विनी, अलंबुसा और गांधारी, ये चौदह नाड़ियों के नाम हैं। इनमें सुष्मणा विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष के मार्ग रूप हैं, ऐसा योगी कहते हैं। गुदा के पिछले भाग में वह वीणा के दण्ड के समान रहती है और मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। वह स्पष्ट, सूक्ष्म और विष्णुदेव की है ॥१०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला। इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः। रजोरूपो रविः। विषभागो रविः अमृतभागश्चन्द्रमाः। तावेव सर्वकालं धत्ते। सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति। सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनीकुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारी सरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवनि। कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति। सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्डलिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादांगुष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति। इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति। पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशनाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः। यथाऽश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम् ॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति । आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति । श्रोत्राक्षिकटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति । गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगुदाग्न्यगारेष्वपानः संचरति । सर्वसंधिस्थ उदानः । पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः । भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन् द्विसप्तति-सहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन् समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्ग-कलेवरं व्याप्य—नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं—तुन्दमध्यगतः प्राण-स्तानि पृथक्कुर्यात् । अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्यन्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्य-गतं ज्वलनम् । वायुना पतितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति । ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्युष्ण-मकरोत् । जलोपरि समर्पितं व्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्त-वारिणा पक्वमकरोत् । तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात् । समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयन् श्वासरूपेण देहे वायुश्चरति । नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीर-स्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम् । निश्वासोच्छ्वासका-सश्च प्राणकर्मोच्यते । विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवायुकर्म । हाना-पादानचेष्टादि व्यानकर्म । देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म । शरीर-पोषणादिकं समानकर्म । उद्गारादि नागकर्म । निमीलनादि कूर्मकर्म । क्षुत्करणं कृकरकर्म । तन्द्री देवदत्तकर्म । श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म ॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात् ॥

इस सुष्मणा के बांयी ओर इडा नाड़ी है और दांयी ओर पिंगला है। इडा में चन्द्र चलता है और पिंगला में सूर्य फिरता है। चन्द्र तमोगुण रूप वाला है और सूर्य रजोगुण स्वरूप है। चन्द्रमा अमृत का विभाग है और सूर्य विष का विभाग है। यह दोनों ही समस्त काल को धारण करते हैं। सुष्मणा काल की भोगने वाली है। सुष्मणा के पीछे की तरफ सरस्वती नाडी है और बगल के भाग में कुहु नाडी है। यशस्विनी और कुहू के बीच में वारुणी नाडी रहती है। पूषा और सरस्वती के बीच में पयस्विनी नाड़ी है। गांधारी और सरस्वती के बीच यशस्विनी है। कंद के मध्य में अलंबुसा है। सुष्मणा के पूर्व भाग में लिङ्ग तक कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अंगूठे तक गई हैं। पिंगला ऊपर की तरफ चलकर बांयी नाक तक पहुँची है। पिंगला के पीछे बांयी आँख तक पूषा नाडी है। बांये कान तक यशस्विनी है। जीभ के ऊपर के भाग तक सरस्वती है। बाँये कान तक ऊपर को जाती हुई शङ्खिनी है। इडा के पिछले भाग में बांये नेत्र तक जाने वाली गाधारी है। गुदा के मूल से नीचे-ऊँचे जाने वाली अलंबुसा है। इन चौदह नाडियों में अन्य नाडियाँ भी हैं। उनमें भी अन्य और उनमें भी अन्य ऐसी बहुत सी नाडियाँ हैं। जैसे पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से व्याप्त होते हैं, वैसे ही शरीर भी नाडियों से व्याप्त है।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश वायु सब नाडियों में फिरते हैं। मुख, नाक, गला, नाभि, पैर के दोनों अंगूठे और कुण्डलिनी के नीचे ऊपर के भागों में प्राण फिरता है। कान, आँख, कमर, गुल्फ, नाक, गला और कूल्हे के स्थानों में व्यान फिरता है। गुदा, लिङ्ग, जानु, चूतर, पेट, वृषण, कमर, जङ्घा, नाभि और अग्नि संस्थान में अपान फिरता

है। समस्त संधि स्थानों में उदान रहता है। पैर, हाथ और अन्य सब अवयवों में सर्वत्र समान व्याप्त रहता है। खाये हुये अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ व्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाडियों के मार्ग में फिरा करता है और अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में व्याप्त रहता है। नाग आदि पाँच वायु चर्म, अस्थि आदि में रहते हैं। पेट में रहने वाले जल और अन्न को रस आदि के रूप में ले जा कर पेट में रहने वाला प्राण वायु अलग-अलग करता है। अग्नि के ऊपर पानी रख कर, इस पानी के ऊपर अन्न आदि रखकर, स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु इसी अपान के साथ देहस्थित अग्नि की तरफ जाता है। अपान वायु से रक्षित अग्नि धीमे-धीमे देह के मध्य प्रज्ज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला और प्राण वायु द्वारा कोठे के बीच रहने वाले पानी को खूब गर्म करता हैं और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल सहित अन्न को प्राण वायु, अग्नियुक्त पानी द्वारा पकाता (पचाता) है और उसमें से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा आदि को अलग-अलग करता है। फिर समान वायु के साथ सब नाड़ियों में रस को फैलाता हुआ, प्राण वायु श्वास के रूप में शरीर में फिरता रहता है। शरीर के पोलाई वाले नौ छिद्रों द्वारा वायु विष्ठा, मूत्र आदि को बाहर निकालता है। श्वासोच्छ्वास और खासी यह प्राण का कर्म कहा जाता है; विष्ठा, मूत्र का बाहर निकलना अपान वायु का कार्य है। छोड़ना और ग्रहण करना आदि चेष्टाऐं व्यान का काम हैं। शरीर को ऊपर की तरफ ले जाना आदि उदान का काम है। शरीर को पोषण देना आदि समान का काम है। डकार आदि नाग का काम है। आँख के पलक झपकाना कूर्म का काम है, भूख लगाना कृकर का काम है। आलस देवदत्त का काम है और कफ आदि करना धनंजय का काम है। इस प्रकार नाड़ी स्थान, वायुस्थान तथा उनके कर्मों को भली प्रकार समझकर नाड़ी की शुद्धि करनी ॥१४॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचार विद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वाऽपि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन् योगं समारभेत् ॥

आदौ विनायकं सपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वाऽपि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याममृतं द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत् पिङ्गलया । पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया ।

त्रिचतुस्त्रिचतुः सप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधियु तदन्तराले च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति ।

ततः शरीरलघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति ॥

जिसने विद्याभ्यास किया हो ऐसे पुरुष को यम-नियम से युक्त होकर सर्व संग का त्याग करके सत्य धर्म में तत्पर रहना । क्रोध को जीतना, गुरु-सेवा में तत्पर होना, माता-पिता के आधीन रहना और फिर अपने आश्रम में बतलाये गये सदाचार को जानने वाले के पास से शिक्षा प्राप्त करके फल, मूल और पानी वाले तपोवन में जाना । वहाँ रम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त, स्वधर्म परायण ब्रह्मवेत्ताओं से व्याप्त और फल, मूल, पुष्प तथा जल से भली प्रकार पूर्ण किसी देव स्थान में अथवा नदी के किनारे पर किसी गाँव या शहर में उत्तम मठ बनाना । वह न तो बहुत ऊंचा या नीचा हो और न बहुत लम्बा-चौड़ा ही हो । थोड़े दरवाजे वाला, गोबर आदि

से लिपा और पूर्ण रूप से सुरक्षित होना चाहिये। उसमें वेदान्त का श्रवण करते हुये पुरुष को योगाभ्यास आरम्भ करना। प्रथम गणपति की पूजा करके, अपने इष्टदेव को नमस्कार करके पहले बतलाये गये आसन पर बैठना। उस समय पूर्व या उत्तर को मुख रखना और कोमल आसन पर बैठकर आसन को ही जय करना। फिर विद्वान पुरुष को गर्दन तथा मस्तक को सीधा रख नासाग्र पर दृष्टि रखनी दोनों भौंहों के बीच चन्द्र मण्डल को देखना और दोनो नेत्रों से अमृतपान करना। फिर बारहमात्रा से इडा नाड़ी द्वारा वायु खीच कर उसे पेट के भीतर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित ऐसे अग्नि मंडल के साथ संयुक्त करने का ध्यान करना और फिर पिङ्गला नाड़ी द्वारा इस वायु को बाहर निकालना। फिर पिङ्गला से वायु भर कर कुम्भक करके इडा से बाहर निकालना। इस प्रकार सात, तीन या चार महीना तक तीनों सन्ध्या समय तीन-तीन या चार-चार बार और उनके बीच में छः बार अभ्यास करना, जिससे नाडी शुद्धि हो। फिर शरीर में हल्कापन, कांति, अग्नि की वृद्धि और नाद-श्रवण होता है ॥ ५ ॥ ✓

॥ पञ्चमः खण्ड समाप्त ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरक-कुम्भकभेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः। तस्मात् प्रणव एव प्राणायामः।

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रशशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति। अकारादित्रयाणां सर्वकारण-मेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवति ॥

इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन् पूरितं वायुं चतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोंकारं ध्यायन् पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकार मूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः पुनः कुर्यात् ॥

प्राण और अपान को इकट्ठा कर देना, यही प्राणायाम है। रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से वह तीन प्रकार का है। वह वर्ण रूप है, इसलिये प्रणव ही प्राणायाम है। पद्मासन आदि किसी भी आसन पर बैठ कर पुरुष को "नासाग्र पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से लिपटी हुई, लाल अङ्ग वाली, हंस पर बैठी हुई, हाथ में दण्ड धारण करती और वाला स्वरूप 'अ' कार मूर्ति वाली गायत्री है; 'उ' कार मूर्ति सावित्री, श्वेत अङ्ग वाली, गरुड़ पर बैठी हुई, युवती, हाथ में चक्र धारण किये हुये है; इसी प्रकार 'म'कार मूर्ति सरस्वती कृष्ण अङ्ग वाली, वृषभ पर बैठी, वृद्ध और हाथ में त्रिशूल धारण किये है। इस प्रकार 'अ' कार आदि तीन वर्ण का ॐ है और वह सर्व का कारण एकाक्षर परम ज्योति है"—इस प्रकार ध्यान करना फिर इडा नाड़ी द्वारा बाहर का वायु सोलह मात्रा में खींचना और उस समय 'अ'कार का चिन्तन करना; फिर इस वायु का चौसठ मात्रा में कुम्भक करना और उस समय 'उ'कार का ध्यान करना और उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी द्वारा बत्तीस मात्राओं से उस भरे हुये वायु को बाहर निकालना, उस समय 'म'कार मूर्ति का ध्यान करना। इसी क्रम से बारम्बार करते रहना ॥ ६ ॥

॥ षष्ठः खंड समाप्त ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थ-मलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्ति—

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१॥
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ २ ॥
कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत् ॥ ३ ॥
जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥ ४ ॥
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः ॥ ५ ॥

फिर आसन दृढ़ होने पर योगी को जितेन्द्रिय बनकर हितकारी मिताहार पर रह कर सुषुम्णा नाड़ी में रहने वाले मल को सुखाने के लिये योग करना चाहिये। उस समय पद्मासन सर बैठ कर चन्द्रनाड़ी से वायु भर कर, शक्ति अनुसार कुम्भक करके, सूर्य नाड़ी से रेचक करना। फिर सूर्य नाड़ी से पूरक करके, कुम्भक करना और चन्द्रनाड़ी से रेचक करना। इस प्रकार जिस नाड़ी से रेचक करे, उसी नाड़ी से फिर पूरक करके कुम्भक करे। इस आशय को प्रकट करने वाले निम्न श्लोक कहे गये है—"प्रथम इडा नाड़ी से प्राण को भर कर कुम्भक करके दूसरी पिङ्गला नाड़ी से रेचक करना। फिर पिङ्गला से पूरक करके, कुम्भक करते हुये इडा से रेचक करना। इस विधि से सूर्य-चन्द्र की नाड़ी द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से योगी की समस्त नाड़ी तीन महीने में शुद्ध हो जाती हैं ॥ १ ॥ प्रातः, दोपहर, संध्या और मध्य रात्रि—इस प्रकार चार बार धीमे-धीमे अस्सी मात्रा तक के कुम्भक का अभ्यास करना ॥ २ ॥ हलके प्राणायाम में पसीना आ

जाता है, मध्यम में कँपकँपी छूटती है और उत्तम में पद्मासन पर ऊँचा उठ जाता है ।।३।। प्राणायाम के समय परिश्रम के कारण जो पसीना छूटे उससे शरीर का मर्दन करना, क्योंकि उससे साधक का शरीर मजबूत और हल्का होता है ।। ४ ।। अभ्यास के समय आरम्भ में घी-दूध के भोजन को उत्तम बतलाया गया है । फिर अभ्यास स्थिर हो जाने पर किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती ।। ५ ।।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।। ६ ।।
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तेन बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ।। ७ ।।
यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ।। ८ ।।
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ।। ९ ।।
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ।। १० ।।

जिस प्रकार सिंह, हाथी या बाघ को धीरे-धीरे वश किया जाता है, वैसे ही वायु का धीमे-धीमे साधन करने से वह वश में आ जाती है, पर इससे उलटी रीति से चलने पर अर्थात् जल्दबाजी करने से वही वायु साधक का नाश कर देती है ।। ६ ।। इस लिये जैसे ठीक बने उसी प्रकार रेचक करना, ठीक जान पड़े वैसे ही पूरक करना और ठीक लगने तक ही कुम्भक करना; इस तरह करने से सिद्धि प्राप्त होती है ।। ७ ।। यथेष्ट शक्ति अनुसार वायु का कुम्भक करने से अग्नि प्रदीप्त होती है और नाड़ियाँ शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है तथा आरोग्य मिलता है ।। ८ ।। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से नाड़ियों का समूह शुद्ध होता है; इस लिये सुषुम्णा का मुख भेद कर वायु सुख पूर्वक

उसमें प्रवेश करता है ॥ ९ ॥ वायु जब मध्य में सञ्चार करता है, तब मन की स्थिरता होती है और जब मन की भली प्रकार स्थिरता हो जाती है, उसी को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है ॥ १० ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥ ११ ॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ १२ ॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन् ।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥ १३ ॥

पूरक के अन्त में जालंधर नाम का बंध करना और कुम्भक के अन्त तथा रेचक के आदि में उड्डियाण करना चाहिये ॥ ११ ॥ नीचे का मूलरन्ध्र सङ्कोच करने में कंठ का सङ्कोच होता है और मध्य भाग को पश्चिम की तरफ खीचने से प्राण वायु ब्रह्म नाड़ी में गतिशील होता है ॥ १२ ॥ अपान वायु को ऊपर ले जा कर और प्राण वायु को कंठ से नीचे लाकर योगी वृद्धावस्था रहित—सोलह वर्ष की आयु का बन जाता है ॥ १३ ॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगविनाशनं भवति ॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुंम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात् । तेन श्लेष्महरं जाठराग्निवर्धनं भवति ॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यनिद्रा न जायन्ते ।

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्ताक्षुधादि नश्यति ॥

कुम्भकः स द्विविधः सहितः केवलश्चेति । रेचकपूरकयुक्तः सहितः । तद्विवर्जितः केवलः । केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत् । केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति । केवल-कुम्भकात् कुण्डलिनीबोधो जायते ।

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति ।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ १४ ॥

सुखासन पर बैठ कर दाहिनी नाड़ी से बाहर का वायु खींच कर केश से लेकर पैर के नख की नोंक तक को रोक कर (कुम्भक करके) बांयी नाड़ी से बाहर निकालना (रेचक करना) । इस तरह करने से कपाल शुद्धि होती है और वायु की नाड़ियों में रहने वाले सब रोगों का पूर्णतः नाश होता है । हृदय से लेकर कंठ तक शब्द के साथ दो नथुनों द्वारा धीरे से पवन खीच कर, यथाशक्ति कुम्भक करके इडा से रेचक करना । इस प्रकार चलते और खड़े रहते करते ही जाना, इससे कफ नाश होता है और जठराग्नि बढ़ती है । मुख से सीत्कार (सी-सी करते हुये) वायु भर कर यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त दोनों नथनों से रेचक करे । इससे भूख, प्यास, आलस अथवा निद्रा उत्पन्न नहीं होती । जीभ से वायु खींच कर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से रेचक करे; इससे गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि का नाश होता है । अब कुम्भक के विषय में कहते हैं; वह दो प्रकार का है—सहित और केवल । रेचक और पूरक से युक्त हो वह सहित है और उनसे रहित केवल है । इसमें से 'केवल' सिद्ध हो तब तक 'सहित' का अभ्यास करना चाहिये । जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता । केवल कुम्भक

से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसके पश्चात् योगी पतले शरीर वाला, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्र वाला, नाद-श्रवण करने वाला, सर्व रोगों से रहित, बिन्दु को जीतने वाला और प्रज्ज्वलित जठराग्नि वाला होता है। लक्ष्य भीतर हो और बाहर की दृष्टि निमेष-उन्मेष (पलक मारना) रहित हो, यह वैष्णवी मुद्रा है और सर्व तन्त्र शास्त्रों में उस को गुप्त रहस्य रूप माना है ॥ १४ ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ॥१५॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषवाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्।१६।
तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥
तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततोन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति ।१७।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं च मनमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥ १८ ॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ॥ १९ ॥
बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव ॥ २० ॥

लक्ष्य भीतर होने से जिसका चित्त और वायु विलीन हो गया हो, वह सदा योगी है। निश्चल नेत्र की पुतली द्वारा बाहर की ओर

नीचे देखता हो, पर और कुछ न देखता हो, यह खेचरी मुद्रा है। वह केवल लक्ष्य में ही एक तान और मङ्गलकारक होने से वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य-अशून्य रहित तत्व परम पद रूप में प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥ हे शाण्डिल्य ! अर्ध निमीलित नेत्र वाला, स्थिर मन वाला और नासाग्र पर स्थित दृष्टि वाला योगी निश्चल भाव को प्राप्त करने के पश्चात् सूर्य और चन्द्र नाडी को भी लय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समग्र बाह्य विषयों से रहित और देदीप्यमान जो तत्व प्रकाशित होता है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है, ऐसा तुझको समझना ॥ १६ ॥ नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके दोनों भौहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह पूर्व अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षण भर मे ही 'उन्मन' दशा प्राप्त हो जाती है ॥ १७ ॥ इस लिये खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना, उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है, फिर योग निद्रा प्राप्त होती है। जिसको योग निद्रा प्राप्त हुई हो उस योगी का काल नही होता। इस लिये हे शाण्डिल्य ! शक्ति के मध्य में मन को स्थापित कर, शक्ति को मन के अन्दर गमन करती रख कर। तू मन के द्वारा ही मन को देख और सुखी बन ॥ १८ ॥ इसी प्रकार आकाश के मध्य में आत्मा को स्थापित कर और आत्मा के मध्य आकाश को रखदे। फिर सब को आकाशमय करके ऐसा चिन्तन कर कि 'कुछ है ही नहीं' ॥ १९ ॥ बाहर की चिन्ता न करना, वैसे ही भीतर को चिन्ता भी न करनी। इस प्रकार सर्व चिन्ता का त्याग करके मात्र चैतन्य परायण बन जा ॥ २० ॥

> कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
> तथा च लीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ २१ ॥
>
> ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
> ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ २२ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागे विलयं याति मानसम् ।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ।। २३ ।।
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर ।
योगस्तु वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।। २४ ।।
तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत् ।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायां संसारः प्रविलीयते ।। २५ ।।

जिस प्रकार कपूर अग्नि में और नमक पानी में लीन हो जाता है, वैसे ही लीन होते योगी का मन तत्व में विलय को प्राप्त होता है ।। २१ ।। जो जानने योग्य है वह सब जाना हुआ ही है; उसका जो ज्ञान है वही मन कहलाता है । ज्ञान और ज्ञेय सब एक ही साथ नष्ट हो गया; इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है ।। २२ ।। ज्ञेय वस्तु का त्याग करने से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन विलय हो जाता है तो केवल-कैवल्य ही शेष रहता है ।। २३ ।। हे मुनीश्वर ! चित्त का नाश करने के दो मार्ग हैं, योग और ज्ञान । योग, अर्थात् चित्त की वृत्तिओं का रोकना और ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्व को यथार्थ रूप में देखना ।। २४ ।। मन को जब वश करा जाता है, तब वह अवश्य शान्त हो जाता है और मन की चञ्चलता शांत होते ही यह संसार नाश को प्राप्त होता है ।। २५ ।।

सूर्यालोकरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ।
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।। २६ ।।
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु ।
यथाऽभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोदितात् ।। २७ ।।
एकतत्त्वदृढाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।
पूरकाद्यनिलायामादृढाभ्यासादखेदजात् ।। २८ ।।
एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते ।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।

सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २६ ॥
तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३० ॥

जैसे सूर्य के व्यवहार की गति शांत होने पर जगत का व्यवहार शांत हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों और सज्जनों के सङ्ग से वैराग्य के अभ्यास का योग होने से संसार शांत हो जाता है ॥ २५ ॥ प्रथम संसार के कार्यों में अनास्था की जाय; फिर दीर्घ काल तक एकांत ध्यान और एक तत्व का दृढ़ अभ्यास होने से प्राण की गति बन्द हो जाती है (अर्थात् प्राण वायु जीत लिया जाता है ।) इसी प्रकार बिना परिश्रम के पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास और एकांत ध्यान योग करने से मन की गति बन्द होती है (अर्थात् मन वश में आ जाता है ।) फिर ॐकार के उच्चारण के अन्त में शब्द-तत्व का अनुभव होने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप समझ लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है (प्राण जय कर लिया जाता है ।) ॥ २७—२६ ॥ तालु के मूल में रहने वाली ग्रन्थि को जब सावधानी पूर्वक जीभ द्वारा दबाया जाता है तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में जाता है, तब प्राणगति रुक जाती है ॥ ३० ॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वद्वादशान्तगे ।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३१ ॥

द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।
संविदृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३२ ॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३३ ॥

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम् ।
असंस्पृष्टविकारांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ३४ ॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ।
अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।। ३५ ।।

तालु के ऊपर बारह अंगुल दूर जाने वाला प्राण गलित चेष्टा वाला हो जाता है, तब अभ्यास से ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण गति रोकी जाती है ।। ३१ ।। नासिका के सामने बारह अंगुल की दूरी पर निर्मल आकाश में ज्ञान दृष्टि अति शान्त होती है, तब प्राण गति रोकी जाती है ।। ३२ ।। भौंहों के बीच तारक ब्रह्म के दर्शन से शांति मिलने पर जगत व्यापार बन्द होने लगते हैं और मानसिक सङ्कल्प रुकते हैं, तब प्राण गति रोकी जाती है ।। ३३ ।। ज्ञान, ज्ञेय स्वरूप और मङ्गलमय बन कर केवल ॐकार स्वरूप में ही उत्पन्न होता है और विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तब प्राण गति रोकी जाती है ।। ३४ ।। हे मुनि ! दीर्घ काल तक हृदय में एकान्त आकाश का अनुभव होने से वासना रहित मन ध्यान करने लगता है, उससे प्राण गति रोकी जाती है ।। ३५ ।।

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।। ३६ ।।

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्। येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति। सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति । सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति । बन्धनायाधो मूढानाम् । इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेण गच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् ।

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।। ३७ ।।
दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् ।
सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ।। ३८ ।।

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतःसमन्वितः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥ ३९ ॥
सव्यदक्षिण नाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४० ॥

इस क्रम से, वैसे ही अनेक गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण कर तरह-तरह के सङ्कल्पों की कल्पना द्वारा प्राण गति रोकी जाती है ॥ ३६ ॥ कुण्डलिनी को संकुचित करके किवाड़ खोल कर मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करना । जिस मार्ग से जाना है उसका द्वार मुख से ढककर कुण्डलिनी सोती है । वह टेढ़े-मेढे आकार की सर्प के समान लिपटी हुई है । इस कुण्डलिनी शक्ति को जो चलायमान करता है वह मुक्त हो जाता है । वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊपर के भाग में सोती हुई हो तो योगियों को मुक्त देने वाली होती है, पर कण्ठ से नीचे सोती हो तो अज्ञानियों के लिये बन्धनकर्ता होती है । इडा आदि दोनों मार्ग छोड़ कर सुषुम्णा के मार्ग से आना, क्योंकि वह विष्णु का परम पद है । वायु का सब अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिये । इस अवसर पर विद्वान मनुष्य को मन की वृत्ति को अन्यत्र युक्त नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥ यह बात नहीं कि अमुक दिन विष्णु को न पूजना अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना, वरन सदैव विष्णु की पूजा करते ही रहना । केवल दिन में या रात में ही न पूजना ॥ ३८ ॥ हे शांडिल्य ! पाँच (इन्द्रियों रूप) प्रवाह वाला (हृदय रूप) पोला स्थान ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है और वहीं खेचरी मुद्रा रहती है; इस लिये उसी का तू सेवन कर ॥ ३९ ॥ बांयी और दाहिनी नाड़ी के भीतर रह कर मध्य में वायु फिरती है और उस स्थान में स्थिति होने वाले को खेचरी मुद्रा होती है, इसमें संशय नहीं ॥ ४० ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।

निष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४१ ॥
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्वतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम च खेचरी ॥ ४२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते । जिह्वा चित्तं च खे चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्षसिद्धिः ॥

बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नतः ॥ ४३ ॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥ ४४ ॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः । पादांगुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ।

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥ ४५ ॥

इडा और पिंगला के बीच शून्य भाग है और वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं रहती है और वहीं सत्य रहना है ॥४१॥

चन्द्र-सूर्य की दोनों नाडियों के मध्य निराधार धरातल है, वहाँ आकाश मंडल में खेचरी मुद्रा रहती है ॥ ४२ ॥ छेदन, चालन और दाह द्वारा जीभ को खूब नोंकदार बनाकर, भृकुटि के मध्य में दृष्टि रख कर, कपाल के छिद्र में जब जीभ उलटी होकर जाने लगती है, तब खेचरी मुद्रा होती है । जीभ और चित्त दोनों कपाल के छिद्र रूप आकाश में फिरते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभ वाला वह पुरुष अमर हो जाता है । बाँये पैर के मूल से मूलरन्ध्र को दबा कर दाहिना पैर पसार कर उसे दोनों हाथों से पकड़ना और फिर दोनों नथुनों से वायु भर कर कण्ठबन्ध के ऊपर चढ़ाना और ऊपर उठी हुई वायु को रोकना; इससे सर्व क्लेशों का नाश होता है । इसके पश्चात् विष भी अमृत की तरह पच जाता है । क्षय, गुल्म, गुदावर्त और चर्म के पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं । प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु का नाश करने वाला है । बाँये पैर की एड़ी को गुदा स्थान के साथ जोड़ कर दाहिना पैर बाँये पैर पर रखना; और फिर वायु भर कर, ठोड़ी को हृदय की तरफ दबा कर गुदा स्थान को सङ्कोच कर मन के मध्य यथाशक्ति धारणा कर के, अपने आत्मा का ध्यान करना; इससे अपरोक्ष सिद्धि होती है । बाहर से प्राण को खींच कर पेट में भरे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के आगे और पैर के अँगूठे में मन द्वारा यत्न पूर्वक धारण करे । इस प्रकार सन्ध्याकाल में सदैव करने वाला योगी सर्व रोग से मुक्त होकर परिश्रम रहित होता है ॥ ४३—४४ ॥ नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करने से वायु को जीता जा सकता है, नाभि के मध्य में रोकने से सर्व रोगों का नाश होता है, पैर के अँगूठे में धारण करने से शरीर हल्का होता है । जो पुरुष जीभ से वायु खींच कर निरन्तर पिया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता और रोग नाश होते हैं ॥ ४५ ॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत् ।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ॥ ४६ ॥
एवं षण्मासाभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः ॥
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ ४७ ॥
आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे ।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥ ४८ ॥
नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते ॥ ४९ ॥
मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयाऽऽरोप्य मारुतम् ।
विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥ ५० ॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्या समय वायु को खींच कर उसे पीता है, उसकी वाणी तीन महीने में कल्याण स्वरूप सरस्वती बनती है ॥ ४६ ॥ इस प्रकार छः महीना अभ्यास करने से सर्व रोग मिट जाते हैं । जो विद्वान जीभ से वायु ले कर उसे जीभ के मूल में रोकता है वह अमृत पीता है और उसका सब प्रकार से कल्याण होता है ॥ ४७ ॥ इडा नाड़ी द्वारा दोनों भौंहों के बीच आत्मा में आत्मा को धारण करने से मनुष्य देवताओं के आहार को भेदता है और रोगी हो तो भी रोगों से छूट जाता है ॥ ४८ ॥ दोनों नाड़ियों से वायु को नाभि में खींच कर पेट के दोनों भागों में जो एक घड़ी तक चलाता है, वह रोगों से छूट जाता है ॥ ४९ ॥ एक महीना तक तीनों काल जीभ से वायु को खीच कर पेट के मध्य भाग में रोकता है, वह भी देवताओं का आहार भेदता है ॥ ५० ॥

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ॥ ५१ ॥
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ।

तारसंयमात् सकलविषयज्ञानं भवति । नासाग्रे चित्त-संयमादिन्द्रलोकज्ञानम् । तदधश्चिरासयमादग्निलोकज्ञानम् । चक्षुषि चित्तसंयमात् सर्वलोकज्ञानम् । श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्य-मलोकज्ञानम् । तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम् । पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम् । वामकर्णे संयमाद्वायुलोकज्ञानम् । कण्ठे संयमात् सोमलोकज्ञानम् । वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम् । मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम् । पादाधोभागे संयमादतललोक-ज्ञानम् । पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम् । पादसन्धौ संयमान्नित-ललोकज्ञानम् । जङ्घे संयमात्सुतललोकज्ञानम् । जानौ संयमा-न्महातललोकज्ञानम् । ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम् । कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम् । नाभौ चित्तसंयमाद्भू-लोकज्ञानम् । कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोज्ञानम् । हृदि चित्तसंयमात् स्वर्लोकज्ञानम् । हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम् । कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम् । भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोक-ज्ञानम् । मूर्ध्नि चित्तसंयमात् सत्यलोकज्ञानम् । धर्माधर्मसंयमाद-तीतानागतज्ञानम् । तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात् सर्वजन्तुरुत-ज्ञानम् । संचितकर्मणि चित्तसंयमात् पूर्वजातिज्ञानम् । परचित्ते चित्तसंयमात् परचित्तज्ञानम् । कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्य-रूपम् । बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम् । सूर्ये चित्तसंयमाद्भु-वनज्ञानम् । चन्द्रे चित्तसंयमात्तारव्यूहज्ञानम् । ध्रुवे तद्गति-दर्शनम् । स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् । नाभिचक्रे कायव्यूह-ज्ञानम् । कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । तारे सिद्धदर्शनम् । कायाकाशसंयमादाकाशगमनम् । तत्तत्स्थाने संयमात्तात्त्सिद्धयो भवन्ति ॥ ५२ ॥

उसके सब ज्वर नष्ट हो जाते हैं; अनेक प्रकार के विष भी नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य एक मुहूर्त समय तक भी मन के साथ वायु को

नासाग्र पर नित्य धारण करता है, उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णतः छूट जाते है ।। ५१ ।। नेत्र की पुतली मे चित्त का संयम करने से सब विषयों का ज्ञान होता है; नाक के अग्र भाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान होता है; उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान होता है; चक्षु में चित्त का संयम करने से सर्व लोक का ज्ञान होता है; श्रोत्र में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है; उसकी बगल में चित्त का संयम करने से राक्षस लोक का ज्ञान होता है; पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है; बाँये कान में संयम करने से वायु लोक का ज्ञान होता है; कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है; बाँयी आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है; मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है; पैर के नीचे के भाग में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है, पैर में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है; पैर की संधि में संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है; पैर के घुटने में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है; जांघ में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान होता है; जानु में संयम करने से रसातल लोक का ज्ञान होता है; कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है; नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है; पेट में संयम करने से भुवर्लोक का ज्ञान होता है; हृदय में चित्त का संयम करने से स्वर्लोक का ज्ञान होता है; हृदय के ऊपर के भाग में संयम करने से महर्लोक का ज्ञान होता है; कण्ठ में संयम करने से जनलोक का ज्ञान होता है; भौहों के बीच संयम करने से तपोलोक का ज्ञान होता है; मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान होता है; धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्य का ज्ञान होता है; विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है; सञ्चित कर्म में संयम करने

से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है; दूसरे के चित्त में संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है; शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का सा रूप हो जाता है; बल में संयम करने से हनुमान आदि जैसा बल हो जाता है; सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है; चन्द्र में संयम करने से तारा-मंडल का ज्ञान होता है; ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है; स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है; नाभिचक्र में शरीर ब्यूह का ज्ञान होता है, कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास जाती रहती है; कूर्म नाड़ी में स्थिरता आती है; 'तार' में सिद्ध दर्शन होता है और शरीर के आकाश में संयम करने से आकाश में गति कर सकता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से वे ही सिद्धियाँ प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥

॥ इति सप्तम खण्ड ॥

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः। विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत्पश्यति तत्सर्बमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः। पादांगुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत ॥ ८ ॥

अथ धारणाः। स पञ्चविधः। आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ॥ ९ ॥

अथ ध्यानम्। तद्‌द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ॥ १० ॥

अथ समाधिः । जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ॥ ११ ॥

अब प्रत्याहार : वह पाँच प्रकार का है । विषयों में फिरती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेने को प्रत्याहार कहा जाता है । जो-जो देखता है वह सब आत्मा है, ऐसा समझना यह प्रत्याहार है । नित्य किये कर्मों के फल का त्याग यह प्रत्याहार है । सर्व विषयों से विमुख होना, यह प्रत्याहार है । अठारह मर्म स्थानों में क्रम से धारणा करना, यह प्रत्याहार है । पैर का अंगूठा, गुल्फ, जङ्घा, जानु, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र तालु, नाक, आँख, भौहों का मध्य, ललाट और मस्तक—इन स्थानों में चढ़ाव-उतार के क्रम से प्रत्याहार करना ॥ ८ ॥

अब धारणा, वह तीन प्रकार की है । आत्मा मे मन की धारणा; दहराकाश में बाहर के आकाश की धारणा और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा ॥ ९ ॥

अब ध्यान : वह दो प्रकार का है । सगुण और निर्गुण । मूर्ति ध्यान सगुण है और आत्मा के स्वरूप का ध्यान निर्गुण है ।

अब समाधि : जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—यह त्रिपुटी रहित, परमानन्द स्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय अवस्था, यही समाधि है ॥१०—११॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्म-विद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छ

अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति । स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वं यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम् ।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । यत्केवलं ज्ञानगम्यम् । प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी । यदेकमद्वितीयम् । आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत् परं च ब्रह्म । तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि ।

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः । यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा । आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ।

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि ॥ १ ॥

फिर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्यने चारों वेदों में ब्रह्म विद्या प्राप्त न होने से भगवान अथर्वा की शरण में जाकर पूछा—"हे भगवन् ! ब्रह्मविद्या पढ़ाओ, जिससे मेरा कल्याण हो ।' तब अथर्वा कहने लगे—"हे शांडिल्य ! ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जिसमें यह सब ओत-प्रोत है । जिसमें यह उदय पाता है और अस्त होता है, उसी प्रकार जिसे जानने से यह सब जान लिया जाता है, वह हाथ-पैर रहित, चक्षु रहित, कान रहित, जीभ रहित, शरीर रहित, ग्रहण न कर सकने योग्य और बताये न जा सकने योग्य है । जिसको पाये बिना वाणी, मन के साथ पीछे लौट जाती है; जो केवल ज्ञान र

प्राप्त किया जा सकता है; जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रसार हुआ है; जो एक और अद्वितीय है; आकाश के समान सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरंजन, निष्क्रिय, मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य और आनन्द रूप एक रस वाला, मंगलमय, अति शान्त और अमर है, वह परब्रह्म है। वही तू है। ज्ञान द्वारा तू उसको जान। जो एक ही देव आत्मा की शक्ति रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सब प्राणियों का अन्तरात्मा, सर्व प्राणियों में निवास करता, सर्व भूतों में गुप्त, भूतों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग द्वारा जान सकने योग्य; जो विश्व की सृष्टि करता हैं, विश्व की रक्षा करता है, विश्व का संहार करता है, वही आत्मा है। उन समस्त लोकों को तू आत्मा में रहते हुये जान। तू शोक मत कर। आत्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त करके तू शोक का अन्त कर सकेगा।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परं ब्रह्म। तस्मात् कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति। स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति।

अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति निष्कलं सकलं सकलनिष्कलं चेति।

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्यममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्।

अथास्य या सहजाऽस्ति विद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहित-

शुक्ल कृष्णा तया सहजवान् देव:कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे । तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम् ।

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति । अथैतस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् त्रीण्यक्षराण्यजायन्त । तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्नयश्च जायन्ते । योऽसौ देवो भगवान् सर्वैश्वर्यसंपन्न: सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया कृति: स ब्रह्मा स विष्णु: स रुद्र: स इन्द्र: स सर्वे देवा: सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात् स एव पश्चात् स एवोत्तरत: स एव दक्षिणत: स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् स एव सर्वम् । अथास्य देवस्यात्मशक्तिक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी । तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम् ।। १ ।।

फिर शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा—"जो परब्रह्म एक, अक्षर, क्रिया रहित, मङ्गल स्वरूप और मात्र सत्ता रूप है, उससे यह विश्व किस प्रकार उत्पन्न होता है ? किस प्रकार स्थित करता है, और किस प्रकार उसमें लय पाता है ? मेरा यह संशय दूर करना आवश्यक है।" तब अथर्वा बोला—"सत्य है, शाण्डिल्य ! परब्रह्म क्रियारहित और अक्षर है, तो भी इस परब्रह्म के तीन स्परूप हैं:—सकल, निष्कल और सकल-निष्कल । जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, क्रियाशून्य, निरञ्जन, सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, सब ओर मुख वाला, बता सकने में असम्भव और अमर है, वह निष्कल रूप है । अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या मूल प्रकृति और माया है, वह लाल, श्वेत और काली है । उसकी सहायता पाकर यह देव काला और पीला होकर मेरा और सब का ईश्वर, नियन्ता होता है । यह इसका सकल-निष्कल रूप है । —— —— [illegible] ज्ञानमय तप से वृद्धि पाकर इच्छा की कि "मैं अनेक

रूपों में उत्पन्न हूँ।" फिर इसने तपस्या की, तब सब कामना वाले इससे तीन अक्षर उत्पन्न हुये, वैसे ही तीन आकृतियाँ, तीन पद वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण और तीन अग्नि प्रकट हुईं। जो यह देव भगवान होकर सर्व ऐश्वर्य से युक्त, सर्वव्यापी, सर्व प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी और माया के साथ क्रीड़ा करता है; वही ब्रह्म, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवों और समस्त भूतों के रूप में होता है। वही आगे, वही पीछे, वही उत्तर की तरफ, वही दक्षिण की तरफ, वही नीचे, वही ऊपर है। इस प्रकार सब कुछ वही है। यह देव अपनी शक्ति के साथ क्रीडा करने वाला और भक्तों के ऊपर कृपा करने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर रूप युक्त, वस्त्र रहित, कमल की पँखुड़ी के समान कोमल, चार भुजाओं वाला, भयङ्करता रहित और पाप रहित होकर प्रकाशित होता है। यह उसका सकल रूप है ॥ १ ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन् सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति। स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति।

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति। यस्मात् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति।

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या तस्मादुच्यते महेश्वर इति।

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति। यस्मात् सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयोऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति।

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वैं विद्यै नं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति।
अत्रैते श्लोका भवन्ति—

दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्।
आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम् ॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्।
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम् ॥
ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्।
भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम् ॥
एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ॥
इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥

फिर अथर्वा से शाण्डिल्य ने पूछा—"हे भगवन्! मात्र सत्य स्वरूप, त्याग, चैतन्य और आनन्द रूप एक रस वाला यह परब्रह्म क्यों कहलाता है?" तब अथर्वा ने कहा—"वह स्वयं वृद्धि पाता है और दूसरों की वृद्धि कराता है, इस लिये वह परब्रह्म कहलाता है। फिर वह आत्मा क्यों कहलाता है, वह इस प्रकार कि सब में व्याप्त रहता है, सबको ग्रहण करता है और सब को खा जाता है। अब वह महेश्वर क्यों कहलाता है? इस लिये कि वह शब्द ध्वनि तथा आत्म शक्ति से बड़े बड़ों का नियन्ता है और बड़े-बड़ों का ईश्वर हैं, इससे वह महेश्वर कहलाता है। फिर वह दत्तात्रेय कैसे कहा जाता है? इस लिये कि अति दुस्तर तपश्चर्या करके अत्रि ऋषि ने पुत्र की इच्छा की; तब उनके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर ज्योतिर्मय भगवान ने अपना ही स्वरूप उनको पुत्र रूप में दिया और वे स्वयं अत्रि तथा अनुसूया से उत्पन्न हुये। इससे वे दत्तात्रेय कहलाते है। इन सार्थक

नामों को जो व्युत्पत्ति सहित जानता है वह सब कुछ जानता है। फिर जो विद्या द्वारा इस परमात्मा की उपासना करता है, वह "मैं ही परमात्मा हूँ" इस भाव से ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। यहाँ पर ये श्लोक हैः—"मङ्गल स्वरूप, शान्त, इन्द्रनीलमणि जैसे श्याम, आत्म माया के साथ रमण करते, अवधूत, दिगम्बर, भस्म लगे हुये शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुये, व्यापक, चार भुजा वाला, उदार अङ्ग वाले, प्रफुल्ल कमल जैसे नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भंडार, विश्व के गुरु, लोगों के प्रिय, भक्तों पर दया वाले, सब के साक्षी और सिद्धि द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव सनातन है और देवों के भी देव हैं। इस प्रकार जो निरन्तर उनका ध्यान करता है, वह सर्व पापों से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है। इति ॐ सत्यम्, इस प्रकार उपनिषद् समाप्त होता है॥ २॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

॥ इति शांडिल्य उपनिषद समाप्त ॥

परब्रह्मोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांतिपाठ—ॐ हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु। कथं सृजन्नित्यात्मन एष महिमा विभज्य एष महिमा विभुः कः। एष तस्मै स होवाच । एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः परब्रह्मपुरे बिरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः अकर्मस्वपुरस्थितः कर्मकः कर्षकवत् फलमनुभवति । कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति। कर्ममर्मं ज्ञात्वा कर्म कुर्यात् । को जालं विक्षिपेदेकेनैनमपकर्षत्यपकर्षति ॥ १ ॥

हाँ ! तो ! किसी समय बुद्धिमान् शौनक ने अङ्गिरा वंशज भगवान् पिप्पलाद के पास विधिवत् (गुरु के पास जैसे शिष्य गुरु मुख पर दृष्टि रख कर बैठता है आदि) जाकर पूछा—कि संसार में जो भी उत्पन्न होने वाले पदार्थ होते हैं वे सभी पहले ही दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् हिरण्यगर्भ भगवान् के हृदय रूपी आकाश में विराजमान हो जाते हैं ।

उन पदार्थों को यथा विभाग यह व्यापक महिमामय भगवान् अपने अन्दर से कैसे सृजन करता है । वह वस्तुतः है भी कौन ? पिप्पलाद ने उन्हें कहा—जो श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या मैं तुम्हें कहता हूँ (कहूँगा) वह सत्य है । यह सत्यस्वरूप ब्रह्मपुरमें विरज (गुणत्रयहीन) प्राण से लेकर नाम तक की सोलह कलाओं से हीन है और इसी कारण शुभ्र (स्वच्छ) अविनाशी रूप में शोभित होता है । मधुकर अर्थात् जीवमात्रों का जो समूह उसको यह बन्धन तथा मोक्ष का अधिकारी रूप से निर्मित करता है अतः निर्मक कहा जाता है इस स्वरूप का ब्रह्मविद्या का आधार परमात्मा मुमुक्षुओं के अविद्यादि को नियमन कर देता है (समाप्त कर देता हैं) जिससे उनको उस शुद्ध चैतन्य की प्रतीति हो जाती है ।

वह अपने ही स्थान में स्थित कर्महीन रूप से स्थित रहता है । क्योंकि वह कृतकृत्य होता है । "कर्तव्यं नैव तस्यामि" इस श्रुति के आधार पर ।

वह विपरीत दृष्टि वाला तो विविध प्रकार के कर्मों को करने वाला तथा किसान की तरह अपने किये कर्म के अनुसार फल को प्राप्त करने वाला होता है । कर्म के मर्म को (जन्मादि के कारण रूप) जानने वाला पुरुष चित्त की शुद्धि के लिये कर्म आवश्यक है आदि, समझ परमेश्वर की आराधना की बुद्धि से कर्म करता है । किन्तु जो अपने अलावा (अपने को सोऽहं समझकर) अन्य भ्रम से मुक्त होना चाहता है वह मुनि कर्म के मर्म को (अर्थात् अच्छा बुरा कर्म करने

पर ऊँच-नीच योनियों में अच्छा बुरा फल भोगना ही पड़ता है आदि) समझकर निष्काम बुद्धि से कर्म करे (तभी मोक्ष प्राप्त कर सकेगा) एक मात्र ब्रह्म में आसक्त कौन संन्यासी (विवेकी) विविध प्रकार के कर्म जाल को करेगा ? (अर्थात् कोई नही) ।

इस प्रकार निष्काम बुद्धि से काम करने वाले को उसके कर्म सांसारिक विषयों में कभी भी नहीं खींच सकते ॥ १ ॥

प्राणदेवताश्चत्वारः । ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्श्येनाकाशवत् । यथा श्येनः खमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम् । एवं सुषुप्तं ब्रूतायं च परं च । स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे अमृता ह्येषा नाडीत्रयं संचरति । तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रैष्य ततोऽनुतिष्ठति । अन्यत्र ब्रूतायं च परं च । सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवेत्येवमिष्टापूर्तशुभाशुभैर्न लिप्यते । यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति । यथैष देवः स्वप्न आनन्दमभिधावति । वेद एव परं ज्योतिः । ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव । तत्परं यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति । शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात् । भूतस्तेनैव मार्गेण स्वप्नस्थानं नियच्छति। जलूकाभाववदद्यर्थाकाममाजायतेश्वरत्वात्।तावतात्मानमानन्दयति । परसन्धि यदपरसन्धीति । तत्परं नापरं त्यजति । तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तनइवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरित्यत्न जाग्रति । शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते । य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः प्रणवहंस। परं ब्रह्म न प्राणहंसः प्रणवो जीवः । आद्या देवता निवेदयति । य एवं वेद । तत्कथं निवेदयते । जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ॥ २ ॥

ईश्वर कैसा है उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं इस विषय में कहते हैं—जीव के प्राणाधार रूप में विश्व आदि तुरीयक भेद से

चार प्राण देवता हैं उनको प्राप्त करने वाली नाडियां भी रमा, अरमा, इच्छा, पुनर्भभव आदि भेद से चार प्रकार की हैं। उनमें से रमा तथा अरमा नामक दो नाडियोंका अवलम्बन करके आकाशगामी बाजकी तरह (थकने पर) जाग्रत् स्वप्न आदि के व्यवहार से थककर सो जाता है। अर्थात् जैसे बाज आकाश में (तृष्णा विष्ट होकर) देर तक उड़ने से थक जाने पर अपने घोंसले की ओर आ जाता है ठीक ऐसे ही जीव भी जाग्रत् आदि प्रपञ्च से थककर अपने आराम के स्थल इन दोनों नाडियों में विश्राम के हेतु सो जाता है। यह शयनावस्था में कहीं २ विचरण करता है इस विषय में लिखते हैं—कि यह वस्तुतः अमृतरूप स्वरूप जीव रूपिणी देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्मय परकोश में अर्थात् हृदयाकाश में रमा आदि तीन नाड़ियों का आश्रय लेकर जाग्रत् आदि तीन अवस्था तथा बन्ध मोक्ष आदि की व्यवस्था में जो विचरण करता है उसका त्रिपाद स्वरूप, ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। यह जीव रूपिणी देवता इस अपने स्वरूप को प्राप्त कर तन्मात्र (तत्स्वरूप के रूप) रह कर मुक्त हो जाता है।

इसी से अन्यत्र नहीं तो जाग्रत् आदि में स्वातिरिक्त भी सत्ता समझकर घूमता रहता है।

सभी जगह हमेशा यह हिरण्मय प्रकाशमय परकोश (ब्रह्म) में विचरण करता हुआ भी अपने अज्ञान के आवरण से आच्छन्न होकर जाग्रत् आदि अवस्था त्रय के गड्ढे में गिर जाता है (बन्धन में पड़ जाता है)

जैसे कि कोई (मानो देवदत्त नामक आदमी) यदि सोता हो और एक लाठी कमर में खींच दी जाय अर्थात् बेंत से उसे ताड़ित किया जाय तो जगने पर फिर जैसे वह पुनः सोता नहीं ठीक ऐसे ही यह जीव भी वेद रूपी आचार्य द्वारा वेदान्त तत्व जानकर (इस तत्व रूपी डण्डे से चोट खाकर) जब जाग जाता है (ज्ञानयुक्त हो जाता है)

तो फिर अवस्था त्रय के गर्त में (गड्ढे के सम्पर्क में) नहीं गिरता और इष्टापूर्त आदि अच्छे बुरे कर्मों में लिप्त नहीं होता ।

जैसे बालक (अबोध शिशु) किसी भी वस्तु विशेष पर अधिक आसक्त न होने के कारण किसी भी लब्ध वस्तु से आनन्दित होता रहता है ठीक ऐसे ही यह भी स्वप्न अथवा जाग्रत् में भी निरन्तर आनन्द का ही अनुभव करता रहता है । (आनन्द की ओर ही लपकता है)

सो जो कोई 'मैं उस आनन्दमय ब्रह्म का ही स्वरूप हूँ, परम ज्योति हूँ तथा परम ज्योति सूर्य आदि का भी प्रकाशक हूं' इस प्रकार आनन्दमय कोश से पूर्ण रहता है वह ही आनन्द रूप में स्थित होजाता है । इस प्रकार जिसका हृदय (जो हृदय) उस परब्रह्म पर भेंट हो जाता है, वह परमात्मा की प्राप्ति कर आत्मा को तृप्त करता है । वही विलीन भी हो जाता है । इस प्रकार ईश्वर से सफेद कर्म अर्थात् चित्त प्रसाद (प्रसन्नता) उत्पन्न होती है । पुन: निर्विकल्प समाधि द्वारा उसी रात्रि से स्वप्न स्थान में विश्राम करता है (अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि तत्वमसि इत्यादि त्रिपुटि युक्त अखण्ड आकार स्वरूप तुर्य स्वप्न को प्राप्त कर उसमें आत्मा को विश्राम देता है) । जैसे जोंक एक तृण से दूसरे तृण को ग्रहण करती है ऐसे ही विद्वान् भी जागरणावस्था स्थित तुर्य स्वप्न का अवलम्बन कर तुर्य जागरण को छोड़ देता है । एक रूप से तीनों अवस्थाओं के संचरण की इच्छा ईश्वर से उत्पन्न हो जाया करती है ।

इस प्रकार यह अपनी आत्मा को आनन्दित करता है । प्रत्येक तथ्य पर चिह्न की जो ऐकता, उसमें एक दूसरे का जो विशेष भाव उसे छोड़ देता है । इस प्रकार तत्पर (ब्रह्म पर) होकर उसे अपने से विशेष कुछ मान कर अथवा अपना अभिन्न मानकर नहीं छोड़ता ।

(अर्थात् वह उसे अपर (भिन्न) नहीं समझता किन्तु स्वरूप समझकर छोड़ता ही नही है) ।

यदि इस प्रकार केवल श्रवण आदि द्वारा निर्विशेष ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तो कपालाष्टक अर्थात् योग के जो (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप) आठ अङ्ग है उनका अभ्यास कर उसके द्वारा हृदय के मैल को साफ कर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हुआ जा सकता है । योग ध्यान का आधार क्या है ? इस सम्बन्ध में लिखते हैं—जो यह स्तन की तरह अथवा केले की पुष्प की तरह छातीमें हमेशा लटका रहता है तो यह योग काल में ऊपर उठता हुआ विकसित होता है ।

इसमें ही ब्रह्मयुक्त यह ईश्वर (जो कि वेद योनि कह कर सब के द्वारा पुकारा जाता है) जागता है । जो इस प्रकार अपने हृदय कमल में स्थित ईश्वर को ध्याता है वह शुभ-अशुभ (अच्छे-बुरे) से परे होकर शुभ अथवा अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मों द्वारा लिप्त नहीं होता । जिसका ध्यान करने वाला ही शुभाशुभ में लिप्त नहीं होता वह कैसा देव है इस सम्बन्ध में कहते है—जो यह देव है वह अत्यन्त प्रसादक (प्रसन्नता देने वाला) अन्तर्यामी निःसङ्ग, चिद् रूप, पुरुष प्रणवहंस (ॐकार पञ्जरस्थ है) अथवा प्रणवार्थ तुर्य हंस परब्रह्म इस रूप से स्मरण किया जाता है । यहाँ मुख्यप्राण विवक्षित नहीं है । क्योंकि यह परब्रह्म का प्रकरण है प्राणादि सम्बन्धी नहीं । प्रणव (ॐकार) ही जीव है क्योंकि वह ॐकार के अवयव के आकार से वाच्य (समझा जाने वाला) है । वही जीव रूपिणी आधार (सर्व प्रथम) देवता है यह कहा जाता है ।

जो इस प्रकार ॐ कार की यथार्थता को जानता है वह जीव व ब्रह्म के पद का निरूपण (पृथक् सत्ता) कैसे कह सकता है । किन्तु

वह तो जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करता है उनके भेद का तो कभी भी स्मरण नहीं करता ॥ २ ॥

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तःशिखोपवीतित्वम् । ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम् । बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवदव्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मरूपमय इस पुरुष का जो सत्व भाव है वह ही आन्तरिक शिखा एवं यज्ञोपवीत है । ब्राह्मण जो कि मोक्ष का चाहने वाला हो उसे यह आन्तरिक शिखा एवं यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ।

बाहर दीखने वाले जो यज्ञोपवीत एवं शिखा है उसका धारण कर्मी (वैदिकादि कर्म का कर्ता) गृहस्थियों के लिये है ।

आन्तरिक जो शिखा एवम् यज्ञोपवीत है वह बाहर के सूत्र की तरह व्यक्त नहीं है अपितु अव्यक्त है तथा परब्रह्म का मिलन करा देने वाला है ॥ ३ ॥

न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम् ।
न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥ इति ॥४॥

अविद्या का जो स्वरूप है वह सत्, असत्, भिन्न-अभिन्न, उभयात्मक (भिन्नाभिन्न) सभाग (भागयुक्त) निर्भाग (भाग रहित) अथवा उभयस्वरूप आदि कुछ नहीं है ।

इस कारण इसका स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय (जिसको किसी प्रकार समझाया नहीं जा सकता) है ।

सो जब तक इसी स्वरूप वाले अनिर्वचनीय ब्रह्म का आत्मैकत्वज्ञान (अर्थात्) प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है, नहीं उदित होता तभी तक इसकी (अविद्या की) स्थिति भी हैं । किन्तु ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर यह सब हेय है छोड़ देने लायक हैं क्योंकि यह सब मिथ्या है ॥ ४ ॥

पञ्चपादब्रह्मणो न किंचन। चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीव-ब्रह्मणः स्थानानि चत्वारि। नाभिहृदयकण्ठमूर्ध्निषु जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तितुर्यावस्थाः, आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु। जाग-रिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम्। तस्माच्चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तु-वद्विभज्य, तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय, नवब्रह्माख्यनव-गुणोपेतं ज्ञात्वा, नवमानमितं त्रिः पुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्वग्नि-कलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य, आद्यन्तकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्म-विष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधाय, आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैत-ग्रन्थिं कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मबिलप्रमाणं पृथक्पृथक्सप्तविंशतितत्त्व-संबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणलक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामां-सादिदक्षिणकट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्तग्रहसंमेलनमेव ज्ञात्वा मूलमेकम्, 'सत्यं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नाम-धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', हंसेतिवर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वम्, यतित्वमलक्षितान्तः-शिखोपवीतित्वम्, एवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थ-स्य, आभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतो-पवीतित्वम्। चतुःचतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तु-कृत्वम्, नवतत्त्वमेकमेव परं ब्रह्म, तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बहुमार्ग-वृत्तिं कल्पयन्ति। सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्ति-रेका ब्रह्मैकमेव ब्राह्मणत्वमेकमेव। वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक्, शिखा वर्णाश्रमिणामेकमेव, अपवर्गस्य यतेः शिखा-यज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेक मेव वदन्ति। हंसः शिखा, प्रणव-मुपवीतम्. नादः संधानम्। एष धर्मो नेतरो धर्मः। तत्कथ-मिति। प्रणवो हंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति। त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि। प्रापञ्चिकशिखोपवीतं त्यजेत्॥ ५॥

पञ्चपाद (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्य से परे) ब्रह्म की अपने अतिरिक्त अविद्या रूप है या नही यह भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। अर्थात् वह निर्भ्रान्ति है सर्वमय हैं।

व्यष्टि तथा समष्टि रूप चतुष्पाद के अन्तर्गत अन्तः विद्यमान जीव रूपी ब्रह्म की प्राप्ति के चार स्थान हैं। नाभि, हृदय, कण्ठ तथा शिर (ललाट), इन्हीं में उसकी उपलब्धि होती है। इसके (प्राप्ति में) चार अवस्थायें होती हैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्य। और आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणा सभ्य, इन अग्नियों में यथायोग्य आत्मा की भावना करनी चाहिये। जागरित अवस्था मे ब्रह्मा, स्वाप्न में विष्णु, सुषुप्ति में रुद्र, तुरीय में अक्षर अविनाशी चिद् रूप ब्रह्म ध्येय है।

अब ब्रह्म को यज्ञोपवीत पर घटाकर बताया जाता है क्योंकि संन्यासी इसी ब्रह्ममय यज्ञोपवीत को धारण करता है—

इस ब्रह्म की प्राप्ति में जो चार अवस्थायें गिनाई गई हैं वाही चार अँगुलियों का व्येष्टन है (जैसे कि चार अँगुलियों पर जनेऊ बनाते हुए धागा लिपटाया जाता है) जिसकी संख्या ९६ बार होती है तथा ९६ तत्व इसमें लपेटे हैं। इसको तीन हिस्सा कर के (तीन गुणा रूप द्वारा) बत्तीस तत्वों के निष्कर्ष रूप का सम्पादन करके ज्ञान से पवित्र त्रिगुणस्वरूप (तीन सत्वादि गुण तथा तीन गुण यानी रूप, लड़ी स्वरूप त्रिमूर्ति रूप समझकर, नौ-ब्रह्म नामक नौ गुणों (लड़ियों) से युक्त जानकर नौ मान परिमित तीन को फिर त्रिगुण करके सूर्य, चन्द्रमा, तथा अग्नि कला स्वरूप से एक करके आदि तथा अन्त युक्त की तीन आवृतियां करके ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर का अनुसन्धान कर (उन आवृत्तियों में) शुरू से अन्त तक एक बनाकर चिद्रूपी ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि (गाँठ) बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्म बिल तक का, भिन्न २ सत्ताईस तत्वों से सम्बन्धित

(क्योंकि जनेऊ की एक लड़ी में २७-२७ सूत्र होते हैं) तीन गुणों (सत्वादि) (सूत्रों) से युक्त पृथक् तीन स्वरूप में दीखने पर भी उनमें एकत्व सम्पादन कर बायें कन्धे से लेकर दाहिनी कमर तक इस की भावना करके (इसे पहन) ही चित्त की शुद्धि हो सकती है। अब ब्रह्मसूत्र की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जैसे कि घड़े आदि मिट्टी की बनी वस्तुये केवल मात्र मिट्टी ही है उससे भिन्न अन्य वस्तु कोई नहीं, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म निर्मित सभी वस्तुयें ब्रह्म ही हैं ब्रंह्म से भिन्न उनकी कोई स्थिति नहीं है । यही इस अन्तः यज्ञोपवीत के स्वरूप को समझना चाहिये।

अतः उस हंस नामक ब्रह्म का अंश ही मैं हूँ (सोऽहम्) ऐसा निश्चय करके ही ब्राह्मणत्व, ब्रह्म ध्यान की योग्यता, यतित्व (वस्तुतः यति जाति) की प्राप्ति होती है और तभी पुरुष वस्तुतः अन्तः शिखा तथा अन्त यज्ञोपवीत वाला माना जाता है इस प्रकार बाहर दीखने वाली कर्म शिखा (चोटी) तथा यज्ञोपवीत गृहस्थियों के लिये होता है।

बाल, शिखा तथा प्रत्यक्ष कपास के धागों से बने जनेऊ ही ब्राह्मणत्व के अथवा अन्य-अन्य वैदिक कर्मानुष्ठान योग्यता के आभासक हैं। प्रारम्भ तथा अन्त में एक ही तत्व के होने के कारण मध्य में भी वही एक ही परब्रह्म विराजता है; भिन्नों की स्थिति तो केवल भ्रान्ति मात्र है। चौबीस तत्वों का घोषण करने वाला (द्योतक) यह सूत्र एक ही ब्रह्म का स्वरूप है चाहे इसमें नौ तत्वों (नौ लड़ियों) की स्थापना भले ही होती है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी २ बुद्धि द्वारा कल्पना कर उसे सांख्य आदि अनेक तत्वों में जो विभक्त कर देता है उसका कारण प्रत्येक की कल्पना शक्ति का भिन्न २ होना ही है।

सभी ब्राह्मण आदि, देव ऋषियों, मनुष्यों की मुक्ति ब्रह्म तथा ब्राह्मणत्व आदि सब एक ही हैं, समान हैं। वर्ण, आश्रम, आचार केवल भिन्न है। वर्णाश्रम व्यवस्था वालों की शिखा एक ही रूप है। मोक्षाधिकारी यति की शिखा तथा यज्ञोपवीत का आदि कारणभूत ॐकार भी एक ही है। इनकी हंस (ब्रह्मज्ञान) ही शिखा है, ॐ कार ही उपवीत है इन दोनों का जोड़ने वाला नाद है।

यह इनका धर्म है अन्य नहीं। परमात्मा ही ॐकार हंस (ब्रह्म) तथा नाद यही तीन लड़ी वाला सूत्र है।

वह अपनी महिमा द्वारा स्वयं अपने में स्थित है, चैतन्य स्वरूप हृदय में रहता है। पर तथा अपर भेद से दो प्रकार का ब्रह्म समझना चाहिये।

यदि कोई आत्म स्वरूप ही सत्य को जानना चाहता है, आत्म तत्व से पृथक् कुछ नहीं देखना चाहता तो इस कर्ममयप्रपञ्च युक्त शिखा तथा यज्ञोपवीत को छोड़ देना चाहिये ॥ ५ ॥

सशिख वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥
पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत्।
सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ॥ ७ ॥
तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः।
स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पङ्क्तिपावनः ॥ ८ ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः ॥ ९ ॥
बहिः सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः।

ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ।
नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात् ॥ १० ॥

शिखा सहित केशों को काट कर इस बाह्य उपवीत (यज्ञोपवीत) को छोड़ दे और जो अविनाशी परब्रह्म है उसे ही सूत्र रूप में धारण करले ॥ ६ ॥

पुनर्जन्म की समाप्ति के लिये निरन्तर मोक्ष का स्मरण करे । परं (ब्रह्म) रूपी जो सूत्र है (तन्तु) वह इसी कारण सूत्र कहा जाता है कि वह सूत्रक है ॥ ७ ॥

उस सूत्र का ज्ञान जिसे होगया वही मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाला) तथा वही भिक्षुक, वेदज्ञ, सदाचारी, मुक्त, ब्राह्मण है तथा वह अनेकों प्राणियों को पवित्र करने वाला है ॥ ८ ॥

जिस परब्रह्म ने इस अखण्ड ब्रह्माण्ड को धागे में मणकों की तरह पिरो रखा है, उसी सूत्र को योग का ज्ञाता यति ब्राह्मण धारण करे ॥ ९ ॥

योगी तथा ज्ञानेच्छुक ब्राह्मण इस बाहर के सूत्र को सर्वथा छोड़दे । तथा उस ब्रह्मभाव से युक्त सूत्र को जो धारण करता है वह मुक्ति का अधिकारी है क्योंकि उस सूत्र के धारण करने में किसी भी तरह (उस सूत्र की) अपवित्रता उच्छिष्टता (जूठा होना) का काम नहीं रहता ॥ ॥ १० ॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥ ११ ॥
ये तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥ १२ ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १३ ॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा ।

ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ।
व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥ १४ ॥
वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः ।
अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् ॥ १५ ॥

जिन ज्ञानमय यज्ञोपवीत धारियों के अन्दर यह सूत्र रहता है वही वस्तुतः संसार में सूत्र से सम्बन्धित ज्ञान रखने वाले तथा सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं ॥ ११ ॥ जो ज्ञानयुक्त शिखा वाले ज्ञान निष्ठ तथा ज्ञान (परमतत्व ज्ञान) रूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले है, उनका सर्वस्व ज्ञान ही है तथा ज्ञान ही उनके लिये परम पावन कहा गया है ॥ १२ ॥ जिसकी अन्य शिखा न होकर अग्नि की शिखा (लपट) के समान ज्ञानयुक्त शिखा है वही विद्वान् तथा शिखी (वस्तुतः चोटी वाला) कहा जाता है, दूसरे लम्बे २ बालों को धारण करने वाले भी शिखी नही कहे जाते ॥ १३ ॥ जो लोग वैदिक कर्म (यज्ञादि) तथा लौकिक कर्म (आहार-विहार) में लगे हुए हैं वह ब्राह्मण तो केवल ब्राह्मण के आभास मात्र (वस्तुतः ब्राह्मण न होकर उसकी छाया मात्र) रूप में पेटों को भरने वाले होते हुए जी रहे है वे हमेशा सभी जन्मों के अन्त में नरक में ही पहुँचते है (संसार के इस जन्म मृत्यु रूपी नरक की विविध पीडायें सहते हैं) ॥ १४ ॥ विद्वान् को चाहिये कि वह बायें कन्धे से दाहिनी कमर तक आन्तरिक यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न परमतत्वरूपी धागे से बने हुए ब्रह्म सूत्र को नाभि से ब्रह्मरन्ध्र तक यथा प्रमाण धारण करे ॥ १५ ॥

नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ॥ १६ ॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन ॥ १७ ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥ १८ ॥
बहिरन्तश्चोपवीतो विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ १९ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।
बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥ २० ॥
बहिःप्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनक इत्युपनिषत् ॥
हरिः ॐ तत्सत् ॥

इस प्रकार परमतत्व रूपी तन्तु से बने हुए विविध क्रियाओं के अङ्गभूत इस सूत्र को धारण करना चाहिये । जिसकी ज्ञानमयी शिखा (चोटी) तथा ज्ञानमय उपवीत (जनेऊ) होता है उसकी सभी वस्तुयें ब्रह्ममय है अन्यों की कोई भी वस्तु नही है ॥ १६ ॥ जो विद्वान् इस परमतत्व स्वरूप परम परायण (ब्रह्मपरायण) यज्ञोपवीत को धारण कर यज्ञोपवीती होता है वह ही वस्तुतः मुक्ति का अधिकारी है ॥ १७ ॥ जो कि बाहर तथा अन्दर दोनों ओर से यज्ञोपवीती हो वही ब्राह्मण संन्यास का अधिकारी है । केवल एक यज्ञोपवीत धारण करने वाला ही संन्यास का अधिकारी नही (अर्थात् जिसने सांसारिक वैदिक कर्मों को विधिवत् करके परमतत्व जिज्ञासा को प्रबल कर विरागमय हो गया हो वही संन्यास का अधिकारी है ॥ १८ ॥ अतः यतियों को चाहिये कि सभी प्रयत्नों से वह मोक्ष का चाहने वाला बने । तथा बाहर के सूत्र को छोड़कर अन्दर के सूत्र को धारण कर लेना चाहिये ॥ १९ ॥ इस बाहर के प्रपञ्चमय (जन्म मृत्यु बन्धक) शिखा तथा यज्ञोपवीत को छोड़कर ॐ कार ब्रह्मरूपी शिखा तथा यज्ञोपवीत का आश्रय लेकर मोक्ष का साधन करना चाहिये ऐसा भगवान् शौनक ने कहा है [कहते हैं]॥२०॥

॥ परब्रह्म उपनिषद् समाप्तम् ॥

कठरुद्रोपनिषत

ॐ सहनाववतु । सहनौभुनक्तु । सहवीर्य करवा वहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शांति पाठ—ब्रह्म हमारा दोनों (गुरु शिष्य) का साथ ही रक्षण करो, हमारा दोनों का पालन करो, हम दोनों साथ ही सामर्थ्य प्राप्त करें, हमारा दोनों का विद्याध्ययन तेजस्वी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांतिः, शातिः, शांतिः ।

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् । अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्याम् । स प्रजापतिरब्रवीत् ।। १ ।।

सशिखान् केशान्निष्कृष्य, विसृज्य, यज्ञोपवीतं निष्कृष्य, ततः पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं, यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं, स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता । अथ पुत्रो वदति । अहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति । तान्येतानि अनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत् । यदश्रुमापातये प्रजां विछिन्द्यात् । प्रदक्षिणमावृत्यैतच्चै तच्चानवेक्षमाणः प्रत्यायति । स स्वर्ग्यो भवति ।।२।।

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्यताननुरूपोपाधिभिर्वितत्य, इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयाद् द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात् । द्वादशरात्रस्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं अग्निम् । संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात् ।

मृन्मयान्यप्सु जुहुयात् । तैजसानि गुरवे दद्यात् । मा त्वं मामपहाय परागा नाहं त्वामपहाय परागामिति गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेषु, अरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके । सशिखान् केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात् । अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशनमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् । पयसायं प्रश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमो यत्प्रातः सोऽयं प्रातः, यद्दर्शे तद्दर्शं यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यं, यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः ॥ ३ ॥

एक समय की बात है सब देवता प्रजापति ब्रह्माजी के पास जा कर कहने लगे—'प्रभो ! हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये।' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'चोटी सहित बालों को मुडवा कर यज्ञोपवीत को त्याग दे और पुत्र को देख कर, उससे कहे कि तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार, ॐकार और ब्रह्मा हो। तुम स्वाहा, स्वधा, धाता, विधाता एवं प्रतिष्ठा हो। इस पर पुत्र कहे कि मैं यज्ञ, वषट्कार ॐकार और ब्रह्मा हूँ। मैं स्वाहा, स्वधा, धाता, विधाता और त्वष्टा हूँ तथा प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ। इसके पश्चात् जब परिव्राजक होकर गृह त्याग करे, तब पुत्र कलत्र आदि के पीछे-पीछे चलने पर उनको देख कर आँसू न गिरावे। क्योंकि अश्रु गिराने से संतति का नाश हो जाता हैं। इसके पश्चात् वे सब लोग संन्यासी की प्रदक्षिणा करते हैं और इधर-उधर कुछ न देख कर घर लौट जाते है। ऐसा संन्यासी देवलोक को प्राप्त होता है ॥ १—२ ॥

ब्रह्मचारी रह कर वेदाध्ययन कर युवावस्था की प्राप्ति पर विवाह करे और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उनको पढ़ा लिखाकर सुयोग्य बनावे और यथाशक्ति यज्ञादि कर्म करे। इतना करने के पश्चात् अपने घर के लोगों और गुरुजनों की सहमति प्राप्त कर संन्यास ग्रहण कर सकता है। संन्यासी होने पर बारह रात्रियों तक जङ्गल में दूध से

हवन करे और केवल दुग्धाहार पर रहे । बारह रात्रियाँ बीतने पर विष्णु और प्रजापति से सम्बन्धित चरु को वैश्वानर अग्नि और प्रजापति के निमित्त हवन करे। यह चरु मिट्टी की तीन ठीकरियों पर सिद्ध किया जाता है। इसके पश्चात् दारुपात्रों को भी अग्नि में होमे और मृतिका पात्रों को जल में विसर्जित करे। जो पदार्थ स्वर्णादिक निर्मित हों उन तैजस् पदार्थों को अपने गुरु को दे दे और कहे कि 'तुम मुझे त्याग कर दूर मत जाना, मैं भी तुम्हें त्याग कर दूर नहीं जाऊँगा।' कुछ शास्त्रों का मत है कि इस कर्म के अंत मे गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों से भस्म की मुट्ठी लेकर भक्षण करले। जब चोटी सहित बालों का मुंडन करावे तो जनेऊ उतार कर 'ॐ भूः स्वाहा' कहता हुआ उसे जल में विसर्जित करे। इसके पश्चात् योग की जिन क्रियाओं को करना चाहे करे। उनमें अनशन, जल में प्रवेश, अग्नि में प्रवेश अथवा वीरों के समान महाप्रस्थान आदि के द्वारा जीवनान्त किया जा सकता है अथवा किसी वृद्ध संन्यासी के आश्रम में जाकर रहे। संन्यासी दूध या जल के साथ जो कुछ खाता है वही उसका हवन है। अमावस्या को किया गया भोजन 'दर्शयज्ञ' कहा गया है। पूर्णिमा का भोजन 'पौर्णमास्य यज्ञ' है । बसंत ऋतु में केश, दाढ़ी, मूँछ आदि कटवाना ही उसका अग्निष्टोम है ॥ ३ ॥

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्। यन्मृत्युर्जायमावहं इत्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वा आत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेदनिकेतश्चरत् । भिक्षाशी यत्किंचिन्न दद्यात् । लवैकं नाधावयेत् जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जम् इति। तदपि श्लोका भवन्ति ॥ ४ ॥

कुण्डिका चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ५ ॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च।

यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६ ॥
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।
नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत् ॥ ७ ॥
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८ ॥
ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी ।
दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥ ९ ॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १० ॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।
यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११ ॥

संन्यास ग्रहण करने पर पुनः अग्नि का आधान नही किया जाता। केवल आध्यात्मिक मन्त्रों के पाठ का विधान है। 'सब प्राणियों का कल्याण हो' ऐसी भावना करता हुआ, हाथो को ऊपर उठाकर प्रपंच रहित मार्ग में विचरण करे। घर का सर्वथा त्याग करे और भिक्षाटन से जो कुछ मिले उसी में संतोष करे। एक स्थान पर थोड़ी देर भी न रहे, परन्तु वर्षा पड़ रही हो तो कहीं भी ठहर सकता है ॥ ४ ॥

अन्य श्लोको में कहा है कि कुण्डिका, चमस, शिक्य, तिपाई, जूते, कथरी, कौपीन के ऊपर वाले वस्त्र, स्नान के पश्चात् पहना जाने वाला वस्त्र, कुश का आसन, यज्ञोपवीत और वेदादि का अध्ययन यह सब संन्यासी को छोड़ देने चाहिए। उसका स्नानादि कर्म पवित्र जल से होना चाहिए। वह किसी देव-मन्दिर में अथवा नदी के किनारे जाकर शयन करे। अधिक आराम करना उचित नहीं है। अभ्यास करने से भी कोई लाभ नही है। अपनी प्रशंसा से प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर क्रोध न करे अर्थात् निन्दास्तुति को समान

समझे । किसी को गाली न दे और आलस्य को छोड़कर ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे । ज्ञानीजनों ने स्त्रियों का देखना, स्पर्श करना, उनके संबंध में चर्चा करना, गुह्य विषय का चिन्तन, क्रीडा, कामात्मक संकल्प, समागम का प्रयत्न और समागम-कर्म यह आठ प्रकार के मैथुन कहे हैं। मोक्ष की कामना वाले सन्यासियों को मैथुनादि का त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।। ५-११ ।।

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ।
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ।। १२ ।।
न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ।
ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ।। १३ ।।
तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ।
ससारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ।। १४ ।।
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते ।
सोऽश्नुते सकलान् कामानक्रमेण द्विजोत्तमः ।। १५ ।।
प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम् ।
एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।। १६ ।।

जो आत्मा नित्य प्रकाश स्वरूप एवं स्वयं ही प्रकाशित है, वही विश्व का प्रकाशित करने वाला है । वही स्वच्छ स्वरूप वाला संसार का साक्षी और सर्वात्मा है। सब प्राणी उसी में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि वही प्रज्ञाघन प्रकाश स्वरूप है । मनुष्य अपने किसी कर्म से अथवा किसी भी साधन से ब्रह्म को नहीं पा सकता । संतान आदि के द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति नही हो सकती । ब्रह्म अद्वितीय है, सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। यह संसार अज्ञान, माया और गुहा रूप है, इसमें वही ब्रह्म व्याप्त है। वह अपने परम व्योम नामक नित्यधाम में विराजमान है, वह विद्या के द्वारा ही जाना जा सकता है। जो उसे जानता है उसकी सभी कामनाऐं पूर्ण होती हैं। 'मैं एक ब्रह्म रूप हूँ'

इस प्रकार स्वयं में और ब्रह्म में भेद न मानता हुआ जो अज्ञान और माया के साक्षी आत्मा को जानता है, वह ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ॥ १२—१६ ॥

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् ।
अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥ १७ ॥
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः ।
वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा ॥ १८ ॥
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा ।
तेभ्य एव विसृष्टं तत् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥ १९ ॥
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः ।
मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥ २० ॥
अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽय शरीरं भाति देहिनाम् ।
योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ॥ २१ ॥
ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।
ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥ २२ ॥
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ।
आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥ २३ ॥
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।
मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥ २४ ॥
ततो मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु ।
आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखी ॥ २५ ॥
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा ।
सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ २६ ॥
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ॥ २७ ॥
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः ।
असत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ॥ २८ ॥

को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते ।
तस्मात् सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥ २६ ॥
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥ ३० ॥

रस्सी में सर्प का भ्रम होने के समान ब्रह्म रूप आत्मा से इस शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति हुई । फिर वायु रूप अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्रा की आकाश से उत्पत्ति हुई । वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ । अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई । कल्याण स्वरूप परमात्मा ने सूक्ष्म भूतों को पञ्चीकृत किया और उनके द्वारा ब्रह्माण्ड आदि की रचना की । उस ब्रह्माण्ड में पूर्व कर्मों के अनुसार देवता, दैत्य, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि विभिन्न योनियाँ उत्पन्न हुईं और मांस, मज्जा, अस्थि आदि द्वारा बने हुए देह भी कर्मानुसार ही रचे गए । सभी देह धारियो के यह अन्नमय स्थूल शरीर दिखाई दे रहे है, उनसे पृथक् एक प्राणमय आत्मा है । वह आत्मा इस अन्न-मय आत्मा में अवस्थित है । विज्ञानात्मक आत्मा के भी भीतर एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा और है । जैसे प्राणमय आत्मा से अन्नमय आत्मा परिपूर्ण हुआ है, वैसे ही आनन्दमय आत्मा से प्राणमय आत्मा पूर्ण होता है । मनोमय आत्मा विज्ञानमय आत्मा के बिना पूर्ण नहीं है और विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय आत्मा के बिना अधूरा ही रहता है । उस आनन्दमय आत्मा से भी भिन्न एक और आत्मा है, वह सर्वव्यापी, सब के अन्तर में वास करने वाला परिपूर्ण ब्रह्म है, वही आनन्दमय आत्मा को पूर्ण करता है । परन्तु उस ब्रह्म को पूर्ण करने वाला कोई अन्य नहीं है, ब्रह्म स्वयं ही अपने को पूर्ण किये हुए है । यह ब्रह्म ही सत्य एवं ज्ञान रूप है और सब का आश्रय है । वही सब का सार रूप और रसमय है । यह देहधारी उसी सनातन तत्व को प्राप्त कर सर्व सुखी हो सकता है । इससे अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं है ।

यह सभी प्राणियों का आत्मा है, इस परानंद ब्रह्म के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। जो सब के चित्त में अन्तर्यामी रूप से निवास करता है, वह परम पुरुष ही दुःखग्रस्त प्राणियों को आनन्द देने वाला है ॥ १७—३० ॥

निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः।
तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥ ३१ ॥
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम्।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥ ३२ ॥
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः।
अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥ ३३ ॥
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु।
तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥ ३४ ॥
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा।
निमित्तं किञ्चिदाश्रित्य खलुशब्दः प्रवर्तते ॥ ३५ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः।
निर्विशेषपरानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते ॥ ३६ ॥
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम्।
यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥ ३७ ॥
व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु।
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ॥ ३८ ॥
विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन।
एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥ ३९ ॥
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः।
तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥ ४० ॥

जो ज्ञानी पुरुष इस अदृश्य परतत्व से भेद-रहित परम अद्वैत ब्रह्म को पा लेता है, वही महान् योगी है। देश, काल एवं पदार्थ से

अपरिच्छिन्न, सत् स्वरूप परब्रह्म ही अभय पर, परम अमृत रूप तथा कल्याण रूप है। जब तक मनुष्य अपने को उससे किंचित् भी दूर समझता है, तब तक वह निर्भयता को प्राप्त नहीं हो सकता। छोटे से छोटे तिनके से लेकर भगवान् विष्णु तक सभी इस आनन्द रूप कोष से नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं। इहलोक और परलोक के भोगों से भी जो विरक्त हो चुका है, वह प्रसन्न मन वाला श्रोत्रिय इस स्वरूपभूत आनन्द का स्वय ही अनुभव करता है। शब्द किसी निमित्त को ले कर ही प्रवृत्त होता है, परंतु परतत्व में निमित्त का अभाव है, इस लिए वाणी वहाँ जाकर भी प्रत्यावर्तित हो जाती है। जो परमानन्द स्वरूप तत्व, सभी विषयों से शून्य है वहाँ शब्द का विषय ही कैसे ठहरे? अतः यह मन सूक्ष्म और सीमित शक्ति वाला होकर सर्वत्र विचरण करता है। कान, नेत्र, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श तथा वाणी और हाथ आदि यह सभी सीमित शक्ति वाले है। इसीलिए यह परतत्व की प्राप्ति में असमर्थ है। जो साधक उस द्वन्द्वातीत, गुण-रहित, सत्य स्वरूप ब्रह्म को ही अपना ही स्वरूप मानता है, वह सर्वत्र भय-रहित रहता है। तथा जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ, गुरु के वचनों के अनुसार चल कर आत्म साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म स्वरूप परमानन्द को जान लेता है, वह साधु हो या न हो, केवल अपने कर्मों के द्वारा ही कभी संताप को प्राप्त नहीं होता। विषय को तापक और चित्त को ताप्य माना गया है। चित्त और उसके विषयों द्वारा ही यह संपूर्ण विश्व परिलक्षित हो रहा है ॥ ३१—४० ॥

प्रत्यगात्मतगा भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्।
शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥ ४१ ॥

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा।
इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥ ४२ ॥
मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते।

मायासम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ४३ ॥
अन्तःकरणसम्बन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते ।
तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४ ॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ।
तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥ ४५ ॥
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।
स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ४७ ॥
इत्युपनिषत् ॥

वेदान्त शास्त्रों में कहा गया है कि यह प्रत्यक् आत्मा के रूप में है। सात प्रकार के जो तत्व कहे गए हैं, वे प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, फल, ब्रह्म, ईश्वर और जीव हैं; इनमें व्यवहार की दृष्टि से भेद माना गया है। ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है वह माया द्वारा निर्मित उपाधियों से सर्वथा मुक्त है। मायात्मक होने से वह ईश्वर है तथा अविद्या के वशीभूत होने से वही जीव हो जाता है। अन्तःकरण से सम्बन्धित होने के कारण वह ज्ञाता है। उसी अन्तःकरण के कारण वह प्रमाता कहा जाता है। अंतवृत्ति से वह प्रमाण कहा जाता है। जब तक अज्ञात है तब तक प्रमेय है और वही जब ज्ञात हो जाता है तब फल संज्ञक होता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष अपने को सब उपाधियों से मुक्त माने। इस प्रकार इस ज्ञान के जानने वाला ब्रह्मत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सब सिद्धान्तों का सार रूप में वर्णन किया है। अपने कर्मों से ही प्राणी उत्पन्न होता तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं है। यही उपनिषद् है ॥ ४१—४७ ॥

॥ कठरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

कुण्डिकोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्ति पाठ—मेरे अंग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों सब उपनिषद ब्रह्म है। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुये मुझ को उपनिषद में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः।
वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥
दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः।
ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥
संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च।
संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥
वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः।
स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥ ४ ॥
सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते।
सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

हरि ॐ। वेदों का अध्ययन करके ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त हो जाने पर गुरु की सेवा में रत जिस व्यक्ति को गुरु जाने की आज्ञा दे

देते हैं वह आश्रमी कहलाता है ॥ १ ॥ अपने अनुकूल स्त्री को ग्रहण कर के और यथाशक्ति अग्नि को धारण करके ब्राह्म-यज्ञ मे संलग्न रहे और सदैव उसका पूजन करता रहे ॥ २ ॥ फिर पुत्रों में धन को बाँट कर और ग्राम सम्बन्धी कार्य उनको सौंप कर वन को गमन करे और पवित्र देश मे भ्रमण करे ॥ ३ ॥ वायु का भक्षण करके, या पानी या विहित कन्दमूल द्वारा अपने शरीर की रक्षा करता रहे और किसी कष्ट से पृथ्वी पर आँसू न गिरावे ॥ ४ ॥ पर इतना करने से भी पुरुष सन्यासी नही कहा जा सकता। यह तो सामान्य नियम का पालन है, संन्यास इससे कहीं अधिक है ॥ ५ ॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।
अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥ ६ ॥
लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।
संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७ ॥
किं वा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान् ।
गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ।
गुहां प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयम् ॥ ८ ॥ इति ॥
संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनम् । यन्मृत्युर्जायमावहम् इति ।
अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् ।

दीक्षामुपेयात् । काषायवासाः । कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् । ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति । अनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी निदिध्यासनं दध्यात् । पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् ।

तदपि श्लोका भवन्ति ।
कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ९ ॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च ।
अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ १० ॥

इसके लिये फल की इच्छा रहित संन्यास में युक्त होकर, वर्ण और अग्नि को त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया जाता है ।।६।। सामान्य लोगों की भांति स्त्री और संसार के सुख को त्यागकर वनमें जा कर अनुष्ठान करने से क्या लाभ है ? ।। ७ ।। अथवा गर्भवास के भय से शीत, उष्ण, सुख-दुःख से डरता हुआ भोगों को क्यों छोड़ता है ? ।। ८ ।। ऐसा करने का कारण यही है कि वह गुह्य परमपद में प्रवेश करने की इच्छा रखता है । वह मृत्युञ्जय परमब्रह्म का स्मरण करता है, अध्यात्म मंत्रों का जप करता है और काषाय वस्त्र धारण कर के दीक्षा ले लेता है । काँख और उपस्थ स्थान के बालों के अतिरिक्त सब बालों का क्षौर करा लेता है । ऊर्ध्व बाहु करके स्वेच्छापूर्वक विचरण करता है । घर रहित होकर भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है । निदिध्यासन करता रहे । जन्तुओं से रक्षा के लिये पवित्रा धारण करे । कमण्डलु, चमरु, छीका, त्रिविष्टिप, पदत्राण, शीत से बचने के लिये गुदड़ी, कौपीन, स्नान करने के लिये धोती और अंगोछा—इन वस्तुओं के सिवा जो कुछ भी हो उस सब को संन्यासी त्याग दे ।। ९—१० ।।

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः ।
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ।। ११ ।।
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ।। १२ ।।
भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।
एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ।। १३ ।।
विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत् सुधीः ।
आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।
एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरं प्रपद्ये ।
मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ।। १४ ।।

न मे देहेन संवन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥ १५ ॥

चाहे तो नदी के किनारे शयन करे या देवालय के बाहर रहे । बिना प्रयोजन के शरीर को सुख-दुख से कष्ट न दे ॥ ११ ॥ स्नान, पीने और शौचादि के लिये पवित्र जल ग्रहण करे । न तो स्तुति से प्रसन्न हो न निन्दा किये जाने पर बुरा-भला कहे ॥ १२ ॥ भिक्षा का पात्र (खप्पर) और स्नान आदि का जल जैसे प्राप्त होता हो ग्रहण करे। इस प्रकार की उत्तम वृत्ति अङ्गीकार करके यती सदैव जप करे ॥ १३ ॥ ज्ञानी संन्यासी समस्त विश्व के हित की मन से भावना करे। आकाश से वायु, वायु से ज्योति, ज्योति से जल और जल से पृथ्वी, इन सब भूतों में जो ब्रह्म व्याप्त है, उसे मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख समुद्र रूप हूँ, मेरे बीच में बहुत सी लहरें माया रूपी वायु के द्वारा उत्पन्न और विलीन होती हैं ॥ १४ ॥ मेरा इस देह से इसी प्रकार कोई सम्वन्ध नहीं है जैसे आकाश का मेघ से । इस लिये इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से मेरा क्या सम्बन्ध है ? ॥ १५ ॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्
॥ १७ ॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वरः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः
॥ १७ ॥

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य ।
वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।
संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रविनिर्गताम् ॥ १८ ॥

माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।
श्रवणे नासिके गन्धायतत्वं न च संश्रयेत् ।। १६ ।।
अथ शैवं पदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।
तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मना ।। २० ।।

मैं आकाश के समान कल्पना से परे हूँ, सूर्य की तरह अन्य चमकीले पदार्थों से भिन्न हूँ, पर्वत के समान सदैव अडिग हूँ और समुद्र के समान पार से रहित हूँ अर्थात् अपार हूँ ।। १६ ।। मैं नारायण हूँ, नरकान्तक, पुरकान्तक, पुरुष और ईश हूँ, मैं अखंड बोध, सब का साक्षी, ईश्वर रहित और ममता से रहित हूँ ।। १७ ।। अब प्राण और अपान के विषय में कहते हैं । वृषण और गुदा के मध्य में दोनों हाथों को रखे । दाँतों से जीव को धीरे से दबा कर एक जौ के बराबर बाहर निकाले ।। १८ ।। दृष्टि को श्रोत्र और भूमि पर स्थापित करे, जिससे शब्द और नासिका में गन्ध न पहुंचे ।। १६ ।। जो ब्रह्म का ध्यान करता है वही ब्रह्म है और वही शिव हैं, उसको पूर्व जन्म के पुण्य से अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है ।। २० ।।

संभूतैर्वायुसंश्राव्य हृदयं तप उच्यते ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम् ।। २१ ।।
स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।
भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः ।। २२ ।।
न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहीधर्माः प्रदीपवत् ।। २३ ।।
जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ।।२४।।
निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः।।२५
सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।

केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ।। २६ ।।
स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ।। २७ ।।
गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ।। २८ ।।
इत्युपनिषत् ।।

वायु के नाद का उत्पन्न होना हृदय का तप कहा जाता है; वह देह को भेद कर ऊपर की तरफ जाता है और मूर्धा को प्राप्त होता है ।। २१ ।। अपनी देह में मूर्धा को प्राप्त करना परमगति कही गई है। जो उसे प्राप्त कर लेते हैं वे ब्रह्मज्ञानी आवागमन से छूट जाते हैं ।। २२ ।। विचारशून्य और उदासीन भाव युक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नही कर सकता जैसे गृह धर्म दीपक पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते ।। २३ ।। यह जड़ शरीर चाहे जल में पड़े अथवा स्थल में पड़ा रहे, मैं जो चैतन्य स्वरूप हूँ वह उसके कारण लिप्त नहीं हो सकता, जैसे घड़ा के कारण घटाकाश में कोई विकृति नही आती ।। २४ ।। मैं तो क्रिया रहित, अविकारी, निष्कल, आकृति रहित, निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब, द्वैत रहित, सर्वात्मा, सर्व, सर्वातीत, अद्वय हूँ। मैं केवल अखण्ड बोध रूप हूँ और निरन्तर स्वयं आनन्द रूप हूँ ।। २५—२६ ।। अपने को ही सर्वदा देखता हूँ, स्वयं को अद्वय मानता हुआ, अपने ही आनन्द को भोगता हुआ मैं निर्विकल्प स्परूप हूँ ।। २७ ।। चलता हुआ, ठहरा हुआ, बैठा हुआ, शयन करता हुआ अथवा अन्य किसी प्रकार से रहता हुआ यह मुनि रूपी आत्मा यथा इच्छावास करे ।। २८ ।। ऐसा यह उपनिषद है ।

।। कुण्डिकोपनिषद् समाप्त ।।

आरुण्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिपाठः—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों; सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मरत रहते हुये मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

आरुणिः प्राजापत्यः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिः। तव पुत्रान्भ्रातॄन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूलोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतलवितलसुतलपातालरसातलतलातलमहातलब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत् शेषं विसृजेत्। इति ॥ १ ॥

एक समय की बात है—प्रजापति की उपासना करने वाले अरुण के पुत्र आरुणि भगवान् ब्रह्माजी के ब्रह्मलोक में जाकर उनसे निवेदन करने लगे—'भगवन्! मैं किस प्रकार सभी कर्मों को छोड़ सकता हूँ, कृपा कर मुझे इसका उपदेश करिये।' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—'सर्व प्रथम अपने पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि का त्याग करे। फिर शिखा-सूत्र, यज्ञ और स्वाध्याय आदि को भी छोड़ दे। इसके पश्चात्

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, तल-अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पाताल आदि लोकों वाले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का त्याग करे अर्थात् इनमें से किसी की कामना न करे। दण्ड, कोपीन एवं तन ढकने के लिए आवश्यक हो तो कोई वस्त्र इतना ही पास रखे और सब वस्तुओं को छोड़ दे॥ १॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। कुटीचको ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेत् इति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत्। संधि समाधावात्मन्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यमावर्तयेदुपनिपदमावर्तयेदुपनिपदमावर्तयेत्। खल्वहं ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेवं विद्यात्। त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद॥ २॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ इनमें से कोई भी हो, अपने यज्ञोपवीत को पृथिवी पर अथवा जल मे विसर्जित करे। लौकिक अग्नियों को जठराग्नि में लय करे और अपनी वाणी रूप अग्नि में गायत्री को समाविष्ट करे। कुटी मे निवास करने वाला ब्रह्मचारी अपने कुटुम्ब के त्याग पूर्वक पात्र को भी छोड़ दे। पवित्री को छोड़े और दण्डों तथा लोकों को भी छोड़ दे। फिर मन्त्रहीन के समान रहता हुआ उच्चलोकों को प्राप्त करने की कामना का भी त्याग करदे। अन्न को औषधि के समान ग्रहण करे। तीन समय स्नान करे और सन्ध्या काल में समाधिस्थ हो जाय। सभी वेदों, उपनिपदों आदि का स्वाध्याय करे॥ २॥

संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्व प्रवर्त्तते। सखा मा गोपायोजः सखा

योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत् । औषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात् । ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षतो इति ॥ ३ ॥

फिर 'मैं निश्चय ही ब्रह्मसूत्र हूँ ऐसा मान कर यज्ञोपवीत को छोड़ दे । इस प्रकार करता हुआ मैंने संन्यास ले लिया, मैंने सब कुछ त्याग दिया, मैंने संन्यास ले लिया इस प्रकार कहे ।

'अभयं सर्वभूते०' से अभिमंत्रित बाँस का दण्ड ले और कौपीन धारण करे । जैसे औषधि अल्प मात्रा में ली जाती है, वैसे अल्पाहार करे । जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी को खाकर संतोष करे । हे आरुणि ! संन्यासी होने पर ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का पालन करो । उनकी प्रयत्न पूर्वक सदा रक्षा करो ॥ ३ ॥

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनाभ्यां भूमौ ब्रह्मचारिणाम् । मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा । कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहंकारादीनपि त्यजेत् । वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् । स खलु एवं यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत् । पितरं पुत्रमग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह ॥ ४ ॥

फिर परमहंस परिव्राजक होने पर पृथिवी पर आसन डाले और भूमि पर ही सोवे । ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे और मृत्तिका पात्र, तूँबा अथवा काष्ठ का कमण्डलु रखे । काम, क्रोध, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, परनिन्दा, इच्छा, ममता, अहङ्कार, हर्ष आदि का पूर्ण त्याग करे । वर्षा ऋतु में एक स्थान पर ही निवास करे— विच-

रण न करे। वर्ष में आठ महीने भ्रमण ही करे। एकाकी रहे अथवा एक और साथी बनाले ॥ ४ ॥

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा। ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। विद्वान्य एवं वेद। पालाशं बैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ इति ॥ ५ ॥

एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम्।

इत्युपनिषत् ॥

इस प्रकार जो जानता है वही उपनयन संस्कार के पश्चात् अथवा पूर्व ही अपने माता, पिता, पुत्र, पत्नी, उपवीत, अग्नि तथा सब कर्मों को भी छोड़ दे। हाथों को पात्र बना कर भिक्षावृत्ति के लिए बस्ती में जाय और 'ॐ हि' का तीन बार उच्चारण करे। जो इस उपनिषद् को जानता हुआ उसमें आस्था रखता है, वही पुरुष ज्ञानी कहा जाता है। पलाश, बिल्व, पीपल, गूलर आदि के दण्ड और मूँज की मेखला और साथ ही उपवीत को भी त्याग देता है और इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही श्रेष्ठ है। भगवान् विष्णु का जो परमधाम आकाश में प्रकाशित सूर्य के समान चिन्मय प्रकाश से परमव्योम में व्याप्त है, ज्ञानी उपासक उसके सदा दर्शन करते हैं। जो कामना-रहित उपासक साधना में सदा लगे रह कर वहाँ पहुँच जाते हैं, वे उस धाम को और भी तेजोमय बना देते हैं। विष्णु का वह परमधाम कामना-शून्य उपासकों को ही मिलता है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष उक्त फल को प्राप्त होता है। यही महान् उपनिषद् है ॥५॥

॥ आरुणिकोपनिषद् समाप्त ॥

संन्यासोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो वलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों सब उपनिषद् ब्रह्म रूप है। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुये मुझको उपनिषद धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामः। योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते। कथं संन्यस्तो भवति। य आत्मानं क्रियाभिः गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान् वन्धूननुमोदयित्वा। ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्। सर्वस्वं दद्यात् यजमानस्य। गा ऋत्विजः। सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समाषयेत्। सशिखान्केशान् विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत्। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत्। चतुर्षु वर्णेषु भैक्षाचर्यं चरेत।

पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते । कृशीभूत्वा ग्रामैकरात्रम्, नगरे पञ्चरात्रम्, चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वापि नगरे वापि वसेत् पक्षा वै मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत् । विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्णीयात् नान्यत्प्रतिगृह्णीयात् । यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति । तं होवाच । इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम्, विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण । जलतीरे निकेतनम् । अस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति ।

यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा । तदप्येतदृषिणोक्तम् । सकृद्दिवा हैवास्मै भवति । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते ॥ १ ॥

हरि ॐ । अब संन्यास उपनिषद को कहते है । क्रमशः संसार त्याग करने वाला संन्यासी होता है । संन्यास किसको कहते है ? संन्यास कैसा होता है ? जो आत्मा के लिये क्रियाओं को त्याग देता है माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता आदि के अनुमोदनपूर्वक, अपने ऋत्विजों (यज्ञ कराने वालों) को सदैव की भांति प्रणाम करके वैश्वानर यज्ञ को करे । इस अवसर पर यजमान अपना सर्वस्वदान करदे और ऋत्विज सब सामिग्री को पात्रों सहित हवन करदे । आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तीन अग्नियों को सभ्य और आवसस्थ्य को, तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पाँचों वायुओं को आरोपित करें । शिखा सहित सब केशों को मुँडा दे, यज्ञोपवीत को तोड़ दे और पुत्र को देखकर इस प्रकार कहे कि तू यज्ञ स्वरूप है; सर्व स्वरूप है । अगर पुत्र न हो तो अपनी आत्मा को ही इस प्रकार का

उपदेश दे और पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ चला जाय। चार वर्णों से भिक्षा ग्रहण करे। हाथ रूपी पात्र में भिक्षा लेकर भोजन करे। भोजन को औषधि के समान करे, अर्थात् केवल प्राण रक्षा की दृष्टि से आहार ले और जो कुछ मिले वही ग्रहण करे, जिस से चर्बी की बुद्धि न हो। इस प्रकार दुबला होकर गाँव में एक रात्रि तथा नगर में, पांच रात्रि तक निवास करे। चातुर्मास (वर्षाकाल) में एक ही ग्राम अथवा नगर में ठहर जाय। अथवा पक्ष (पखवारा) को ही मास समझ कर दो महीने तक रहे। फटे वस्त्र या वल्कलवस्त्र काम में लावे, अन्य वस्त्र ग्रहण न करे। इस प्रकार क्लेश सहन करना ही तप है। जो इस प्रकार क्रम से संन्यास करता है उसके लिये यज्ञोपवीत क्या है ? शिखा क्या है ? आचमन कैसा है। इसका उत्तर यह है कि आत्म ध्यान ही उसका यज्ञोपवीत है, विद्या उसकी शिखा है, सर्वत्र स्थित जल के लिये उदर ही उसका पात्र है और जलाशय का किनारा उसका निवास स्थान है। इस प्रकार का ब्रह्मवादी होता है। उसके लिये सूर्यास्त होने पर आचमन कैसा है ? इसका उत्तर यह है कि उसके लिये रात तथा दिन समान है, न रात होती है न दिन होता है। जो इस प्रकार आत्मानुसन्धान में संलग्न रहता है विद्वानों के मतानुसार उसके लिये सदैव दिन ही है ॥ १ ॥

॥ इति प्रथम अध्याय ॥

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥ १ ॥

संन्यासो निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः।
स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥ २ ॥
संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः।
संन्यासविघ्नकर्ता च त्रीनेतान्पतितान्विदुः ॥ ३ ॥

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः। संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः।
क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ ५ ॥
संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा।
व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ ६ ॥
व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम्।
सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् ॥
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ७ ॥

ओं भूः स्वाहेति शिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्। यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा ओं स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत् ॥ ८ ॥

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ९ ॥
षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥ १० ॥
ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः।
प्रैषाग्निर्निर्दहेत्सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम् ॥ ११ ॥
सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥ १२ ॥
दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम्।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ १३ ॥
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम्।
नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः ॥ १४ ॥

चालीस प्रकार के सस्कारों से युक्त, सब से पूर्ण विरक्त, चित्त को शुद्ध रखने वाला, आशा, असूया, ईर्षा, अहङ्कार को भस्म करके चारों साधनों से सम्पन्न ही सन्यासी होता है ॥ १ ॥ जो संन्यास का निश्चय करके फिर उसे ग्रहण न करे तो वह कृच्छ्र व्रत करने पर ही फिर से संन्यास ले सकता है ॥ २ ॥ जो संन्यास से पतित हो जाय, जो पतित को संन्यास की दीक्षा दे अथवा जो संन्यास-ग्रहण में विघ्न डाले ये तीनों पतित है ॥ ३ ॥ नपुंसक, पतित, अङ्ग-हीन, स्त्रैण (जनाने स्वभाव वाला), बधिर, बालक, मूक, पाखंडी, लिङ्गी, कुष्ठी वैखानस, ब्राह्मणत्व से पतित, वेतन भोगी अध्यापक, अग्निहोत्र से रहित, नास्तिक और वैरागी संन्यास के योग्य नहीं होते। अगर वे संन्यासी हो भी जायें तो उपदेश देने के अधिकारी नहीं होते ॥ ४ ॥ संन्यास लेकर पतित होने वाला, खराब नाखून वाला, मैले दाँत वाला, पागल, विकलांग (लूला लंगड़ा) को संन्यास नहीं देना चाहिये ॥ ५ ॥ जिसको आकस्मिक वैराग्य हो गया हो, महा-पातकी, व्रात्य (संस्कार हीन), लोक मे निन्दित व्यक्तियों को संन्यास नही देना चाहिये ॥ ६ ॥ जो व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम, स्वाध्याय से रहित हैं, सत्य और पवित्रता से हीन हैं; उनको संन्यास न देवे। ऐसे लोग चाहें तो आतुर संन्यासी हो सकते हैं, पर उनको क्रम-संन्यास (नियमानुकूल) का अधिकार नही है ॥ ७ ॥ 'ॐ भूः स्वाहा' कह कर शिखा को दूर कर दे, पर यज्ञोपवीत को रहने दे। 'यज्ञ, बल, ज्ञान, वैराग्य मेधा को दें' ऐसा कह कर यज्ञो-पवीत को छिन्न करदे। 'ॐ भूः स्वाहा' कह कर वस्त्र और कटि-सूत्र का जल में त्याग करके 'संन्यस्तंमया' इस मंत्र का तीन बार उच्चारण करे ॥ ८ ॥ संन्यासी और द्विज को देख कर भास्कर अपने स्थान से चलायमान होता है कि "यह मेरे मण्डल को भेद कर परब्रह्म में जा रहा है ॥" ९ ॥ जो ज्ञानी 'संन्यस्त' का उच्चारण करता है

(संन्यासी होता है) वह अपने पीछे की और आगामी आठ-आठ पीढ़िओ को तार देता है ॥ १० ॥ जो पैतृक दोष है और जो अपने शरीर के दोष हों उन सब को यह इस प्रकार जला देता है जैसे तुषाग्नि सुवर्ण के मैल को भस्म कर देती है ॥ ११ ॥ 'सखा मेरी रक्षा कर' ऐसा कह कर दण्ड को ग्रहण करे ॥ १२ ॥ दण्ड बांस का उत्तम, सीधा विना गांठ आदि का हो। वह उत्तम स्थान में उत्पन्न हुआ हो, किसी तरह का दाग धब्बा न हो, गला हुआ न हो, कीड़ों का खाया हुआ न हो, पर्व ग्रन्थि युक्त न हो। वह लम्बाई मे 'नाक, शिखा या भ्रकुटी तक का हो ॥ १४ ॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १५ ॥

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथा-सुखं विहरेत् ॥ १६ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ १७ ॥

वैरान्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्म-संन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ १८ ॥

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्म-वशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ १९ ॥

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देह-वासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वां हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ २० ॥

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-नुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञान-वैराग्यसंन्यासी ॥ २१ ॥

ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥२२॥

संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंस-तुरीयातीतावधूताश्चेति ॥ २३ ॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीन-शाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादि-मन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ २४ ॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वं समो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥ २५ ॥

दण्ड और आत्मा का संयोग सर्वथा उचित है, इसलिये संन्यासी बिना दण्ड के तीन बार वाण फेंकने की दूरी से वाहर न जाय ॥ १५ ॥ "हे माता ! जगत जीवन के आधार मेरे जीवन की रक्षा कर" ऐसा कह कर कमण्डलु को लेकर योग-पट्ट से विभूषित होकर सुख पूर्वक भ्रमण करे ॥ १६ ॥ तब धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य दोनों को त्याग दे । फिर जिसके द्वारा ऐसा या सच-झूँठ का त्याग किया जाता है उसे भी त्याग दे ॥ १७ ॥ संन्यासी चार प्रकार के कहे गये हैं—वैराग्य-संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी और कर्म-संन्यासी ॥ १८ ॥ देखे और सुने हुये विषयों के प्रति तृष्णा रहित पूर्व जन्म के पुण्यों के फल-स्वरूप वैराग्य होने से जिसने संन्यास लिया है वह वैराग्य-संन्यासी है । शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके और दुनियाँ की भली और बुरी बातों का अनुभव और श्रवण करके, प्रपंच से उपराम होकर, देह वासना, शास्त्र-वासना, लोक वासना को त्याग कर, सब प्रकार की सांसारिक प्रवृत्ति को वमन किये अन्न के समान मान कर, चारों साधनों से युक्त होकर जो संन्यास ग्रहण करता है, वह ज्ञान-संन्यासी है ॥ २० ॥ क्रम से सब का अभ्यास करके, सब का अनुभव प्राप्त करके, ज्ञान और वैराग्य के

तत्व को भली प्रकार समझ कर, देह मात्र अवशिष्ट रख कर जो संन्यास लेता है वह ज्ञान-वैराग्य संन्यासी है ॥ २१ ॥ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों आश्रमों का पालन करके वैराग्य न होने पर भी जो नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्म-संन्यासी है । यह संन्यास छः प्रकार का होता है—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत ॥ २३ ॥ कुटीचक शिखा और यज्ञोपवीत को धारण किये रहता है, दण्ड, कमण्डल, कौपीन, चादर, कंथा धारण करने वाला, पिता, माता, गुरु की आराधना करने वाला; बटलोई, कुदाली और छींका मात्र रखने वाला, एक ही स्थान पर अन्न ग्रहण करने वाला श्वेत ऊर्ध्व त्रिपुण्ड धारण करने वाला और तीन दण्ड धारण करने वाला होता है ॥ २४ ॥ बहूदक शिखा आदि कंथा धारण करने वाला, सब प्रकार से कुटीचक के समान मधुकरी वृत्ति वाला होता है, वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करता है ॥ २५ ॥

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ २६ ॥

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ २७ ॥

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८ ॥

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ २९ ॥

जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः ।
कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥ ३० ॥

हंस जटाधारी, त्रिपुण्ड ऊर्ध्व पुण्डधारी, अनियत स्थान पर मांग

कर खाने वाला और कौपीन मात्र धारण करने वाला होता है ॥२६॥ परमहंस शिखा, यज्ञोपवीत रहित, पाँच घरों से हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने वाला, एक कौपीन रखने वाला और एक चादर तथा एक दण्ड रखने वाला होता है अथवा भस्म लगा कर एक चादर मात्र धारण करता है और सब कुछ त्याग देता है ॥ २७ ॥ तुरीयातीत सर्वत्यागी, गोमुखवृत्ति वाला, तीन घरों से फल अथवा अन्न की भिक्षा ग्रहण करने वाला, देह मात्र रखने वाला, नग्न होता है, वह अपने शरीर को मृतकवत् समझ कर जीवन-यापन करता है ॥ २८ ॥ अवधूत किसी प्रकार का नियम नहीं रखता, पतित और निन्दित के सिवाय सब वर्णों में अजगरवृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला होता है । वह अपने स्वरूप के अनुसन्धान में ही संलग्न रहता है कि ये जो वृक्ष, घास-पात, पर्वत आदि समस्त जगत है, वह मेरे से भिन्न है । जो कुछ बाहर दिखलाई पड़ता है वह अत्यन्त जड़ है, मैं किस प्रकार उसमें से हो सकता हूँ, क्योंकि मैं विभु हूँ, काल से कल्पित और शीघ्र ही लय होने वाला देह मैं नहीं हूँ ॥ २९-३० ॥

जडया कर्णशष्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥ ३१ ॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा ।
चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥ ३२ ॥

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥ ३३ ॥

दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥ ३४ ॥

नासया गन्धजडता क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥ ३५ ॥

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ।
चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ॥ ३६ ॥

न मैं उस जड़ शब्द रूप हूँ जो क्षण भर टिकता है, शून्य आकृति और स्वरूप वाला और कल्प हुआ अचेतन है ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार थोड़ी देर में ही नाश होने वाली तथा बनने बिगड़ने वाली त्वचा भी मुझसे भिन्न है मैं वह जड़-स्पर्श नहीं हूँ जो चैतन्य के प्रभाव से आत्मा को अनुभव होता है ॥ ३२ ॥ चञ्चल मन तथा मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्द भी मैं नहीं हूँ ॥ ३३ ॥ इसी प्रकार दृश्य और दर्शन के लय हो जाने पर नष्ट हो जाने वाला जड़ अनुभव भी मैं नहीं हूँ, मै तो केवल द्रष्टा हूँ ॥ ३४ ॥ गन्ध भी जड़ पदार्थ और नासिका द्वारा परिकल्पित है ऐसी तुच्छ और जड़ गंध भी मैं नहीं हूँ ॥ ३५ ॥ इस प्रकार मैं पांच इन्द्रियों के भ्रम से रहित, ममता से रहित, मनन रहित, शांतस्वरूप, कला और मैल से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ; मैं चैतन्य से भी परे चिन्मात्र प्रकाश वाला हूँ ॥ ३६ ॥

सबाह्याभ्यन्तरे व्यापि निष्कलोऽहं निरञ्जनः ।
निर्विकल्पचिदाभास एक एवास्मि सर्वगः ॥ ३७ ॥
मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥ ३८ ॥
मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
तेजसान्तःप्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः ॥ ३९ ॥
अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ४० ॥
सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥ ४२ ॥
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः ।
चितश्चैत्र्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते ॥ ४३ ॥
सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेव शिष्यते ॥ ४४ ॥
ईहानीहमयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥ ४५ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥ ४६ ॥

मैं बाहर और भीतर व्याप्त रहने वाला निष्कल, निरञ्जन, निर्विकल्प, चिदाभास और सर्वव्यापी एक आत्मा हूँ, मुझ एक चैतन्य रूप से ही घट-पट आदि से लेकर सूर्य पर्यन्त दीपक के समान तेजस्वी बनाये जाते है। ये सब इन्द्रियों की विचित्र, विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मेरे अन्तः प्रकाश से ही उत्पन्न होती हैं जैसे अग्नि से चिनगारियाँ प्रकट होती है। यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि अनन्त आनन्द को उपभोग करने वाली और अत्यन्त शांति वाली है, यह अन्य सब दृष्टियों पर जय प्राप्त करने वाली है। यह मुक्त आत्मा सब प्रकार के भावान्तरों में स्थायी रहता है, यह चैत्य अवस्था से भी मुक्त चिदात्मा है। इस प्रत्यक् आत्मा को नमस्कार है ॥ ३७—४१ ॥ निष्कल और कल्पना रहित चित्शक्ति से ही इन विचित्र, स्वच्छ और समभावयुक्त शक्तियों को प्रकट किया जाता है। यह चित् शक्ति तीनों काल से अधिक शक्तिशाली, दृश्य जगत के बन्ध से रहित है। वह वाणी से अगम्य है और शाश्वत असत्ता और निरति आत्मा के समान वही शेष रहती है। जो चित शक्ति इच्छा और अनिच्छा वालों में विद्यमान है वह मलों से घिरी है और पाशबद्ध पक्षिणी के समान उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न

द्वन्दभाव के कारण ये प्राणी मोह वश पृथिवी रूपी गढ़े में गिरे हुये कीट-पतंगों के तुल्य ही हैं ॥ ४२—४६ ॥

आत्मनेऽस्तु नमस्तुभ्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥४७॥
उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते ।
तुभ्यं मह्यमनन्ताय तुभ्यं मह्यं चिदात्मने ॥ ४८ ॥
नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४९ ॥
सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाप्तबन्धुवत् ।
शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ५० ॥
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने ।
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ५१ ॥
मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः ॥ ५२ ॥
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कं निरीहितम् ।
केवलस्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥ ५३ ॥
तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क गतोड्डीय निरहंकारपक्षिणी ॥ ५४ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥ ५५ ॥

मुझ अविच्छिन्न चिद् रूप आत्मा को नमस्कार है। मैं सदैव परम प्रत्यक्ष, लब्ध और उदित हूँ। मैं विकल्पों से रहित हूँ, मैं जो हूँ सो हूँ, मुझे नमस्कार है ॥ ४७ ॥ तू और मैं अनन्त है, मैं और तू चिदात्मा हैं, (दोनों को) नमस्कार है। तुझ परमेश्वर और मुझ शिव रूप को नमस्कार है ॥ ४८ ॥ यह (आत्मा) बैठता हुआ भी नहीं

बैठता, जाता हुआ भी नहीं जाता, शान्त होता हुआ भी व्यवहाररत है, कार्य करता हुआ भी कभी लिप्त नहीं होता ॥ ४९ ॥ यह सदैव सुलभ है, आप्त बन्धु की तरह चतुर है और शरीर रूप कमल में भ्रमर की तरह रहता है ॥ ५० ॥ न तो मुझे भोग करते रहने की इच्छा है, और न भोग त्यागने की; जो आता हो वह आ जाय और जो जाता हो सो चला जाय ॥ ५१ ॥ मन से मन के पृथक हो जाने पर, अहङ्कार के चले जाने पर और भाव द्वारा भाव का नाश हो जाने पर मैं केवल स्वस्थ रूप में स्थित हूँ ॥ ५२ ॥ भाव रहित, निरहङ्कार, मन रहित, चेष्टा रहित, केवल, स्पन्द रहित शुद्ध आत्मा रूप हूँ, मेरा शत्रु कहाँ हो सकता है ? ॥ ५३ ॥ मेरे शरीर रूपी पिंजरे में रहने वाली निरहङ्कार रूपी चिड़िया, तृष्णा रूपी रस्सी को काट कर न जाने कहाँ उड़ गई ॥ ५४ ॥ जिसमें अकर्तापन का भाव है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, जो सब भूतों को समान भाव से देखता है, उसी का जीवन प्रशंसनीय है ॥ ५५ ॥

योऽन्तःशीतलया बुद्धया रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५६ ॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ५७ ॥
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।
स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाभिधीयते ॥५८॥
भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ ५९ ॥
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति ॥ ६० ॥

जिसका अन्तःकरण शीतल है, जो राग द्वेष से शून्य है, जो जगत को साक्षीभाव से देखता है उसका जीवन धन्य है ॥ ५६ ॥ जिस

को सम्यक ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिसने बुरे-भले का ध्यान छोड़ दिया है, जिसने चित्त को चित्त में ही संलग्न कर दिया है उसका जीवन शोभायमान है ॥ ५७ ॥ ग्राह्य और ग्राहक सम्बन्ध नष्ट हो जाने पर शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार की शान्ति ही मोक्ष कही जाती है ॥ ५८ ॥ भुना हुआ बीज जिस प्रकार अंकुर उत्पन्न करने के योग्य नहीं रहता, इसी प्रकार जो जीवन में ही मुक्त हो गये हैं उनके हृदय की वासना शुद्ध बन जाती है । वह पवित्र, परम उदार, शुद्ध सत्व वाले, आत्म ध्यान युक्त और नित्य रूप मे स्थित रहती है ॥५९–६०॥

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥
सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मकी ।
सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्ननु यत्र मनः क्षतम् ॥ ६२ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
निरस्तमननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥
मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम् ।
आशापाशामलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥६४॥
अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः ।
नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६५ ॥

जब चेतन चित्त रहित हो जाता है तभी वह आत्म रूप चेतन कहा जाता है, जब स्वभाव मन (इच्छा) रहित हो जाता है तो उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते ॥ ६१ ॥ वही सत्यता है वही शिव रूप है, वही परमात्म अवस्था है। वही सर्वज्ञता है, वही सम्पूर्ण तृप्ति है, जिसमें मन में कोई छिद्र (भेद भाव) नही रहता ॥ ६२ ॥ यद्यपि मैं बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, नेत्रों को खोलता और बन्द करता रहता हूँ, पर मैं मनन से युक्त आनन्द रूप सेवित आत्मा ही हूँ ॥६३॥ संवेद्य रूपी मल को दूर करके, मन को निर्मूल (इच्छा रहित) कर

के, आशा के फन्दे को काट कर मैं केवल संवित् रूप हूँ ।। ६४ ।। अशुभ और शुभ सङ्कल्पों से रहित होकर मैं निरामय स्थिति में हूँ; इष्ट और अनिष्ट के भाव को त्याग कर केवल संवित् रूप होगया हूँ ।।६५।।

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम् ।
निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽस्म्यहम् ।।६६।।
ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ।। ६७ ।।
कदोपशान्तमननो धरणीधरकोटरे ।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ।। ६८ ।।
निरंशध्यानविश्रान्तमूकस्य मम मस्तके ।
कदा तर्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ।। ६९ ।।
संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् ।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ।। ७० ।।

राग और द्वेष के भाव को त्याग कर, विभाग रहित जगत में स्थित, अत्यन्त सुदृढ़ आत्मा रूपी स्तम्भ के आश्रय पर मैं स्थित हूँ ।६६। मैं अपनी निर्मल और इच्छा रहित आत्म-दशा में स्थित हूँ, चेष्टा और अचेष्टा तथा हेय और उपादेय की भावना से मैं मुक्त हो गया हूँ ।। ६७ ।। मैं कब आत्म सन्तोष को प्राप्त हूँगा, कब स्वयं प्रकाश पद में स्थित हूँगा और कब पर्वत की गुफा में बैठ कर शांत भाव से मनन करूँगा ? ।। ६८ ।। कब मैं निर्विकल्प समाधि लगाकर शिला के तुल्य निश्चल हो जाऊँगा ? कब मैं उस अंश रहित ब्रह्म के ध्यान में ऐसा निश्चल हो जाऊँगा कि कोयलें मेरे मस्तक पर घोंसला बना लेंगी ? सङ्कल्प रूपी पेड़ों तथा तृष्णा रूपी लताओं को काट कर मन रूपी विस्तृत भूमि में सुख पूर्वक विहार करता हूँ और परमपद को प्राप्त कर के, कैवल्य रूप होकर अपना ही जप करता रहता हूँ ।। ६६—७० ।।

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥७१॥
स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमता सदाप्रमुदितोदिता ।
पूर्णतोदारता सत्या कान्तिमत्ता सदैकता ॥ ७२ ॥
इत्येवं चिन्तयन्भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा ।
निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥ ७३ ॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासंभाषणम् । न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनम् । तस्मान्न संन्यासमेकलोकः । आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ । बहूदकस्य स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्य सत्यलोकः । तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ ७४ ॥

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारो नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति, अस्ति चेच्छवालंकारवत् । चर्मकारविद्यादूरः । न परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत् । न देवताप्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥७५॥

मैं निर्वाण, निरीह, निरंश निरीप्सित को प्राप्त होकर स्वच्छ, वीर्यवान, सत्ताशाली, सत्य ज्ञान रूप हो गया हूँ ॥ ७१ ॥ आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्ण उदारता, सत्य, अद्वैत आदि की भावना करते हुये संन्यासी को अपने स्वरूप में स्थित रहना चाहिये निर्विकल्प स्वरूप का ज्ञाता होकर निर्विकल्प बनकर ही रहना चाहिये ॥ ७२—७३ ॥ आतुर-संन्यास लेने वाला जीवित रहे तो उसे क्रम-संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, शूद्र, स्त्री, पतित और रजस्वला से

सम्भाषण नहीं करना चाहिये। किसी देवता के पूजनोत्सव को देखने न जाय क्योंकि यह लौकिक कार्य संन्यासी का नहीं है। आतुर और कुटीचक का भू और भुवः लोक होता है, बहूदक का स्वर्गलोक, हंस का तपोलोक और परमहंस का सत्यलोक होता है। तुरीयातीत और अवधूत श्रेणी वाले भ्रमर कीट के समान अपने स्वरूप का अनुसन्धान करते हुये कैवल्य स्थिति में रहते हैं ॥ ७४ ॥ संन्यासी के लिये स्वरूपानुसन्धान के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का अभ्यास ऊँट पर केसर लादने के समान व्यर्थ है। संन्यासी के लिये योग की प्रवृत्ति, या सांख्य शास्त्र का अभ्यास या मंत्र-तंत्र का व्यापार आदि किसी शास्त्र की वृत्ति वर्जित है। यदि कोई करता है तो वह मृतक शव पर अलङ्कारोंके समान है और संन्यास के कर्म और विद्या के प्रतिकूल है। संन्यासी को नाम-कीर्तन आदि में भी भाग नहीं लेना चाहिये, क्योंकि कोई भी कर्म करने से उसका फल भोगना ही पड़ेगा। उसे एरण्ड (रेंडी) के तेल के फेन के समान सब को त्याग देना चाहिये। उसे न तो देवता का प्रसाद ग्रहण करना चाहिये और न किसी बाह्य देवता की पूजा करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत्। माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत्। आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः ॥७६॥

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ७७ ॥
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नकान्नाशी भवेत्क्वचित्।
निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यत्नतो व्रजेत् ॥ ७८ ॥
पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम्।
गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्क्रान्तो न पुनर्व्रजेत् ॥ ७९ ॥

नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः ।
अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ८० ॥
नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेद्गृहान् ।
नातिक्रामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥ ८१ ॥
श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिवहिष्कृतम् ।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते ॥ ८२ ॥
माधूकरमसंकॢप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ८३ ॥
मनःसंकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा ।
मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥
प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः ।
तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि च ॥८५॥

उसे अपने अतिरिक्त सब को त्याग कर हाथ या मुख से ग्रहण करते हुये मधुकरी वृत्ति पर जीवन निर्वाह करना चाहिये, जिससे शरीर में चरबी न बढ़े और बिहार करते रहना चाहिये। वह हाथ से या मुख से भिक्षा ग्रहण करके समय व्यतीत करे ॥ ७६ ॥ दो भाग में आहार करे, एक भाग में जल पीवे और एक भाग वायु के लिये खाली रखे ॥ ७७ ॥ सदैव भिक्षावृत्ति ही करे, एक ही घर मे लगातार कभी भोजन ग्रहण न करे। जो शान्त भाव से उसकी राह देखते रहते हों उनके यहाँ यत्नपूर्वक जाय ॥ ७८ ॥

क्रियावान (शुद्ध आचार वाले) पाँच सात घरों पर भिक्षा के लिये जाय और गौ के दुहने में जितना समय लगता है, उतनी देर तक प्रतीक्षा कर, जहाँ एक बार हो आया वहाँ दुबारा न जाय। रात के आहार से उपवास श्रेष्ठ है, उपवास की अपेक्षा अयाचित भिक्षा श्रेष्ठ

है, अयाचित से भिक्षा मांग कर खाना श्रेष्ठ है । इस लिये यथा सम्भव भिक्षा का ही आश्रय लेवे । भिक्षाकाल में दाँये या बाँये मार्ग से घर में प्रवेश न करे । जिस घर में दोष न हो उसे भूल या मोह से छोड़ न जाय । यदि श्रोतिय (वेदज्ञ) श्रद्धा, भक्ति से रहित हो तो उसके यहाँ भिक्षा न करे और जो संस्कार हीन (व्रात्य) भी श्रद्धा भक्ति रखने वाला हो तो उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण करले । भिक्षा पाँच प्रकार की कही गई है—असंक्लिप्त माधूकार, प्राक्प्रणीत, अयाचित, तात्कालिक और उपपन्न । मन में सङ्कल्प किये बिना किन्ही तीन, पाँच या सात घरों से मधुमक्खी के समान भिक्षा ग्रहण करना असङ्कल्पित माधूकर है । प्रातः काल अथवा पहले दिन कोई भक्तिपूर्वक प्रार्थना करे तो उसके यहाँ प्राक् प्रणीत भिक्षा की जा सकती है ।।८५।।

भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम् ।
अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः ।। ८६ ।।
उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत् ।
तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिस्तदा ।।८७।।
सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति ।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ।। ८८ ।।
चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिर्म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं न तु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ।
याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितिम् ।।८९।।
न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा ।
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ।। ९० ।।
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ।। ९१ ।।
अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम् ।
वर्जयित्वा चरेद्भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ।। ९२ ।।

घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम् ।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम् ।। ९३ ।।
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ।। ९४ ।।
घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन ।
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ।। ९५ ।।
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। ९६ ।।

भिक्षा के लिये फिरते हुये यदि कोई निमंत्रित करे तो संन्यासी उसके यहाँ अयाचित भिक्षा है। भिक्षा के लिये निकलते समय यदि कोई ब्राह्मण आकर भोजन करने को कहे तो उस तात्कालिक भिक्षा को सदैव ग्रहण कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण मठ में ही तैयार भोजन ले आवे तो उसे मोक्षाभिलाषी साधु उपपन्न भिक्षा कहते है।

अगर आवश्यकता पड़ जाय तो संन्यासी भिक्षा म्लेच्छ के यहाँ से भी माँगले, पर एक ही स्थान पर कभी आहार ग्रहण न करे चाहे वह बृहस्पति के समान पूज्य का घर ही क्यों न हो। उसे सदा याचित अथवा अयाचित भिक्षा द्वारा ही निर्वाह करना उचित है। वायु सब को स्पर्श करता है, अग्नि सब को जलाता है, जल में मल-मूत्र डाल दिया जाता है, पर ये इनके स्पर्श दोष से दूषित नहीं होते। इसी प्रकार संन्यासी अन्न-दोष से दूषित नहीं होता। धुँआ और मूसल के शब्द से रहित, जहाँ आग बुझ चुकी हो और लोग भोजन कर रहे हों, वहाँ दोपहर के पश्चात् भिक्षा करे आपत्तिकाल में संन्यासी निन्दनीय, पतित और पाखंडी को छोड़ कर सब वर्णों के यहाँ भिक्षा मांग सकता है। संन्यासी के लिये घी कुत्ते के मूत्र के समान है, शहद शराब के तुल्य है, तेल शूकर मूत्र के समान है, लहसुन युक्त पदार्थ, उड़द के पदार्थ आदि गो मांस के तुल्य हैं, दूध मूत्र के समान है। इस लिये उसे सदैव

घृत आदि से रहित भोजन ही प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करना चाहिये, घी आदि के पकवान कभी न खाय। संन्यासी के लिये उसका हाथ ही बर्तन है, उसी में सदैव भोजन करे, इस प्रकार भोजन करने वाला एक दिन मे दूसरीबार भोजन न करे। जो मुनि गौ के समान आहार करता है, वह सब मे सम भाव प्राप्त करके अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ८६—९६ ॥

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम्। न देवतार्चनम् ॥ प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ॥ ९७ ॥

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः।
दिवास्वापो वृथालापो यतीनां पातकानि षट् ॥ ९८ ॥
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम्।
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह सङ्ग्रहः ॥९९॥
यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते।
गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥ १०० ॥

घी को रुधिर के और एकत्र किये अन्न को मांस के समान त्यागदे, गन्ध लेपन को गन्दी वस्तु के समान, नमक को अन्त्यज के समान, वस्त्र को झूँठे बर्तन के समान, तेल की मालिश को स्त्री-प्रसङ्ग के समान, हँसी-मजाक को मूत्र की तरह, घमण्ड को गो मांस के समान, परिचित के घर भिक्षा को चाण्डाल के समान, स्त्री को सर्पिणी के समान, सुवर्ण को कालकूट के समान, सभा आदि को श्मसानवत्, राजधानी को कुम्भीपाक नर्क के तुल्य, एक ही घर के भोजन को

मृतक पिण्ड के समान समझकर त्याग दे। देव पूजन न करे। सांसारिक प्रपञ्च को त्याग कर जीवन्मुक्त बने ॥ ९७ ॥ आसन, पात्र, लोभ, सञ्चय, शिष्य करना, दिन में सोना, व्यर्थ की बातें करना ये छः बातें संन्यासी के लिये बन्धनकारी है ॥ ९८ ॥ वर्षा के अतिरिक्त जो स्थान है वह आसन कहलाता है, संन्यासी के व्यवहार के लिये जो तूँबा आदि बतलाये गये हैं उनके खो जाने पर दूसरे का ले लेना पात्रलोप है अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का ग्रहण कर लेना परिग्रह है ॥१००॥

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः।
शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ १०१ ॥
शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः।
विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ॥ १०२ ॥
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते।
आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्तां विना तथा।
अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥ १०३ ॥
एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम्।
ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगकाङ्क्षा रसायनम् ॥ १०४ ॥
कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम्।
क्रिया कर्मविवादश्च गुरुशास्त्रविलङ्घनम् ॥ १०५ ॥
संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम्।
शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥ १०६ ॥
विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम्।
त्यक्तं संन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७ ॥
गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम्।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥ १०८ ॥
सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्त्रीषु न विश्वसेत्।
सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥ १०९ ॥

स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११० ॥

आगे के लिये संग्रह करके रखना सञ्चय कहा जाता है। सुश्रूषा, लाभ, पूजा, यश के लिये चेष्टा करना भी परिग्रह है। जो आत्म-कल्याण के लिये करुणापूर्वक आये उसके सिवाय अन्य को शिष्य बनाना शिष्य-संग्रह कहा जाता है। संन्यास में विद्या दिन का प्रकाश और अविद्या रात्रि समझी जाती है। इस लिये विद्याभ्यास में प्रमाद करना दिन में सोना कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा, भिक्षा की बात, अनुग्रह प्रश्न का उत्तर देने के सिवा और जो कुछ बात की जाय वह व्यर्थ का बोलना (गपशप) समझा जाता है। घमण्ड और मत्सरता, एकान्न, गन्ध, पुष्प, आभूषण पान खाना, तेल लगाना, क्रीडा भोगकाङ्क्षा, रसायन, खुशामद, निन्दा, कुशल प्रश्न, खरीदने बेचने की बाते, क्रिया-कर्म, वाद-विवाद, गुरु के वाक्य का उलङ्घन, सन्धि-विग्रह की बातें, पलंग, श्वेत वस्त्र, वीर्य त्याग, दिन का सोना, भिक्षा-पात्र, स्वर्ण, विष, शस्त्र, बीज, हिंसा, क्रोध, मैथुन—इन सब का संन्यासी पूर्णतः त्याग करे। जो गृहस्थियों के धर्म, व्रत, गोत्रादि के आचार, पिता और माता के कुल की सम्पत्ति आदि निषिद्ध माने गये हैं; इनका सेवन करने से नीच गति प्राप्त होती है। वृद्ध हुआ विद्वान संन्यासी वृद्ध स्त्री का भी विश्वास न करे, क्योंकि पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा ही लगाया जाता है। स्थावर, जङ्गम, बीज, सुवर्ण, विष, आयुध, इन सब को संन्यासी मूत्र, विष्ठा के तुल्य त्याज्य समझ कर ग्रहण न करे ॥१०१—११०॥

नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि ।
पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ॥ १११ ॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत् ।
परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथंचन ॥ ११२ ॥

दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत् ।
पक्वं वा यदि वापक्वं याचमानो व्रजेदधः ॥ ११३ ॥
अन्नदानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही ।
आविकं वानाविकं वा तथा पट्टपटानपि ॥ ११४ ॥
प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः ।
अद्वैत नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

आपत्ति काल के सिवाय मार्ग के लिये संन्यासी को कुछ भी पास मे नहीं रखना चाहिये । यदि अन्न न मिले तो पक्कान्न ग्रहण कर सकता है । स्वस्थ और युवावस्था वाले संन्यासी को कभी किसी के घर में नही रहना चाहिये । दूसरे के लिये न कोई वस्तु लेनी चाहिये और न देनी चाहिये । संन्यासी को अन्य प्राणियो के कल्याणार्थ दीनता का आचरण करना चाहिये, पका हुआ अथवा बिना पका हुआ माँगने से अधोगति को प्राप्त होता है । खाने-पीने का लालच रखने वाला, वस्त्र, ऊनी कपड़ा अथवा बिना ऊन का कपड़ा, रेशमी कपड़ा—इन वस्तुओं के ग्रहण करने से संन्यासी का असन्दिग्ध रूप से पतन होता है । उसे तो अद्वैत रूपी नौका में बैठ जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होना चाहिये ॥ १११—११५ ॥

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम् ।
मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ११६ ॥
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७ ॥
रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।
भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥११८॥
प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥११९॥
प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी ।

ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरी भाक्त्वमेव च ।। १२० ।।
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ।। १२१ ।।
सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते ।
तारं द्वादशसाहस्रसभ्यसेच्छेदनं हि तत् ।। १२२ ।।
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ।। १२३ ।।
इत्युपनिषत् ।।

वाणी के दण्ड के लिये मौन रहे, काया को दण्ड देना हो तो उपवास करे, मन को दण्ड देना हो तो प्राणायाम करे । प्राणी कर्मों से बंधन में पड़ते हैं और विद्या से छुटकारा पाते हैं, इसलिये ज्ञानी सन्यासी कर्म से पृथक रहते है । गलियों में बहुत से पुराने वस्त्र मिल जाते हैं और भिक्षा भी सर्वत्र प्राप्त हो जाती है, भूमि में चाहे जहाँ सोने की "शैया" प्राप्त हो सकती है फिर संन्यासी को किस बात का दु;ख है । संन्यासी को समस्त प्रपञ्च ज्ञान की अग्नि में जला देना चाहियें । जो अपनी आत्मा मे अग्नि का समारोप करता है वही महाज्ञानी अग्निहोत्री है । मार्जारी और बानरी नाम से दो प्रकार की प्रवृत्ति बतलाई गई है । ज्ञान का अभ्यास करने वालों की मुख्यतः मार्जारी प्रवृत्ति होती है और गौण रूप से बानरी होती है । बिना पूछे कुछ भी न बोले और अगर कोई अन्याय का प्रश्न करे तब भी न बोले । ऐसे समय जानता हुआ भी जड़ मूढ के समान आचरण करे । अगर किसी तरह का पाप प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय तो बारह हजार तारक मंत्र का जप करके उस पाप को काट दे । जो प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जप करता है उसे बारह महीने के भीतर परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।। ११६—१२३ ।। ऐसा यह उपनिषद है । हरि ॐ तत्सत ।

।। संन्यासोपनिषद् समाप्त ।।

नारदपरिव्राजकोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टु वांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ—ॐ हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

प्रथमोपदेशः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य, चित्तशुद्धिं प्राप्य, निर्वैरः, शान्तः, दान्तः, सर्वतो निर्वेदमासाद्य, स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय, नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिशारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य, सरिगमपधनिसंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिम्पुरुषामरकिन्नराप्सरोगणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्त्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपो-

निष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा, नत्वा, यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा, स्वयं सर्वेऽप्युपदिष्टा भो भगवन्ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ॥१॥

एक समय परिव्राजकों में श्रेष्ठ श्रीनारदजी सब लोकों में भ्रमण कर रहे थे। वे अत्यन्त पुण्य भूमियों और तीर्थ स्थलों में गए तथा उन के पदार्पण से वे स्थान और भी पवित्र हो गए। उन तीर्थों के दर्शन से उन्होंने स्वयं भी चित्त शुद्धि प्राप्त की। उनका मन अत्यन्त शान्त था, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वश में थी, वे सब ओर से विरक्त थे और उनके मनमें किसी भी जीव के प्रति द्वेष भाव नही था। वे अपने स्वरूप के अनुसन्धान में लगे हुए, विचरण करते-करते नैमिषारण्य में गए। वह तीर्थ संयम नियम से उत्पन्न आनन्द के कारण सब तीर्थों की गणना में विशिष्ट है। उस स्थान पर अनेकों ऋषि मुनि निवास करते हैं। नारदजी ने उस पुण्य भूमि का दर्शन किया और वहाँ उनकी वीणा से वैराग्य का बोध कराने वाले विशेष स्वर झंकृत हो रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से अलग रहते हुए श्रेष्ठ प्रभु-कथा में रस लेते थे। उनके गीतों को सुन कर सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी आनन्द में निमग्न हो जाते थे। उनका भक्ति-प्रधान सङ्गीत मनुष्य, मृग, देवता, किन्नर, गंधर्व, अप्सरा आदि को भी आकर्षित कर रहा था। उस समय उस स्थान पर द्वादश वर्षीय सत्र याग हो रहा था। उस महायज्ञ में वेदज्ञ, तपस्वी, ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न शौनक आदि महर्षियों ने भाग लिया था। परम भागवत् देवर्षि नारद का आगमन देख उन सब महर्षियों ने अत्यन्त स्वागत किया। उनके चरणों में मस्तक झुकाकर सत्कार पूर्वक उन्हें एक श्रेष्ठ आसन पर बैठाया। इसके पश्चात् सभी अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए। फिर शौनकादि ने उनसे विनम्रता पुर्वक प्रश्न किया—'हे देवर्षि नारदजी! विश्व पाश से मुक्ति का क्या उपाय है, यह कृपाकर हमारे प्रति कहने का कष्ट करें? ॥१॥

इत्युक्तस्तान्स होवाच नारदः। सत्कुलभवोपनीनः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्मचर्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य, चतुर्विधं ब्रह्मचर्यं षड्विधिगार्हस्थ्यं चातुर्विध्यवानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य, तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य, साधनचतुष्टयसंपन्नः, सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तास्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः, संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। इत्युपनिषत्॥ २॥

इस प्रकार का प्रश्न सुन कर तीनों लोकों मे प्रसिद्ध देवर्षि नारद प्रसन्न होते हुए कहने लगे—'ऋषिगण! श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुए पुरुष का यदि उपनयन न हुआ हो तो सर्व प्रथम विधिवत् उपनयन-संस्कार कराना चाहिए। इसके, पश्चात् जो गुरु चौवीस संस्कारों से सम्पन्न हों ऐसे गुरु के आश्रम मे जा कर रहे। वहाँ गुरु की सेवा करे और अपनी शाखा का अध्ययन करे। फिर सभी विद्याओं का अभ्यास करता हुआ बारह वर्षो तक गुरु की सेवा मे लगा रहे। इस अवधि में पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। फिर पच्चीस वर्षो तक गृहस्थ धर्म का सेवन करे और पच्चीस वर्षो तक वानप्रस्थी होकर उसके अन्तर्गत नियमों का भले प्रकार पालन करे। ज्ञानीजन चार प्रकार का ब्रह्मचर्य बताते हैं। गार्हस्थ्य छः प्रकार का और वानप्रस्थ्य चार प्रकार का कहा गया है। उन सब का भले प्रकार अभ्यास कर उन-उन आश्रमों के सब कर्मो को अनुष्ठित करे। फिर चारों साधनों से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण विश्व से ऊपर उठ कर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सब प्रकार की आशा का त्याग करे और वासना, एषणा आदि को भी सर्वथा छोड़ दे। फिर किसी के प्रति द्वेष-भाव न रख, मन और इन्द्रियों को वश में

करके संन्यास ग्रहण करले और संन्यास आश्रम में रह कर अपने अविनाशी रूप का ध्यान करता रहे । इस प्रकार के ध्यान में तन्मय पुरुष देह त्याग के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होता है । यह उपनिषद् है ॥ २ ॥

द्वितीयोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन्संन्यासविधिं नो ब्रूहीति । तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्त्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा, यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच । गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वम् । अतो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यम् । त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः । पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारनिरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते । तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ।

शौनक आदि सभी महर्षियों ने पुनः भगवान् नारदजी से प्रार्थना की—'प्रभो ! संन्यास की विधि हमारे प्रति कहिए ।' नारदजी ने उन सब पर प्रसन्न दृष्टि डाली और कहने लगे—'संन्यास का पूर्ण स्वरूप पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से ही सुनना श्रेयस्कर होगा । इस प्रकार कह कर, सत्रयाग के पूर्ण होने पर उन सब को साथ लेकर वे ब्रह्मलोक में पधारे और ब्रह्म के ध्यान में तन्मय हुए परमेष्ठी ब्रह्माजी को प्रणाम कर स्तुति करने लगे । इसके पश्चात् ब्रह्माजी ने सबको यथायोग्य आसन पर बैठने का आदेश दिया । फिर नारदजी ने ब्रह्माजी से प्रार्थना

की—'ब्रह्मन् ! आप हमारे गुरु एवं पिता हैं। आप सर्वज्ञ तथा सभी विद्याओं के पूर्ण ज्ञाता हैं। इसलिये मेरे एक अत्यन्त प्रिय रहस्य पर प्रकाश डालने की कृपा करें। आपसे भिन्न ऐसा कोई नहीं है जो मेरे इच्छित रहस्य को भले प्रकार समझा सके। यदि आप मेरे अभीष्ट विषय का रहस्य बताने को प्रस्तुत हों तो निवेदन है कि आप संन्यास के स्वरूप और क्रम का यहाँ उपस्थित हम सब के प्रति उपदेश करिये।'

नारदजी द्वारा इस प्रकार की जिज्ञासा किये जाने पर ब्रह्माजी ने सब की ओर देखा और दो घडी के लिए वे समाधिस्थ होकर जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक दु;खों से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगे। फिर उन्होंने नेत्र खोल कर नारद जी की ओर पुन: देखकर कहा—

'हे नारद ! प्राचीन काल में पुरुष सूक्त में तथा उपनिषदों में कहे गए गूढ़ रहस्य के अनुकूल सर्वश्रेष्ठ दिव्य विग्रहधारी विराट् पुरुष ने मेरे प्रति जो उपदेश किया था, उसी को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ।

भो नारद, विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसूत: पितृमातृविधेय: पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा, यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य, द्वादशवर्षसेवापुर:सरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य, पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्, दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकाम: पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा, तत: पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा, पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहाय, निकिरविरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य, दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य: चत्वारिंशत्संस्कार-

संपन्नः, सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा, साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

संन्यास का रूप और क्रम अत्यन्त ही रहस्य पूर्ण है। उसे तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो। माता-पिता की आज्ञा में चलने वाले श्रेष्ठ कुलोत्पन्न बालक का यदि उपनयन संस्कार न हुआ हो तो सर्व प्रथम उसका उपनयन संस्कार करे। फिर वह बालक अपने माता-पिता के पास से किसी उच्च कुलोत्पन्न सद्गुरु के आश्रम में जाकर रहे। वे गुरु श्रोत्रिय, शास्त्रानुरागी, श्रद्धालु और गुणवान् हों। उनकी सेवा में उपस्थित होकर चरणों में नमस्कार कर उन पर अपना अभीष्ट प्रकट करे। फिर उनकी आज्ञा पा कर बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक तथा गुरुसेवा करते हुए सभी विद्याओं का अभ्यास करे। अध्ययन पूर्ण होने पर कुल के अनुरूप किसी श्रेष्ठ कन्या से गुरु की आज्ञा लेकर विवाह कर और पच्चीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम का पालन करे। पत्नी वंश वृद्धि के विचार से पुत्रोत्पत्ति कर्म करे। पच्चीस वर्ष बीतने पर वानप्रस्थी हो जाय। इस आश्रम में भी पच्चीस वर्ष रहे। तीनों समय स्नान और दिवस के चतुर्थ प्रहर में एक बार भोजन करे। ग्राम या नगर के परिचित मार्गों का त्याग कर अकेला ही वन में निवास करे। बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए चावल आदि एकत्र कर उसी से आश्रम के अनुरूप धर्म-निर्वाह कर देखे-सुने लोक-परलोक के भोगों से पूर्ण वैराग्य धारण करले और चालीस संस्कारों से सम्पन्न हो चित्त को सर्वथा शुद्ध करले। आशा, असूया, ईर्ष्या, अहङ्कार आदि का त्याग कर चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो जाय। इसके पश्चात् वह संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है ॥ १ ॥

तृतीयोपदेशः

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ। भगवन् केन संन्यासः संन्यासाधिकारी वेति। एवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य

पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते। अवहितः शृणु। अथ पण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पापण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः। संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः। पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥१॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा।
अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ २ ॥
पण्डोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी।
पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ ३ ॥
चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः।
द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ४ ॥

फिर देवर्षि नारद ने अपने पिता ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन्! संन्यास-ग्रहण कैसे किया जाता है और उसका अधिकारी कौन है, यह बताने की कृपा करिये।' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'संन्यास का अधिकारी कौन है पहिले इस पर ही प्रकाश डालना उचित है। इसके पश्चात् संन्यास की विधि पर प्रकाश डाला जायगा। अङ्ग-हीन, नपुंसक, पतित, स्त्रैण, बधिर, मूक, बालक, पाखण्डी, चक्री, लिङ्गी, वैतनिक अध्यापक, शिपिविष्टि, अयाज्ञिक आदि यदि विरक्त हों तो भी संन्यास के अधिकारी नहीं हैं। यदि वे संन्यास ग्रहण करलें तो भी उन्हें महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। जो पहले से ही संन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करने वाला है, वही उसमें प्रवेश कर सकता है ॥ १ ॥

जो न किसी से डरता है और न किसी को डराता है, उसे ही स्मृतियाँ परिव्राजक कहती हैं। पुंसत्वहीन, अङ्ग हीन, नेत्र-हीन, बालक, पातकी, पतित, परस्त्रैण, वैखानसहर द्विज, चक्री, लिङ्गी,

पाखण्डी, शिपिविष्ट और अयाज्ञिक, वेतन भोगी अध्यापक तथा दो-तीन वार संन्यास ले चुकने वाला, यह सभी आतुर-संन्यास वाले हो सकते है। परंतु क्रम-संन्यास के योग्य नही हैं ॥ २—४ ॥

आतुरकालः कथमार्यसंमतः ।
प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः ।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥ ५ ॥
आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।
मन्त्रवृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ ६ ॥
आतुरेऽपि क्रमे वापि प्रैषभेदो न कुत्रचित् ।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ ७ ॥
अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् ।
मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ ८ ॥
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।
तस्मादातुरसन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ ९ ॥

आतुर-संन्यास का कौन-सा समय माना गया है, इस प्रश्न का उत्तर है कि मरण-काल में प्राण निकलने का समय ही आतुर-संन्यास का समय कहा गया है, इससे भिन्न कोई समय ठीक नही है। यदि आतुर-संन्यास की प्राप्ति भी ठीक समय से हो जाय तो उससे मुक्ति हो सकती है। इसे ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुष शास्त्र सम्मत मंत्रों के पाठ-पूर्वक सविधि सब आवश्यक कर्म पूर्ण करके मन्त्र का उच्चारण करता हुआ संन्यास ले। आतुर-संन्यास और क्रम-संन्यास के विधान में कोई भेद नहीं है। क्योंकि कर्म मंत्र द्वारा ही प्रेरित होता है, प्रत्येक मंत्र किसी न किसी कर्म से सम्बन्धित है। मंत्र के बिना कोई भी कर्म यथार्थ कर्म नहीं है। इसलिए मंत्र को नहीं छोड़ना चाहिए। मंत्र के बिना किया हुआ कर्म बुझी हुई राख में छोड़ी जाने वाली आहुति के समान निरर्थक होता है। शास्त्र की विधि के अनुसार वर्णित कर्म के

संक्षेप में करने से आतुर-संन्यास की क्रिया पूर्ण होती है । इसलिए इसमें बारंबार मंत्रोच्चार उचित है ॥ ५—६ ॥

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि ।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥ १० ॥
मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथवा जले ।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा ।
समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेन्पातित्यमाप्नुयात् ॥ ११ ॥
यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।
तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥ १२ ॥
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ १३ ॥
यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥ १४ ॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥ १५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

अग्निहोत्री पुरुष यदि अन्य देश मे गया हुआ हो और वहाँ जा कर वह विरक्त हो जाय तो जल में प्राजापत्येष्टि कर्म करके संन्यास ग्रहण कर ले । यह प्राजापत्य याग मन से करे अथवा सविधि मन्त्रोच्चारण द्वारा करे अथवा वेदोक्त विधि से कर्मानुष्ठान द्वारा करे, ऐसा करने पर ही संन्यास ले, नही तो वह अपने कर्म से गिर जाता है ॥ १०—११ ॥

संन्यास की इच्छा तभी करे जब सभी पदार्थों के प्रति मन में पूर्ण विरक्ति हो जाय । इससे विपरीत आचरण मनुष्य को पतित करने वाला है । वैराग्य होने पर ही संन्यास ले और मन में किंचित् राग भी

रहें तो घर को न त्यागे। जो द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ले लेता है, वह अधम नरक को प्राप्त होता है ॥ १२—१३ ॥

जिसकी जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ आदि इन्द्रियाँ वशवर्ती हों, अथवा जो अविवाहित हो, ऐसा ब्रह्मचर्य-सम्पन्न ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे। जगत को निःसार समझ कर सार वस्तु को पाने की कामना से ज्ञानी पुरुष पूर्ण विरक्त होकर अविवाहित रहते हुए ही संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कर्म प्रवृत्ति का और ज्ञान संन्यास का प्रमुख लक्षण है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति ज्ञान को लक्ष्य में रखकर ही संन्यास ले ॥ १४—१६ ॥

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥ १७ ॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥ १८ ॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत्।
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥ १९ ॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्।
इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥२०॥
यस्मिञ्छान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम्।
अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे भवेत् ॥ २१ ॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २२ ॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥२३॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्थेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
ह्रीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ २४ ॥
अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि।

प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २५ ॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः ।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २६ ॥
प्राणे गते यथा देहः सुखदुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २७ ॥

परमतत्व रूप सनातन ब्रह्म का ज्ञान होने पर एक दंड धारण करे और यज्ञोपवीत तथा शिखा का भी त्याग कर दे। जो पुरुष परमात्मा में अनुराग तथा उससे भिन्न सब पदार्थों में वैराग्य रखता है, जिसके मन से तीनों ऐषणाएं निकल चुकी हैं, वही भिक्षा से प्राप्त अन्न का सेवन करने का अधिकारी है। जैसे साधारण मनुष्य अपनी प्रशंसा और आदर से अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता पिटने पर भी बनी रहे तभी उसे भिक्षु होने का अधिकार है। जो अपने को ही प्रसिद्ध अद्वितीय अक्षर ब्रह्म मानता है, वही भिक्षा का अन्न खाने का अधिकार पाता है। जिसमें शान्ति, शम, दम, शौच, संतोष, सत्य, सरलता, दम्भ हीनता और असञ्चयवृत्ति हो, वही संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकारी माना गया है। मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखना संन्यासी का कर्तव्य है। इस प्रकार के धर्मों का आचरण करते हुए एकाग्र मन से उपनिषदों को सुने और ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय करता हुआ ऋषि ऋण से मुक्त हो। यज्ञानुष्ठान द्वारा देव ऋण को चुकावे और पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से मुक्त होकर संन्यास ले। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ह्री, विद्या, सत्य और अक्रोध यह दस लक्षण धर्म के हैं। जो पुरुष भूतकालीन भोगो का चिन्तन, वर्तमान काल में प्राप्त भोगो का स्वागत तथा भविष्य मे प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता, वही संन्यास आश्रम में रह सकता है। जो अन्तःकरण में अवस्थित इन्द्रियो को और बाह्याभ्यांतरिक विषयों को मन में स्थान न

देने में समर्थ है, वही संन्यास आश्रम में रहने का अधिकारी है। जैसे प्राण-हीन शरीर को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता वैसे ही प्राणों के वर्तमान रहते जिसे सुख-दुःख व्याप्त नहीं करते वह संन्यास-आश्रम में रहने का पूर्ण अधिकारी है ।। १७—२७ ।।

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ।। २८ ।।

यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् ।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ।। २९ ।।

विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु ।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम् ।। ३० ।।

एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ।। ३१ ।।

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढं चरेद्यतिः ।। ३२ ।।

दो लँगोटियाँ, एक गुदड़ी और एक दण्ड यही वस्तुऐं संन्यासी संगृह कर सकता है। इससे अधिक संगृह नहीं कर सकता। यदि लोभ वश अधिक वस्तुऐं एकत्र करता है तो वह मरने पर रौरव नरक को प्राप्त होकर फिर पशु-पक्षी आदि योनियों में जन्म लेता है। ठण्ड आदि से रक्षा करने के लिए जीर्ण-शीर्ण स्वच्छ वस्त्रों को सीकर गुदड़ी बनावे और निर्जन स्थान में जाकर रहे। भगवे वस्त्र पहिने। एक वस्त्र धारण करे या वस्त्रहीन रहे। दृष्टि को इधर-उधर न फिरा कर एक स्थान पर ही रखे। मन में किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न न होने दे। सदा अकेला ही घूमे। वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहे। स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, वेदाङ्ग-ग्रन्थ, यज्ञ एवं यज्ञोपवीत को सर्वथा त्याग दे । इस प्रकार संन्यासी पुरुष अपनी विशिष्टता बताये बिना ही विचरण करे ।। २८—३२ ।।

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत् ॥३३॥
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥ ३४ ॥
दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यनिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ३५ ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ॥ ३६ ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ३७ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ ३९ ॥
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ ४० ॥

संन्यासी सब के प्रति ममता को दूर करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार आदि दोषों को त्याग दे। राग-द्वेष को मन में न आने दे। सुवर्ण, पाषाण अथवा मृत्तिका को समान ही माने। हिंसा से परे तथा निस्पृह होकर रहे। दम्भ, अहङ्कार, हिंसा, परनिन्दा आदि से मुक्त तथा आत्मज्ञान प्राप्त कराने वाले उपयोगी गुणों से सम्पन्न संन्यासी ही मोक्ष का अधिकारी है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के कारण अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है। यदि वे ही इन्द्रियाँ भले प्रकार वशीभूत हो जाँय तो वह सिद्धि दायिनी होती हैं। भोगों का उपभोग करने से विषयों की कामनाऐं कभी शान्त नहीं होतीं, भोग तो

घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने के समान, उनकी वृद्धि करते हैं। जो पुरुष कठोर या मीठे वचन सुन कर, स्वादिष्ट या कुरुचिपूर्ण भोजन करके, कोमल या कठोर वस्तु को छू कर, सुन्दर अथवा असुन्दर रूप देख कर, सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघकर न तो प्रसन्न होता है और न ग्लानि का ही अनुभव करता है—सब में समान अनुभूति करता है, वही जितेन्द्रिय समझना चाहिये। जिनके मन वाणी में पवित्रता है, जो सदा दोप-रहित हैं, वे ही मनुष्य वेदांत सुन कर उसका पूरा फल पा सकते हैं। ब्राह्मण सम्मान को विष के समान उद्विग्न करने वाला समझे और अपमान को अमृत के समान उपकारी मानकर उसकी कामना करे॥ ४० ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ ४१ ॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४२ ॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४३ ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४४ ॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ४५ ॥
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ४७ ॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ ४८ ॥

सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितः ॥ ४९ ॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी ॥ ५० ॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥ ५१ ॥
अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैःशनैः ।
सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५२ ॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३ ॥

अपमान प्राप्त कर मनुष्य सुखपूर्वक सोता, जागता और विचरण करता है और जो उसका अपमान करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। यह शरीर नाशवान है इसको साथ लेकर किसी के साथ शत्रुता न करे। किसी का अनादर न करे और दूसरों के कठोर वचनों सहन करले। जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे। जो गाली दे, उसे गाली न देकर अच्छी वाणी ही बोले। वाणी, दो नेत्र, दो कान, दो नाक छिद्र और एक मुख इन सात द्वारों से सम्बन्ध रखने वाली है इसे कभी असत्य कथन में न लगावे। जो पुरुष सुख प्राप्ति की इच्छा करे वह आध्यात्मिक विषय में मन लगा स्थिर भाव से बैठे, किसी से कुछ याचना न करे। मनमें किसी प्रकार की कामना उत्पन्न न होने दे। अपने कर्म में किसी अन्य व्यक्ति की सहायता न ले और अकेला ही संसार में विचरण करे। मनुष्य इन्द्रियों को वश में रखे, राग-द्वेष को समाप्त कर दे और किसी भी जीव की हिंसा न करे; इससे मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह देह रोगों का घर है, अस्थियाँ इसमें खम्भों के समान हैं तथा स्नायुओं का जाल डोरियों के समान पुरा हुआ है, इस पर माँस रक्त का पलस्तर हो रहा है और चर्म से मढ़ दिया

गया है। यह सदा मल मूत्र से युक्त रहता है, इसके भीतर दुर्गन्ध भरी हुई है। वृद्धावस्था और शोक से संतप्त रहने से उसमें सदा आतुरता रहती है। वीर्य और रज से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह रजस्वल है। यह नित्य भी नहीं है अर्थात् किसी न किसी दिन समाप्त होगा ही। इसमें पञ्चभूतों का सदा डेरा लगा रहता है। इसलिए इसे त्याग देना चाहिए। इस माँस, मज्जा, रक्त, मल, मूत्र आदि से निर्मित देह से यदि मूर्ख मनुष्य प्रेम रखता है तो वह नरक से प्रेम करने वाला ही होगा। इस देह में स्थित अहङ्कार ही कालसूत्र नरक का मार्ग है। वह महावीचि नरक में पहुँचाने के लिये जाल के रूप में बिछा है वही असिपत्र नरक की श्रेणी का है। यही अहं कुत्ते का मांस ग्रहण करने वाली चाण्डालिनी के समान है। इसलिए प्रयत्न पूर्वक इस अहंभाव को छोड़ दे। कल्याण की इच्छा वाला पुरुष विनाश काल में भी उसका स्पर्श न होने दे। अपने प्रियजनों में पुण्य और शत्रुओं में पाप का त्याग कर स्वयं उनसे कोई सम्बन्ध न रखे। ऐसा साधक ध्यान योग में लीन रहकर सनातन पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। सम्पूर्ण विषयों में धीरे धीरे अनासक्त होकर सब द्वन्द्वों से छुटकारा प्राप्त कर संन्यासी परब्रह्म में स्थित होता है। सिद्धि चाहने वाला पुरुष किसी अन्य को साथी न बनावे और अकेला ही विचरण करे। संन्यासी किसी की सिद्धि देखकर अपने साधन का त्याग नहीं करता और न वह सिद्धि से हीन होता है ॥ ४१-५३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ५४ ॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥ ५५ ॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम्।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ ५६ ॥

नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामं वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥ ५७ ॥
राजवार्त्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥ ५८ ॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।
दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥ ५९ ॥
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।
मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन ॥ ६० ॥
कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते ।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ६१ ॥
अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥ ६२ ॥
इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥ ६३ ॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥ ६४ ॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥ ६५ ॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥ ६६ ॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।
श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥ ५७ ॥
सांनिध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥ ६८ ॥
नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा ।

भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन ।। ६९ ।।
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ।। ७० ।।
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव य ।
दिवास्वापं च थानं च यतीनां पातकानि षट् ।। ७१ ।।
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः ।
सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ।। ७२ ।।
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः ।
न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ।। ७३ ।।
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।। ७४ ।।
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः ।
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।। ७५ ।।
निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः ।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय इति ।। ७६ ।।

पीने के लिए कपाल नामक लकड़ी का पात्र, निवास के लिए किसी वृक्ष की मूल, पहनने को जीर्ण शीर्ण वस्त्र, सदा एकाकी रहने का स्वभाव तथा सब देहधारियों में समत्व भावना यह जीवन्मुक्त के लक्षण हैं। संन्यासी को तो सबका हितैषी होना चाहिए। वह शान्त चित्त से रहता हुआ सदा दंड-कमण्डलु धारण करे और केवल आत्मा में ही रमता रहे। जब विचरण करे तो सब कुछ त्याग कर अकेला ही जाय। बस्ती में भिक्षा के लिए ही घुसे। संन्यासी का एकाकी रहना इस लिए भी आवश्यक है कि एक से दो होने पर जोड़ा कहा गया है और तीन मिल जाने पर गाँव कहा जाता है और इससे भी अधिक होने पर तो पूरा नगर ही होगया। इसलिए शास्त्रों में अकेले सन्यासी को ही भिक्षु कहा है। वह अपने पास किसी को आने का

अवसर ही न दे। एक से दो भी न होने दे। क्योंकि नगर, ग्राम या मिथुन के रूप मे रहने वाला संन्यासी अपने धर्म से पतित हो जाता है। कई व्यक्तियों का सम्मिलन होने पर उनमें राजा, सेठ आदि का अथवा कहाँ कैसी भिक्षा प्राप्त होती है इस प्रकार की बातें होंगी। फिर विभिन्न वार्ताओं के फलस्वरूप परस्पर स्नेह, द्वेष, परनिन्दा आदि के भावों की उत्पत्ति होगी। इसी लिए निस्पृहता पूर्वक अकेला रहने की ही शास्त्रों ने आज्ञा दी है। उसे निरर्थक वार्तालाप नही करना चाहिए। दूसरों की बात या नमस्कार आदि का उत्तर 'नारायण' कह कर देना चाहिए। एकान्त स्थान में एकाकी रह कर मन, वाणी, देह और क्रिया द्वारा केवल ब्रह्म का ही ध्यान करे। मृत्यु या जीवन का कभी स्वागत न करे। जब तक मृत्यु काल न आवे तब तक काल की प्रतीक्षा करे। उसे न तो मृत्यु की प्रशंसा करनी चाहिए और न जीवन की। भृत्य द्वारा अपने स्वामी की आज्ञा के लिए प्रतीक्षा करने के समान साधक पुरुष तो एक मात्र काल की ही प्रतीक्षा करे। नपुंसक के समान अर्थात् काम-भाव से शून्य रह कर अथवा अन्धा, लूला, बधिर अथवा मुग्ध के समान रहता हुआ पुरुष इन छःओं गुणों के प्राप्त होने पर मुक्ति को प्राप्त होता है। जो भोजन करते हुए स्वाद अस्वाद को नही देखता और सत्य बात कहता है उसे जिह्वा रहित कहा जाता है। जो मनुष्य नवजात कन्या, षोडशी स्त्री और शतायुष्य वृद्धा को समान भाव से देखता हुआ राग-द्वेष आदि के चक्कर में नहीं पड़ता वह षण्ड कहा जाता है। जो साधक मल-मूत्र त्याग के लिए अथवा भिक्षा के लिए ही घूमता है और जो प्रतिदिन एक योजन से अधिक नहीं चलता उसे पंगु कहा गया है। चलते हुए अथवा खड़े रह कर भी जो संन्यासी अपने नेत्रों को चार युग से अधिक दूर देखने के लिए नहीं फैलाता, बल्कि झुकाये रहता है वह अन्ध संज्ञक है। जो हित-अहित, सुख या दुःख वाली कैसी भी बात हो, उसे सुनकर भी न

सुने के समान शान्त रहता है वह बधिर संज्ञक है । बिषयों का सामीप्य, देह में शक्ति और इन्द्रियों की स्वस्थता होते हुए भी जो सुप्त की भाँति उन विषयों के प्रति अनासक्त रहता है, वह मुग्ध कहा जाता है ।

संन्यासी पुरुष अपने सम्बन्धियों, नट आदि के खेलों, जुआ, युवती, रजस्वला, भोज्य पदार्थ इन छः की ओर कभी न देखे। अपनों के प्रति मोह, दूसरों के प्रति द्रोह, माया, मद, राग, द्वेष इन से सदा दूर रहे और मन में कभी इन के संबंध में विचार न करे । श्वेत वस्त्र पहनना, स्त्रियों के सम्बन्ध में बातचीत करना अथवा सोचना, इन्द्रियों की लोलुपता, दिन में शयन, मञ्च पर बैठना और सवारी पर चलना, संन्यासियों के लिए यह छः कर्म पाप ही है । जो पुरुष आत्म-चिन्तन की कामना रखता है वह दूर की यात्रा न करने का यत्न करे । मोक्ष की कारणभूता उपनिषद् विद्या का संन्यासी को सदा अभ्यास करना चाहिए। वह अधिक उपवास अथवा अधिक तीर्थ यात्राओं के चक्कर में न पड़े। अधिक विद्याओं का पठन-पाठन भी उसके लिए त्याज्य है । सभाओं में व्याख्यान न दे तथा पाप, दुष्टता और कुटिलता-रहित बर्ताव करे । इन्द्रियों को विषयों की ओर से कछुआ द्वारा अपने अङ्ग को समेट लेने के समान ही समेट ले और इन्द्रियों तथा मन के कार्य, व्यापारों को नष्ट कर दे । कामना और परिग्रह का त्याग कर हर्ष-शोक के वश में न पड़े । नमस्कार और स्वधा का भी त्याग कर दे । ममता और अहङ्कार को लेश-मात्र भी स्थान न दे । किसी वस्तु की कामना न करे । सदा एकान्त का सेवन करे। ऐसा संन्यासी जगत के पाश से अवश्य छूट जाता है ।। ७२—७६ ।।

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। अथवा न कुर्यात्। आग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति। तस्मात् त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एत एव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति॥ ७७॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ ७८॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः, प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह। आहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयं मोक्षदमिति। शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्मवित्। मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विन्देत्। तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम्। एवमेवैतदिति॥ ७९॥

जो गृहस्थ, ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थी कर्म, भक्ति और ज्ञान से युक्त है, प्रमाद को त्याग कर केवल आत्मा के अधीन रहता है, वह वैराग्य के उत्पन्न होने पर संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। यदि विरक्ति में कुछ न्यूनता हो और आश्रमों की आकांक्षा हो तो ब्रह्मचारी अपने आश्रम की अवधि पूरी कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो फिर वानप्रस्थ हो और इसके पश्चात् संन्यास ग्रहण करले। अथवा गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ही वैराग्य उत्पन्न होने पर संन्यासी बन जाय।

ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य रहित, स्नातक, अस्नातक, अग्निहोत्री या अग्निहोत्र को त्याग किये हुए अर्थात् किसी भी दशा में हो, उसे जिस समय वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी समय गृह-त्याग कर संन्यास ग्रहण कर ले। कुछ विद्वान् संन्यास आश्रम में प्रवेश करते समय प्राजापत्येष्टि करते हैं, उसे करे चाहे न करे। अथवा केवल आग्नेयी इष्टि ही करे अग्नि ही प्राण है, इस लिए साधक इस इष्टि के द्वारा प्राण को पुष्ट करता है। यदि चाहे तो त्रैधातवीया इष्टि को अनुष्ठित करे। इस इष्टि द्वारा सत्त्व, रज, तम इन तीनों धातुओं का हवन करते हैं। विधिपूर्वक इष्टि करके मंत्रोच्चार सहित अग्नि को सूँघे। ('अयं ते अग्नि०' यह मंत्र है। इसका अर्थ है) 'हे अग्ने! इस प्राण द्वारा ही तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। यह प्राण ही संवत्सर से सम्बन्धित काल है। इस से उत्पन्न होने से तुम श्रेष्ठ कान्ति से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने उत्पन्न करने वाले प्राण को जान कर इसमें प्रतिष्ठित होओ। इस प्रकार हमारे प्राण में आत्मसात होकर हमारे ज्ञान-धन की वृद्धि करो। अवश्य ही यह प्राण अग्नि के प्रादुर्भाव का कारण है। इसी लिए इस मंत्र में अग्नि और प्राण की एकात्मा प्रतिपादित हुई है।

आहवनीय अग्नि में से अग्नि ग्रहण करे और उसके द्वारा उपरोक्त इष्टि करने के पश्चात् अग्नि को सूँघे। यदि अग्नि न मिले तो जल में हवन करे और इस प्रकार कहे कि 'सब देवता जल स्वरूप हैं, मैं उनके लिए हवन करता हूँ। यह आहुति उन्हें मिले।' फिर जल में से थोड़ा जल लेकर आचमन करे। वह घृत युक्त जल आरोग्य और मोक्ष का देने वाला है। इसके पश्चात् चोटी, जनेऊ, पिता, पुत्र-स्त्री आदि कर्म, अध्ययन तथा विभिन्न मंत्रों के जप को त्याग दे। ऐसा करने पर ही आत्मज्ञानी पुरुष परिव्राजक होता है। त्रैधातवीय मंत्र मोक्षात्मक हैं, उन्हीं के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे। ब्रह्म सत्य, ज्ञान आदि से युक्त है उसी की उपासना करे ॥ ७७—७९ ॥

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः । कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति । तमाह पितामहः ॥ ८० ॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्‌बुधः ।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ८१ ॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ८२ ॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥ ८३ ॥
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।
धारणात्तस्य भूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ८५ ॥
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ८६ ॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ ८७ ॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥८८॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति ॥ ८९ ॥

नारदजी ने ब्रह्माजी से फिर पूछा—'भगवन् ! यज्ञोपवीत का त्याग करने वाला ब्राह्मण कैसे रहेगा ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'ज्ञानी पुरुष चोटी सहित सब बालों को मुँडावे और यज्ञोपवीत के रूप में बाह्य शरीर पर धारण किये सूत्र का त्याग करदे । तथा अविनाशी ब्रह्म को सब में सूत्र रूप से व्यापक समझ कर अपने अंतर में धारण

करे । जो ज्ञान का हेतु है, वही सूत्र कहलाता है । इस लिए सूत्र का अर्थ परमपद है । जो उस परमपद रूप सूत्र का ज्ञाता है, वही वेदों का पूर्ण ज्ञाता ब्राह्मण है । जैसे सूत्र में मनके पिरोये जाते हैं, वैसे ही उस परमात्मा में यह सम्पूर्ण विश्व पिरोया हुआ है । योग के जानने वाला तत्वदर्शी पुरुष उसी यथार्थ सूत्र को धारण करे । ज्ञानी पुरुष बाह्य सूत्र को त्याग कर ब्रह्म रूप सूत्र को ही ग्रहण करे और योग का आश्रय ले । ऐसा करने वाला ही चेतन है । उस सूत्र को धारण करने के कारण संन्यासी कभी उच्छिष्ट मुँह अथवा अपवित्र नहीं होता । ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत के ज्ञाता जिन संन्यासियों के हृदय में ब्रह्म-सूत्र प्रतिष्ठित है, वही सूत्र के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता तथा सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले है । संन्यासियों का यज्ञोपवीत और शिखा ज्ञानमय ही होते हैं । ज्ञान को ही सब से बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं । ज्ञान सब से अधिक पवित्र है । जैसे अग्नि की ज्वाला उसके स्वरूप वाली ही होती है वैसे ही ज्ञानी पुरुष की शिखा भी ज्ञानमयी होती है । केशमयी शिखा यथार्थ रूप में शिखा नहीं है । वैदिक कर्म के अधिकारी द्विज ही, कर्म के अङ्ग रूप यज्ञोपवीत को धारण करे । परंतु ब्रह्मज्ञानियों की मान्यता है कि ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानात्मक सूत्र धारण करने वाले में भी ब्राह्मणत्व पूर्ण रूप से स्थित रहता है ॥ ८०-८९ ॥

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेत् । अथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सत्कर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितः, निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य, स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा, स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरमन्यमानः, कस्यापि

वन्दनमकृत्वा न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् । यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेत् । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथङ् नत्वन्यत्र अनिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषु, वने वा, श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तकदत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्तवदाचरन्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥ ९० ॥

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम् ।
सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥ ९१ ॥

आत्मानमन्विच्छेत् । यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वायाचितनाहारमाहरन्, लाभालाभौ समौ भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति । स कृतकृत्यो भवति इत्युपनिषत् ॥ ९२ ॥

इस तत्व को समझ कर ब्राह्मण का कर्तव्य है कि संन्यास ग्रहण करले। एक वस्त्र रखे, मस्तक मुँडाले, अपरिग्रह का नियम पालन करे। यदि शरीर में सामर्थ्य न हो तो एक कौपीन धारण करे अन्यथा दिगम्बर रहे। पुत्र, मित्र, स्त्री छोटे-बड़े सम्बन्धी, भाई-बन्धु आदि का त्याग करके स्वाध्याय और सत्कर्मों में संलग्न रहे । समस्त ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध त्यागदे और कौपीन, दण्ड, अङ्गाच्छादन आदि सब त्याग कर सब प्रकार के द्वन्दों को सहन करे। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख,

निद्रा, मान-अपमान आदि किसी भी बात की किंचित मात्र चिन्ता न करे। छहों ऊर्मियों से अप्रभावित रहे। निन्दा, अहङ्कार, मत्सर, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि को त्याग कर, अपने शरीर को शव के समान समझ कर; अपनी आत्मा के अतिरिक्त बाहर-भीतर की किसी वस्तु को न मान कर न तो किसी की वन्दना करे, न यज्ञ और श्राद्ध करे और न किसी की निन्दा-स्तुति से प्रयोजन रखे। अकेला स्वतंत्रता पूर्वक विचार करता हुआ जो कुछ स्वमेव मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहे, किसी प्रकार का द्रव्य संग्रह न करे। आवाहन और विसर्जन से पृथक रहे, न मंत्र ले और न छोड़े; ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य, सम्मिलन, पृथकता आदि की ओर ध्यान न दे। न एक स्थान पर रहने का आग्रह करे न जाने का। अपना घर या आश्रम कोई न हो। सदा स्थिर मति रह। सूना घर, वृक्ष मूल, देव मंदिर, झोंपड़ी, कुलालशाला, अग्निहोत्र का स्थान, नदी तट या कछार, भूगृह, गुफा, झरना, चबूतरा, वन जहाँ कहीं भी स्थान मिल जाय वहीं रहे। जिस प्रकार श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय, रैवतक आदि परमहंस बिना किसी चिह्न के रहे वैसे ही रहे और जान बूझकर बालक, उन्मत्त, पिशाच की-सी चेष्टा करे जिससे कोई पहिचान न सके। दण्ड, झोली, पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन आदि सब 'भूः स्वाहा, कह कर जल में विसर्जन कर दे ॥ ६० ॥

"कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र, कमण्डलु इन सब को जल में डाल कर नग्न होकर विचरण करे" ॥ ६१ ?

आत्मा का अनुसंधान करे और सब प्रकार के द्वन्दों को सहन करता हुआ दिगम्बर होकर विचरण करे। पास में कुछ भी न रखे। सदैव ब्रह्म-मार्ग पर ही स्थित रहे, मन को शुद्ध रखे और प्राण-रक्षा के लिये जो भोजन, जल आदि अपने आप प्राप्त हो जाय उसे हाथ रूप

पात्र से ही ग्रहण करे। लाभ-हानि का ध्यान छोड़कर ममता रहित बन जाय, आत्म ध्यान में ही निरत रहे, सदा अध्यात्म चिन्तन करता रहे और पाप-पुण्य के कर्मों को निर्मूल करके केवल आत्मा से ही सम्बन्ध रखे। अपने ब्रह्म स्वरूप समझ केवल ब्रह्म का ही चिन्तन करे। तीनों शरीरों के प्रति अहम्भाव को त्याग और संसार से सर्वथा नाता तोड़ कर ही वह देह त्याग करे। इस प्रकार आचरण वाला संन्यासी कृतकृत्य होता है ॥ ६२ ॥

चतुर्थोपदेशः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च ।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥१॥
नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् ।
वयो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥ २ ॥
न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥ ३ ॥
एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः ।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥ ४ ॥
तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये ।
शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः ॥ ५ ॥
अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥ ६ ॥
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
संमाननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥ ७ ॥
प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥ ८ ॥
जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमोहौ त्यजेद्यतिः ॥ ९ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥ १० ॥
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥ ११ ॥
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥ १२ ॥

जो संन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़ कर आत्म-स्थित रहता है वह परमगति को पाता है। संन्यासी अपने नाम-गोत्र-कुल, देश, काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्रज्ञान आदि के सम्बन्ध में किसी से वार्ता न करे। किसी स्त्री से बात न करे। पूर्व परिचित किसी स्त्री का स्मरण न करे स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा न सुने। क्योंकि स्त्री-सम्बन्धी चर्चा, उनका स्मरण, चिन्तावलोकन तथा सम्भाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति होती और वह उसकी योग-भ्रष्टता का कारण होता है। संन्यासियों के लिए स्नेह-ममता, माया, लोभ-तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहङ्कार, कामना, संग्रह, व्याख्यान, शिल्प, चिकित्सा-व्यवसाय पर गृह निवास, प्रायश्चित, औषधि वितरण, मंत्र प्रयोग, विष-प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं। जो ऐसा करता है वह अपने धर्म से पतित होता है। मुमुक्षु संन्यासी अपने किसी सुहृद जन का भी स्वागत, सम्मान न करे और न उसे अपने पास ठहरावे। किसी का दिया हुआ दान न ले। किसी दूसरे को भी न दिलावे। किसी को दान देने या लेने की भी प्रेरणा न करे। अपने स्त्री-पुरुष आदि किसी भी प्रियजन के शुभ या अशुभ समाचार को देख सुन कर कभी विचलित न हो, हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करे। अहिंसा-भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिगृह,

अदैन्य, शान्ति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहाभाव, गुरु-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहन-शीलता, करुणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान परायणता संन्यासी के लिए यह सभी धर्मरूप से पालनीय हैं ॥ १२ ॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।
तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥ १३ ॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
सर्वाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥ १४ ॥
द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥ १५ ॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्मानिकेतनः ।
पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १६ ॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥ १७ ॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन् ।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥ १८ ॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोर्नैव पर्यटन् ।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च ॥ १९ ॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥ २० ॥
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम् ।
अन्धवज्जडवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥ २१ ॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः ।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२ ॥

सत्त्वगुण युक्त, समदृष्टि, द्वन्द्वातीत, तुरीयाश्रम में अवस्थित परमहंस संन्यासी नारायण का साक्षात् स्वरूप है। ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रियों से अधिक निवास न करे, परंतु वर्षाऋतु में यह नियम नहीं है। वर्षा ऋतु में चातुर्मास निवास एक स्थान पर ही करे। गाँव में दो-रात्रि रहना भिक्षु के लिए वर्जित है, क्योंकि अधिक रहने से राग आदि की उत्पत्ति संभव है, जिसके कारण नरक प्राप्ति हो सकती है। गाँव के एक किनारे निर्जन स्थान में ही रहे और मन-इन्द्रियों को नियन्त्रित रखे। किसी भी स्थान पर अपने लिए मठ या आश्रम न बनावे। आठ महीनों तक संन्यासी कीड़े के समान भ्रमण करता रहे। केवल वर्षा के चार मास ही एक स्थान पर काटे। एक वस्त्र पहिने या उसका भी त्याग कर दे। अपनी दृष्टि को चञ्चल न होने दे, वह एक ओर ही रहे। वह श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग को कलङ्कित न होने देने के लिए विषयों में सर्वथा अनासक्त रहे और ध्यान परायण होकर ही पृथिवी पर भ्रमण करे। अपने धर्म में रत रह कर पवित्र स्थान पर निवास करे। वह सदा नीचे की ओर ही देखे। रात्रि में, मध्याह्न में तथा दोनों सन्ध्या कालों में विचरण न करे और शून्य, दुर्गम तथा प्राणियों के लिए बाधा उपस्थित करने वाले स्थानों पर भी न घूमे। ग्राम में एक रात्रि पुरवे में दो रात्रि, कस्बे में तीन रात्रि और नगर में पाँच रात्रि, से अधिक न ठहरे। वर्षाकाल में, पवित्र और जल वाले स्थान पर निवास करे। समस्त भूतों को अपने समान देखे। अंध, बधिर, मूक, जड़ एवं पागल के समान सब बाह्य दृश्यों से अनजान बन कर पृथिवी पर भ्रमण करे। बहूदक और वनस्थयती तीन समय स्नान करते हैं, परन्तु संन्यासी के लिए एक समय ही स्नान करने का आदेश है। हंस से ऊँची परमहंस स्थिति में तो स्नान आदि का कोई बन्धन ही नहीं रहता ॥१—२२॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम् ॥ २३ ॥
परमहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः ।
अशेषचित्तावृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥ २४ ॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोऽस्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥ २५ ॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः ।
क्व चाङ्गशोभासौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६ ॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७ ॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८ ॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥ २९ ॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः ।
निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥ ३० ॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः ।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् ।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥ ३२ ॥
यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मव्रतमनुव्रतम् ।
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४ ॥
संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः ।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ।।इति।।३६।।

एक दण्ड रखने वाले संन्यासियों के लिए 'मौन, योग, आसन, एकान्त-सेवन, तितिक्षा, निस्पृहता और समता यह सात नियम पालन करने आवश्यक है। जो साधक परमहंस रूप स्थिति में अवस्थित है, उसके लिए स्नानादि कर्म अनिवार्य न होने से केवल चित्त वृत्तियों का त्याग ही श्रेयस्कर है। मांस, रक्त, चर्म, नाड़ी, मेद, मज्जा, अस्थि आदि से निर्मित शरीर में रमण करने वाले मनुष्यों और मल-मूत्र आदि में निवास करने वाले कीड़ों में ही क्या अन्तर रहता है ? यह शरीर तो कफ आदि घृणोत्पादक वस्तुओं का भण्डार है। कहाँ ऐसा यह शरीर और कहाँ सुन्दरता, कमनीयता तथा अङ्ग की शोभा ? जो मनुष्य घृणित पदार्थों के भण्डार रूप इस देह से प्रेम करता है, उसका प्रेम नरक में भी होगा ही। स्त्रियों के न कहने योग्य अङ्गों और सड़े हुए नाडीव्रण में कोई अन्तर न होने पर भी मनुष्य अपने मानसिक भ्रम के कारण ही ठगा हुआ है। स्त्रियों का वह अङ्ग दुर्गन्ध से भरा हुआ है। उसमें रमने वाले मनुष्यों को नमस्कार है। क्योंकि यह तो घोर दुःसाहस ही है। संन्यासी को तो न कोई चिह्न धारण करना चाहिए और न कोई करने योग्य कर्म ही उसके लिए शेष रहता है। वह तो भय-रहित, ममता-रहित, द्वन्द्व-रहित, वर्ण-रहित, शान्त एवं भोजन सामग्री के उपार्जन की चेष्टा से दूर रहता है। उसे नग्नावस्था में अथवा एक कौपीन में रह कर ही ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानवृत्ति में लगा हुआ योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। संन्यास में भी ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। विभिन्न चिह्नों का धारण करना, ज्ञान के न होने पर तो नितान्त निरर्थक ही है। ब्रह्मज्ञानी वही है जिसके साधु, असाधु, मूर्ख या विद्वान् होने की बात कोई नहीं जानता। इसीलिए संन्यासी किसी चिह्न विशेष को धारण न कर अपने धर्म को

जानता हुआ केवल ब्रह्म के चिन्तन में ही रत रहे। वह गूढ़ धर्म का आश्रय लेकर इस प्रकार रहे कि उसके योग संबंधी आचरण की बात लोगों पर प्रकट न हो। वह सभी के लिए संदेहात्मक बना रहे और वर्णाश्रम से परे रहता हुआ अन्ध बधिर, मूक के समान पृथिवी पर घूमे। ऐसे शान्त मन वाले संन्यासी का दर्शन करने वाले देवता भी उसी के समान आचरण करने की इच्छा किया करते है। जब आत्मभाव से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व मन में न रहे, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। यही ब्रह्मतत्व विषयक उपदेश है ॥२२—३६॥

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यात् देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्, देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्, ऋषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन्, दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्, मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान्, भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्, पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्, मातुः श्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीः, आत्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान्, जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति। सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेत्। एकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषुवा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य, पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य, दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा, शेषकर्मसिद्धचर्थं सप्तकेशान्विसृज्य शेषकर्मसिद्धचर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः संक्षिप्य वापयेत्केशश्मश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्ज क्षौरपूर्वकं स्नात्वा, सायंसंध्यावन्दनं निर्वर्त्य, सहस्र-

गायत्रीं जप्त्वा, ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य, स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य, स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा, तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वाहुतिविधिं समाप्य, आत्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वा आचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य, स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा, पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा, चतुर्थयामान्ते स्नात्वा, तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा, पुरुषसूक्तेनान्नं षोडशाहुतीर्हुत्वा, विरजाहोमं कृत्वा, अथाचम्य, सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं धेनुं दत्त्वा, समाप्य, ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा,

"सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोति मा ॥" इति ॥

"या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम् ।
अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि ॥
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम् ।
जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ॥"

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य; ध्यात्वाग्निं, प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य, प्रातः संध्यामुपास्य, सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा, नाभिदघ्नोदकमुपविश्य, अष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्वासनं कृत्वा, सावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा,

"अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥"

"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ॥"

"शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां

भूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥"

"दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्" "ओं भूः संन्यस्तं मया" "ओं भुवः संन्यस्तं मया" "ओं सुवः संन्यस्तं मया" "ओं भूर्भुवःसुवः संन्यस्तं मया" इति मन्द्रमध्यतारध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्य:"अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहा" इत्यनेन जलं प्राश्य, प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्य "ओं स्वाहा" इति शिखामुत्पाट्य,

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥"
"यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्त्रम् ।
परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ ॥"

इति यज्ञोपवीतं छित्वा, उदकाञ्जलिना सह "ओं भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा" इत्यप्सु जुहुयात् । "ओं भूः संन्यस्तं मया" "ओं भुवः संन्यस्तं मया" "ओं सुवः संन्यस्तं मया" इति त्रिरुक्त्वा, त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य, "ओं भूः स्वाहा" इत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य, सर्वकर्मनिवर्तकोऽहमिति स्मृत्वा, जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वबाहुरुदीचीं गच्छेत् ॥ ३७ ॥

इसके पश्चात् नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन् ! संन्यास की विधि बताने की कृपा कीजिए ।' इस पर ब्रह्मा जी कहने लगे—'आतुर-संन्यास या क्रम-संन्यास ग्रहण करने के लिए प्रथम प्रायश्चित्त के रूप में कृच्छ्र आदि व्रत करे । फिर देवता, ऋषि, दिव्य, मनुष्य, भूत, पितर, माता और आत्मा इन आठों के लिए अष्ट श्राद्ध करे । प्रथम 'सत्य' और 'वसु' नामक विश्वेदेवों को आहूत कर

फिर देव श्राद्ध मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश का आह्वान करें । ऋषि श्राद्ध मे देवर्षि, राजर्षि, मनुष्य ऋषियो को बुलावे । दिव्य श्राद्ध मे अष्टावसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्यो को बुलावे । मानव-श्राद्ध मे सनक, सनन्दन, सनत्कुमार तथा सनत्सुजात का आह्वान करें । भूत श्राद्ध में पृथिवी आदि पचभूतो, नेत्र आदि इन्द्रियों तथा जरायुज आदि चार प्रकार के प्राणियो को आहूत करे । पितृ श्राद्ध मे पिता, पितामह, प्रपितामह का और मातृ श्राद्ध में माता, पितामही का आह्वान करे एवं आत्म श्राद्ध मे अपना, पिता का और पितामह का श्राद्ध करे । परन्तु पिता जीवित हों तो उनका श्राद्ध न कर अपना, पितामह का और प्रपितामह का करे । अष्ट श्राद्ध को एक ही अनुष्ठान वा अङ्ग बनावे और दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमंत्रण देकर उनका पूजन करे । यदि आठ श्राद्धो का पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करे तो अपनी शाखा के मत्रो द्वारा आठ दिन या एक दिन मे ही अनुष्ठान पूरा करे । पितृयाग की विधि के अनुसार ब्राह्मण पूजन, भोजन आदि सब कर्म सविधि पूर्ण करके पिण्डदान दे । फिर दक्षिणा और ताम्बूल देकर ब्राह्मणो को सन्तुष्ट कर विदा करे । शेष कर्म की पूर्ति के निमित्त सात, आठ बालों को रख कर मुँडवा दे और दाढी, मूँछ, नख का भी त्याग करे । काँख और उपस्थ के केशो को न कटावे । क्षौर कर्म के अनन्तर स्नान करे और साय सन्ध्या के समय एक हजार गायत्री मत्र का जप करे । फिर ब्रह्मयाग करके पृथक् अग्नि-स्थापन करे । इसके अनन्तर अपनी शाखा का उपसहार कर आज्य भाग तक घृताहुति दे । हवन पूर्ण होने पर सत्तू के तीन ग्रास भक्षण करे और आचमन करके, अग्नि मे ईधन आदि रख कर अग्नि से उत्तर की ओर कृष्ण मृगचर्म पर बैठे और पुराणादि की ज्ञान युक्त कथा-वार्ता सुनते हुए रात्रि-जागरण करे । तथा रात्रि के चतुर्थ पहर में स्नान कर उसी अग्नि मे चरु का पाक करे और पुरुष सूक्त के षोडश मंत्रो के द्वारा चरु की सोलह आहुतियाँ

अग्निस्थ करे और विरजा होम कर, आचमन, दक्षिणा, वस्त्र, सुवर्ण, पात्र और गोदान करे। फिर ब्रह्मा को विसर्जित कर अग्नि के आधिदैविक रूप को अपने आत्मा में प्रतिष्ठित करे। फिर अग्नि का ध्यान, प्रदक्षिणा और नमस्कार कर उसे अग्निशाला में विसर्जित करे फिर प्रातः सन्ध्या में सहस्र गायत्री जप और सूर्योपस्थान करे। फिर नाभि तक जल में घुस कर आठों दिकपालों को अर्घ्य दे। इसके अनन्तर गायत्री को विसर्जित कर सावित्री का व्याहृतियों में प्रवेश करावे।

प्रार्थना के मन्त्र

इस प्रकार वाणी द्वारा मन्द, मध्यम एवं उच्चस्वर अथवा मन ही मन मंत्रोच्चार कर 'अभयं०' आदि मंत्र से आचमन करे और पूर्व दिशा की ओर अंजलि भर कर जल छोड़े और 'ॐ स्वाहा' कहते हुए शिखा के शेप बालों को उखाड़ डाले। फिर 'यज्ञोपवीतं०' आदि मंत्रोच्चार करते हुए यज्ञोपवीत को तोड़ दे और उसे जल की अंजलि के साथ जल में डाल दे। फिर 'ॐ भूः संन्यस्तं०' आदि का तीन बार उच्चारण पूर्वक जल को अभिमंत्रित कर उसका आचमन करले। फिर 'ॐ भूः स्वाहा' कह कर वस्त्र और कटिसूत्र को जल में छोड़ दे और यह सोचे कि 'मैंने कर्मों का त्याग किया है' तथा नग्न होकर आत्मरूप के चिन्तन पूर्वक भुजा ऊपर की ओर उठाये हुए उत्तर की ओर गमन करे ॥ ३७ ॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेत् । गुरोः प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य, यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्तो व्यतिरिक्त इति, फलपत्रोदकाहारः, पर्वतवनदेवतालयेतु संचरेत् । संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसंचारकं सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणधारणपरायणः फलरसत्वक्पत्त्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम् ॥ ३८ ॥

यदि विद्वान् संन्यासी हो तो गुरु से प्रणव का अथवा महावाक्य का उपदेश ग्रहण करे और सब को आत्म रूप मान कर आनन्द सहित विचरण करे। पर्वत, वन, देव मन्दिर आदि स्थानों में ठहरे तथा फल, पत्र और जल का आहार करे। संन्यास लेकर दिगम्बर हो तो केवल आत्मानुभूति को ही हृदय में स्थान दे। कर्मों से परे रहना ही कल्याणकारी समझे। फलों का रस, छिलके, पत्र, मूल और जल के आहार से प्राण धारण करे। मोक्ष की कामना करता हुआ संन्यासी पर्वत की गुफा में ओंकार का जप तथा ब्रह्म का चिन्तन करते हुए ही अपने देह का त्याग करे॥ ३८॥

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैः 'तिष्ठ तिष्ठ महाभाग, दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण, प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्' इत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुम्, पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकाकपृष्ठं सलक्षणं वैणवदण्डमेकमाचमनपूर्वकम्

"सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय॥"

इति दण्डं परिग्रहेत्। 'जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य' इति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य, 'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' इति 'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्' इति 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्, इति कटिसूत्रकौपीनवस्त्रम्, आचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा, कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेत्। इत्युपनिषत्॥ ३९॥

ज्ञान की प्राप्ति इच्छा से ही यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो सौ पग जाने पर ही आचार्य आदि द्वारा बुलाये जाने और दण्ड, कमण्डलु, वस्त्र आदि ग्रहण करने की आज्ञा देने तथा प्रणव आदि का

उपदेश सुनने को आमंत्रित किये जाने पर उनके निकट पहुँचे और आचार्य द्वारा दिये गए दण्ड,कमण्डलु, कौपीन, कटिसूत्र, चादर आदि को ग्रहण करे। दण्ड बाँस का हो, पाँव से मस्तक तक ऊँचा, छिद्र-रहित, चिकना एवं श्रेष्ठ हो। वह काले रंग का न हो। इन वस्तुओं को ग्रहण कर आचमन करे। फिर 'सखा मा०' के उच्चारण पूर्वक दण्ड हाथ में ले और 'जगज्जीवनं०' के साथ प्रणव का उच्चारण कर कमण्डलु ले। फिर कटिसूत्र और कौपीन धारण तथा वस्त्र गृहण कार्य भी मंत्रोच्चारणपूर्वक ही करे। फिर पुनः आचमन कर योगपट्ट से अभिषिक्त हो अपने को कृतार्थ हुआ मान कर संन्यास आश्रम के उपयुक्त आचरण करे। यह उपनिषद् है ॥ ३९ ॥

पञ्चमोपदेशः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ । भगवन् सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते । ततः पितामह उवाच । शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थाः सन्ति । तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति । तथैव चेद्भगवन् संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति । तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन ॥ १ ॥

इसके पश्चात् नारद जी ने अपने पिता श्री ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन्! आप संन्यासाश्रम को सब कर्मों से निवृत्ति कारक कहते हैं और अपने आश्रम के उपयुक्त आचार पालन की बात भी कही है। इस सम्बन्ध में समाधान करने की कृपा करें।' इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'देहधारी प्राणी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय यह चार अवस्थाऐं हैं। इन्ही अवस्थाओं में कर्म, ज्ञान और वैराग्य का प्रवर्तन होता है। सभी जीव इन चार अवस्थाओं के आश्रय में रहते

हुए अवस्था के अनुकूल ही आचरण करते हैं। संन्यासी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ के द्वारा सेवनीय श्रौत स्मार्त कर्मों का ही निवर्तन करता है। परंतु संन्यास आश्रम के अनुकूल श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का त्याग नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से संन्यासाश्रम के अनुकूल आचरण की बात कही गई है।'

नारदजी बोले—'भगवन्! अब संन्यास के भेदों पर प्रकाश डालिए और यह भी बताइये कि उनके अनुष्ठान में कैसा अन्तर है? ॥ १ ॥

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्—तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासः, अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य, वैराग्य-संन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥

तद्यथेति। दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्-पुण्यकर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः क्रोधे-र्ष्यासूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वर्त्य दारैषणाधनैष-णालोकैषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्राकृतियँ सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४ ॥

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-नुसंधानेन जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥५॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥६॥

ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्य-संन्यासी। विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी। विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥ ७ ॥

ब्रह्माजी बोले—'संन्यास के अन्तर से आचरण में क्या अन्तर पडता है, इसकी बात कहता हूँ। यथार्थ मे संन्यास एक ही प्रकार का है। परंतु अज्ञान के कारण, असमर्थ होने के कारण अथवा कर्म का लोप होने के कारण इस के अनेक रूप हो गए हैं। वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्म-संन्यास इन चार भेदों में संन्यास की विभक्ति हुई है। वैराग्य-संन्यास उसे होता है जो मन में दूषित भावनाओं का अभाव होने पर विषयों में अनासक्त हो कर पूर्व जन्म के सत्कर्मों की प्रवृत्ति के कारण विरक्त हो जाता और संन्यास ग्रहण कर लेता है। ज्ञान-संन्यास उसे होता है जो शास्त्र ज्ञान के कारण अथवा अनुभव से विश्व प्रपंच के प्रति स्वभाव से ही विरक्त हो गया हो। क्रोध, ईर्ष्या, असूया और अहङ्कार युक्त विश्व को अपने मन से दूर कर स्त्री, धन, ख्याति की कामना से मुक्त हो गया हो तथा जिसने देहात्मक, शास्त्रात्मक और लोकात्मक वासनाओं का त्याग कर दिया है। उच्छिष्ट को त्याज्य समझने के समान ही जिसने भोगों को सर्वथा त्याज्य मान लिया हो, वही ज्ञान-संन्यासी है। ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी वह है जो सब शास्त्रों में अभ्यस्त होकर और सब का अनुभव प्राप्त करके ज्ञान-वैराग्य के द्वारा आत्म स्वरूप के ध्यान मे रत रहते हुए दिगम्बर रूप में रहता है। कर्म-संन्यास वह कहा जाता है जिसका साधक ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर गृहस्थाश्रम का भी पालन कर लेने पर, वानप्रस्थ से संन्यास ग्रहण कर लेता है अथवा ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास ले कर जो दिगम्बर हो जाता है वह वैराग्य-संन्यासी है। विद्वत्संन्यासी को ज्ञान संन्यासी और विविदिषा संन्यासी को कर्म संन्यासी कहा गया है ॥ ७ ॥

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति । निमित्तस्त्वातुरः अनिमित्तः क्रमसंन्यासः । आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः स निमित्तसंन्यासः ।

दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥ ८ ॥

हँसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।

नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ ९ ॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्य क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्तसंन्यासः ॥ १० ॥

संन्यासः षड्विधो भवति, कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ ११ ॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥१२॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ १३ ॥

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ १४ ॥

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ १५ ॥

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ १६ ॥

अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ १७ ॥

कर्म संन्यास भी निमित्त संन्यास और अनिमित्त संन्यास के भेद से दो प्रकार का है। आतुर संन्यास ही निमित्त संन्यास है और क्रम संन्यास अनिमित्त संन्यास माना गया है? रोग आदि के कारण

जिसमें सभी कर्म लुप्त हो जाते हैं तथा प्राण-त्याग के समय जो संन्यासावस्था स्वीकार की जाती है वही निमित्त संन्यास है । देह बलवान है और साधक यह धारणा करता है कि सभी उत्पन्न पदार्थ नाशवान् हैं और इस प्रकार शरीर को भी त्याज्य मान लेता है । परमात्मा आकाशचारी हंस और अन्तरिक्षचारी वसु है, वही वेदी में प्रतिष्ठित अग्नि है और वही होता है । वही गृहस्थों के यहाँ अतिथि रूप से निवास करता है । मनुष्यों में उसका अस्तित्व है । श्रेष्ठ वस्तुओं और सत्य में वह अवस्थित है । आकाश में भी वह है । जल से, पृथिवी और वाणी से तथा पर्वत से भी प्रकट होता है । तथा इन सब से भिन्न और विलक्षण रूप वही एक परम सत्य है ।'

इस प्रकार जो पुरुष केवल परब्रह्म को ही सत्य मान कर ब्रह्म के अतिरिक्त सब पदार्थों को नाशवान् मानता है और संन्यास, क्रम-पूर्वक संन्यास आश्रम में जाता है तब वह अनिमित्त संन्यासी कहा जाता है । वैसे कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत, अवधूत इन भेदों से छः प्रकार के सन्यासी कहे गए हैं । कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग नहीं करता । दण्ड, कमण्डलु, कौपीन तथा कन्था धारण करता और माता, पिता, गुरु की सेवा में लगा रहता है । वह पिठर, खनित्र, झोली आदि साथ रखता तथा मन्त्र-सिद्धि में लगा रहता है । वह श्वेत ऊर्ध्व पुण्ड और त्रिदण्ड धारण करता तथा एक ही स्थान पर ही भोजन करता है । बहूदक भी कुटीचक के समान होते हैं । शिखा, यज्ञोपवीत आदि धारण करते और त्रिपुण्ड लगाते है । वे सब के प्रति समान भाव रखते हुए अनेक घरों से रोटी माँगकर केवल आठ ग्रास खाते हैं । हंस संज्ञक संन्यासी जटाधारी होते हैं । वे ऊर्ध्व त्रिपुण्ड धारण करते, कौपीन काछते और तूंबी साथ रखते है । परमहंस शिखा-सूत्र नहीं रखते, पाँच घरों से अन्न माँग कर प्रत्येक रात्रि में भोजन करते हैं । पात्र के स्थान पर

हाथ को ही काम में लेते है इसी लिए उन्हें करपात्री भी कहते हैं। वे एक कौपीन, एक ओढ़ने का वस्त्र और बाँस का दण्ड धारण करते है। यदि वह कुछ ओढते नही तो भस्म रमा लेते है। वे सब वस्तुओं का त्याग कर देते है। तुरीयातीत संन्यासी गौ के समान दैवेच्छा से जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करते हैं। वह किसी से कुछ माँगते नही। प्रायः फल का आहार करते हैं। अन्नाहार करें तो केवल तीन घरों से अन्न लाते हैं। वे देह के सिवाय और कुछ भी पास नहीं रखते। वे दिगम्बर रहते हुए अपनी इन्द्रियों को मृतकों के समान चेष्टाहीन बना लेते हैं। अवधूत किसी प्रकार के बन्धन को नही मानते। कलङ्कित और पतित मनुष्यों को छोड़ कर बिना किसी वर्ण भेद के अजगर वृत्ति से अन्न ग्रहण करते तथा आत्म-चिंतन में लगे रहते है ॥ ८—१७ ॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥ १८ ॥

कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत्कुटीचकानां संन्यासविधिः ॥ १९ ॥

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सर्ववर्णैशभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्र कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थालेशः नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित्। प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि। बहूञ्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा, पाण्यादिना संभाषणं, नान्यभाषाविशेषेण, न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासंभाषणम्, न यतेर्देवपूजानुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २० ॥

आतुर व्यक्ति संन्यास ग्रहण करने पर मृत्यु को प्राप्त न हो तो

उसे विधिवत् क्रम-संन्यास ग्रहण कर लेना श्रेयस्कर है। कुटीचक, बहूदक, हंस इन तीन प्रकार के संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के क्रम से ही चतुर्थाश्रम का विधान है। परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत संन्यास वालों के लिए कटिसूत्र, दण्ड, कमण्डलु, वस्त्र आदि रखने की आवश्यकता नहीं है। वे दिगम्बर रहते हुए सभी वर्णों के घर से भिक्षा माँगने में स्वतंत्र हैं। संन्यास ग्रहण करने के समय 'मैंने जितना अध्ययन किया है, वह पर्याप्त है' ऐसा निश्चय जब तक न हो, तब तक अध्ययन करना उचित है। इसके पश्चात् ही कौपीन, कटिसूत्र आदि को जल में विसर्जित कर दे। दिगम्बर हो तो कन्था न रखे, अध्ययन न करे, प्रवचन-कथा आदि न सुने और व्याख्यान आदि भी न दे। तर्कशास्त्र, शब्दशास्त्र कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं। केवल प्रणव ही जपना चाहिए। वाणी का व्यर्थ अपव्यय करना निरर्थक है। संकेत से बात करना भी निषिद्ध है। शूद्र, पतित एवं स्त्री से बात न करे। रजस्वला स्त्री से तो भूल कर भी बात नहीं करनी चाहिए। उत्सव देखना, तीर्थयात्रा करना अथवा देव-पूजन आदि भी यति के लिए अनावश्यक है॥ १८—२०॥

पुनर्यतिविशेषः। कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा, बहूदकस्यासां-क्लृप्तमाधूकरम्, हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकवलम्, परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रम्, फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्य, अवधूतस्याजगर-वृत्तिः सार्ववर्णिकेषु। यतिर्नैकरात्रं वसेत्। नैकस्यापि नमेत्। तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठः। यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः। हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानाधि-रूढो न क्रयविक्रयपरो न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृ-तवादी। न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्ति। अस्ति चेत्सांकर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः॥ २१॥

अब संन्यासी के कुछ विशिष्ट नियमों पर प्रकाश डाला जाता

है। एक स्थान पर कुटीचक संन्यासी ही भिक्षा ग्रहण करे। बहूदक संन्यासी अनिश्चित घरों में जाकर भोजन प्राप्त करे। हंस संन्यासी आठ घरों से एक ग्रास अन्न ले और केवल आठ ग्रास ही अन्न खाय। परमहंस को पाँच घरों से अन्न ग्रहण करना चाहिए। उसके पास कोई पात्र नहीं होता,हाथ ही पात्र है तुरीयातीत संन्यासी गौ के समान जोकुछ मिल जाय, उसी मे संतोष कर लेता है, वैसे ही जो कुछ भगवत् इच्छा से प्राप्त हो जाय उसे ग्रहण करके ही संतोप कर ले। अवधूत संन्यासी अजगर वृत्ति से अन्न प्राप्त करे। संन्यासी किसी के घर में एक रात्रि भी निवास न करे, किसी को नमस्कार भी न करे। तुरीयातीत और अवधूत में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। अवस्था में बड़ा होने पर भी वह समान है। जिसे अपने रूप का ज्ञान नहीं, वह बड़ा हो तो भी छोटा है। संन्यासी को तैर कर नदी पार करना, वृक्ष पर चढना, यात्रा में सवारी का उपयोग करना, क्रय-विक्रय या अदला-बदली करना, अहङ्कार रत रहना, असत्य भाषण करना आदि सब का निषेध है। उन्हें तो केवल मनन करना ही श्रेयस्कर है ।। २१ ।।

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ, बहूदकस्य स्वर्गलोको, हंसस्य तपोलोकः, परमहंसस्य सत्यलोकः, तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ।।२२।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ।। २३ ।।

आतुर एवं कुटीचक संज्ञक संन्यासी भूलोक और भुवर्लोक को प्राप्त होते हैं। बहूदक स्वर्ग और हंस तपोलोक को प्राप्त होता है। परमहंस सत्यलोक पाता है। तुरीयातीत और अवधूत अपने आत्मा में कैवल्य प्राप्ति का अधिकारी होता है। भ्रमर-चिंतक कीट के समान आत्म रूप को ध्यान करने वाले वे दोनों प्रकार के संन्यासी स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य अपने अन्तिम काल में जिस भाव का चिंतन

करताहै, वह उसी रूप को प्राप्त होता है। श्रुति का यह उपदेश यथार्थ ही है ॥ २२-२३ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् । तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः । अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः । कार्यभेदात्कारणभेदः । तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम् । वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४ ॥

इस प्रकार जान लेने वाला संन्यासी आत्मरूप का ध्यान छोड़ कर किसी अन्य विषय में प्रवृत्त न हो। विभिन्न आचरणों का पालन करने से उन्हीं के अनुसार लोकों को प्राप्त होना होता है। जो ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न संन्यासी है उसकी मुक्ति स्वयं में ही होती है। अपने आचरण से भिन्न किसी आचार का पालन करने में न भटकना ही श्रेयस्कर है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं मे उस का समान रूप रहता है। उसी को जाग्रतावस्था में विश्व कहते हैं, स्वप्नावस्था में वही तैजस् और सुषुप्ति में प्राज्ञ कहा जाता है। अवस्थाओं के भेद से ही साधक मे भी विभिन्न भेद होते है। कार्य-भेद ही कारण-भेदहै। चौदह करणों वाली बाह्याभ्यांतरिक वृत्तियों का कारण एक ही है। मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त यह चारों भीतरी वृत्तियाँ कही गई हैं। सब वृत्तियों के स्वभावानुकूल ही आचार मे भेद उत्पन्न हो जाता है ॥ २४ ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २५ ॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षास्ति चेत् तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैः उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छवालंकारवत्। चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरः। न प्रणवकीर्तनपरः। यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत, कालमेवप्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति ॥ २६ ॥

जाग्रतावस्था में विश्व नेत्र में स्थित है। स्वप्नावस्था में तैजस् कंठ में स्थित है और सुषुप्तावस्था में प्राज्ञ हृदय में स्थित है। तुरीय मस्तक में स्थित है। 'जाग्रत आदि अवस्थाओं को प्रकाशित करने वाला तुरीय स्वरूप अक्षर ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार जानने वाला पुरुष जागृत अवस्था में भी सुषुप्तावस्था का आचरण करता है और सभी सुनी-देखी वस्तुओं को न सुनी न देखी के समान मानता है। वह अपनी स्वप्नावस्था में भी तद् रूप बना रहता है। ऐसे ही पुरुष को ज्ञानियों ने जीवन्मुक्त कहा है। सभी श्रुतियाँ उसकी मुक्ति का ही प्रतिपादन करती हैं। संन्यासी को इहलोक के विषयों की तो इच्छा नहीं ही रहती, वह परलोक के विषयों की भी कामना का त्याग कर देता है। यदि उनकी कामना शेष हो तो उसे अपनी कामना के अनुसार ही बनना होता है। अपने रूप के चिंतन को त्याग कर अन्य शास्त्रों का अभ्यास करना, ऊँट की पीठ पर लदे हुए केसर के गट्ठे के समान ही निरर्थक समझना

चाहिए। उसे न तो योगशास्त्र में प्रवृत्त होना चाहिए और न सांख्य शास्त्र में। मंत्र-तन्त्र में पड़ना भी उसके लिए निषिद्ध है। अन्य शास्त्रों में संन्यासी की प्रवृत्ति मृतक पर धारण किये जाने वाले आभूषण के समान माननी चाहिए। चर्मकार के समान दूर रहता हुआ कर्म, विद्या तथा आचार आदि से परे ही रहना चाहिए। उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण भी नहीं करना चाहिए। मनुष्य को अपने किये हुए कर्म का परिणाम प्राप्त करना होता है इसलिए सभी कर्मों का उसी प्रकार त्याग कर दे जिस प्रकार रेंडी के तेल में आए हुए झाग निःसार होने से त्याग दिये जाते हैं। संन्यासी को आत्म चिंतन ही परम लक्ष्य है। दिगम्बर संन्यासी आदर्श के अनुरूप ही आचरण करे। वह बालक, पागल या पिशाच के समान जीवन या मरण की कामना न करे। जैसे भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है वैसे ही 'काल आने पर चल देंगे' इस प्रकार इच्छा-अनिच्छा न रखे ॥२५—२६॥

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।
भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥२७॥

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन
न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥ २८ ॥

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञिकान् ॥ २९ ॥

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः ।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३० ॥

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥३१॥

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३२ ॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥ ३३ ॥
अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैस्को यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ३४ ॥

संन्यासी के लिए तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणों का पालन उचित है । जो इन गुणों को छोड़ कर केवल भिक्षा-वृत्ति से पेट पालता है, वह संन्यास वृत्ति को नष्ट करने वाला है । केवल सिर मुँडाने, दण्ड धारण आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं होती । दण्डी तो वही है जिस के पास ज्ञान रूप दण्ड है । मन में सब इच्छाऐं जाग्रत हैं, ज्ञान का अभाव है और काठ का दण्ड धारण कर रखा है, ऐसा आडम्बर करने वाला मनुष्य घोर नरक का अधिकारी होता है । ऋषिगण प्रतिष्ठा को शूकरी के मल के समान घृणित कहते हैं । इस लिए संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह सर्व प्रथम इस प्रतिष्ठा का ही त्याग करे और कीट की भाँति निरभिमान विचरे । दिगम्बर संन्यासी किसी से कुछ न माँगे, स्वतः ही जो प्राप्त हो उसी से निर्वाह करे । वह दूसरे के कहने पर ही स्नान तथा वस्त्र धारण करे । जो संन्यासी स्वप्न में जाग्रत के समान अधिक सतर्क रह कर वैसी ही चेष्टा करता है, वह ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ होता है । भिक्षा प्राप्त न होने पर दुःख न हो और प्राप्त होने पर प्रसन्नता का अनुभव न करे । जीवन-निर्वाह हो सके, उतनी ही भिक्षा ग्रहण करे । सम्मान प्राप्ति के प्रति उदासीन रहे । क्योंकि मानापमानयुक्त शब्दों में आसक्त होने वाला संन्यासी मुक्त होकर भी बंधन में फंस जाता है ॥ २७—३४ ॥

प्राणयात्रनिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्गृहान् ॥ ६५ ॥

पाणिपात्रं चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्भुज्याच्चरन्भुज्यान्मध्ये नाचमनं तथा ।। ३६ ।।
अब्धीव धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ।। ३७ ।।
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। ३८ ।।
अनिन्द्यं वै व्रजन्गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ।। ३९ ।।
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।। ४० ।।

संन्यासी को उत्तम वर्ण के गृहस्थों के घरों से ही भिक्षा लेनी चाहिए । जब चूल्हे की अग्नि शान्त हो ले और सब भोजन कर लें तभी भैक्षाटन करे । भिक्षा केवल जीवन-निर्वाह के निमित्त ही माँगनी चाहिए । जो संन्यासी अपने हाथ को ही पात्र मान कर विचरण करते हैं वे बारम्बार भिक्षा न माँगें । एक बार में जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसे खड़े-खड़े या चलते-चलते ही खा लेना चाहिए । हाथ का भोजन समाप्त होने पर ही जल पीवे । संन्यासी समुद्र के समान मर्यादित रहे । वे महान् आशय वाले होते हैं और सूर्य जैसे निश्चित मार्ग पर चलते हैं, वैसे ही नियत मार्ग का पालन करे । जब वह गो मुख के समान आचरण करने लगता है तब वह सभी प्राणियों को समान रूप से मानता है । उस समय वह अमृतत्व को प्राप्त होता है । निन्दित घरों से भिक्षा न ले । अनिंदित एवं सद्गृहस्थों से ही भिक्षा ग्रहण करे । जिस घर के किवाड़ बंद हों, उस घर में न जाय । धूल भरे निर्जन घर में ही ठहरे अथवा वृक्ष की जड़ पर निवास करे । संन्यासी को भली-बुरी सभी भावनाओं का त्याग कर देना चाहिए ।। ३५—४० ।।

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः ।
कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२ ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥
निर्मानिश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥ ४४ ॥
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।
काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ४५ ॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥ ४६ ॥

जहाँ सूर्य डूब जाय, उसी स्थान पर सोवे । अपने लिए गृह आदि न बनावे और न अग्नि ही रखें । जो कुछ मिल जाय, उसी को खा कर सन्तोष करे । मन और इन्द्रियों पर सदा नियंत्रण रखे । गृह त्याग कर वन में रहे । इन्द्रियों का संयम रखे और ज्ञान से परिपूर्ण रहता हुआ विचरण करे तथा काल की प्रतीक्षा करे । ऐसा संन्यासी अवश्य ब्रह्मभाव को पाता है । जो सब प्राणियों को अभय देता हुआ घूमता है,वह किसी प्राणीसे कभी भय को प्राप्त नहीं होता, जो प्रतिष्ठा और अहङ्कार को छोड़ कर द्वन्द्व से परे हो जाता है और मन के सब संदेहों को दूर कर, क्रोध-रहित, द्वेष-रहित, असत्य-भाषण से शून्य होता हुआ श्रेष्ठ स्थानों में भ्रमण करता और जो मिले उसी पर सन्तोष कर अहिंसा का पूर्ण पालन करता है, वह संन्यासी ब्रह्मभाव की प्राप्ति का पूर्ण अधिकारी होता है । संन्यासी को वानप्रस्थ और गृहस्थ से संसर्ग नहीं रखना चाहिए । अपनी जीवनचर्या को यथा सम्भव गुप्त

रखे । वह कभी हर्षावेश में न पड़े । कीड़े के समान शान्त रहे और सूर्य द्वारा प्रकाशित मार्ग पर विचरण करे ॥ ४१—४६ ॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ४७ ॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ ४८ ॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥ ४९ ॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ ५० ॥
न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ ५१ ॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥ ५२ ॥
बुधो बालकवत्क्रीडः कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ ५३ ॥
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा ।
ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥५४॥
विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥
संमाननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ ५६ ॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥ ५७ ॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ५८ ॥

कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः ॥ ५६ ॥

संन्यासी का कर्तव्य है कि कामना, हिंसा और सांसारिक पदार्थों के संग्रह में मोह आदि से सम्बन्धित जितने कर्म हैं उन्हें त्याग दे और दूसरों के द्वारा भी न करावे । सत्य-रहित शास्त्रों में मन न लगावे तथा जीविकोपार्जन के लिए क्रय-विक्रय, व्यवसाय, वाणिज्य आदि कोई कर्म न करे । किसी से आवश्यकता से अधिक बात न करे। दो पक्षों में विवाद हो तो किसी का भी पक्ष न ले । शिष्य एकत्रित न करे । अनेक ग्रन्थों के अध्ययन में न पड़े और किसी ग्रन्थ की व्याख्या में अपना पक्ष प्रबल करने के लिए खींचतान से दूर रहे । विभिन्न आयोजनों द्वारा अपनी प्रसिद्धि न बढ़ावे । अपने आश्रम का कोई चिह्न विशेष न लगावे । दूसरों के सामने पागल या बालक के जमान अज्ञानी बना रहे । विद्वान् होकर भी गूंगे के समान मौनावलम्बी रहे । दूसरे लोग जैसा भाव रखें, उनके समक्ष वैसा ही बन जाय । भले-बुरे विचारों को मन में न आने दे, मूक रहे और कोई भी कर्म न करे । आत्मा मे ही रमा रहे । सर्वत्र जड के समान शान्त रहे । इन्द्रियों पर संयम रखे । वासना का त्याग करे और पृथिवी पर अकेला ही घूमे, किसी को साथी न बनावे । सब को समान रूप से देखे । बालक के समान चेष्टा करे । सभी कार्यों में कुशल होते हुए भी मूर्ख के समान बना रहे । वेदों का ज्ञाता हो तो भी गौ के समान निर्विकार रहे । सदा उन्मत्त के समान बात करे । दुष्टों द्वारा किये गए अपमान, मिथ्या आरोप, लांछन आदि को शान्त मन से सहन करले । वे मारें, बाँध रखें अथवा कार्य-कलाप में बाधा डालें तो भी अशान्त न हो । मूर्ख मनुष्य देह पर थूक दें, मल त्याग करें अथवा अन्य किसी प्रकार का कष्ट दें तो भी उसे सह ले । सङ्कट के उपस्थित होने पर अपना ही उद्धार करने का यत्न करे । दूसरों के द्वारा मिला हुआ आदर तपो-

पार्जन में हानिप्रद है। परंतु, अपमानित हुआ संन्यासी बहुत शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है। सन्यासी को उचित है कि वह किसी विपरीत आचरण द्वारा संन्यास-धर्म को कलङ्कित न करे। उसे तो ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे लोग उससे सम्पर्क स्थापित न करना चाहें अथवा उसका अपमान करते रहें। मन, वाणी और देह के द्वारा किसी भी जीवधारी के प्रति द्वेष न रखे और सब प्रकार की वासनाओं को छोड़ दे। जो संन्यासी कामादि दोषों का त्याग कर देता है, वह निडर हो जाता है ॥ ४७—५९ ॥

भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥ ६० ॥
काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा ।
भैक्षेण वर्तते नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित् ॥ ६१ ॥
चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः ।
तत्र प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित् ॥ ६२ ॥
वहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम् ।
सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥ ६३ ॥
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयन् ।
निर्वैरेण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु ॥ ६४ ॥
भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।
चिन्तयन्परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति इत्युपनिषत् ॥ ६६ ॥

संन्यासी का निश्चित धर्म भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त भोजन ग्रहण

करना, तप, करना, मौनावलम्बन, ज्ञानान्वेषण और विरक्ति-भाव है। वस्त्र गेरुआ पहिने, गाँव के किनारे, वृक्ष के नीचे अथवा किसी देव मंदिर में रहे। अपने समय को ध्यान-योग में लगाए रहे, भिक्षान्न से ही जीवन-यापन करे। किसी एक ही गृहस्थ का भोजन कदापि न करे। सदा अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय तभी संन्यास ले। फिर सब पापों या पाप-विषयक चर्चाओं से दूर रह कर मौनावलम्बी होकर विचरण करे। सर्वत्र बाहर भीतर ब्रह्म को ही देखे। दुःख-सुख को समान समझे। क्षमाभावी रहे। जो मिल जाय उसी भोजन पर सन्तोष करे। ब्राह्मण, गौ, अश्व, मृग आदि सब प्राणियों के प्रति समभाव रखे। स्वयं में परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का भाव रखे और ईश्वर को सर्वव्यापी माने। जो दण्डधारी संन्यासी सब कामनाओं से मुक्त होता अथवा दिगम्बर रह कर मन, वाणी, कर्म द्वारा विश्व प्रपंच को असार समझ उससे मुँह फेर लेता है, वह निश्चय ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ६०—६६ ॥

षष्ठोपदेशः

अथ नारदः पितामहमुवाच। भगवन् तदभ्यासाद्भ्रमरकीटन्यायवत्। तदभ्यासः कथमिति। तमाह पितामहः। सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥ १ ॥

ज्ञानं शरीरं, वैराग्यं जीवनं विद्धि, शान्तिदान्ती नेत्रे, मनो मुखम्, बुद्धिः कला, पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि, अवस्था पञ्चमहाभूतानि, कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः, चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीत्येवमपि नावमपि पङ्कं कर्णधार इव, यन्तेव गजम्, स्वबुद्ध्या स्ववशीकृत्य, अस्मद्व्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा, विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्याहरेन्नान्यत्किंचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण जीवन्मुक्तो भूत्वा वसेत्कृतकृत्यो भवति। न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरे-

त्किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तुरीयावस्थां प्राप्य तुर्यातीतत्वं व्रजेत् ॥ २ ॥

दिवं जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमिति । एकावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः । एकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापाराश्चक्षुरादीनाम् । चक्षुषो रूपग्रहणम्, श्रोत्रयोः शब्दग्रहणम्, जिह्वाया रसास्वादनम्, घ्राणस्य गन्धग्रहणम्, वचसो वाग्व्यापारः, पाणेरादानम्, पादयोः संचारः, पायोरुत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दग्रहणम्, त्वचः स्पर्शग्रहणम् । तदधीना च विषयग्रहणा बुद्धिः । बुद्धया बुध्यति । चित्तेन चेतयति । अहंकारेणाहंकरोति । विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति । गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीर जीवः संचरति । प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिः ईशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा ॥ ३ ॥

फिर ब्रह्मा जी से नारद जी ने प्रश्न किया—'भगवन् ! भ्रमरकीट न्याय से अपने रूप को जान लेने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु अपने रूप को जानने का अभ्यास किस प्रकार हो, यह बताने की कृपा करें।' इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'सत्य भाषण करे और ज्ञान-वैराग्य के द्वारा देह के प्रति अनासक्त हो जाय । इन विकारों के दूर होने पर अवशिष्ट रहे शरीर में स्थित हो ॥ १ ॥

वह अवशिष्ट शरीर ज्ञान है, उसका प्राण वैराग्य और शम, दम नेत्र हैं। शुद्ध हुआ मन मुख, बुद्धि कला और देह के अवयव पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, पञ्च विषय, चार अन्तःकरण और एक प्रकृति इस प्रकार पच्चीस हैं। उस देह के पञ्चभूत; जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत यह पाँच अवस्थाएँ हैं। शाखाएँ

कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य यह चार हैं। पूर्वोक्त चौदह करण कीच में खड़े हुए कमजोर खभों के समान हैं। जैसे चतुर मल्लाह दलदल में फँसी हुई नाव को कीचड़ से निकाल कर जल-मार्ग पर ले जाता है वैसे ही संसार रूप सागर के दलदल में फँसी हुई इस जीवन रूपी नाव को श्रेष्ठ बुद्धि से पार लगानी चाहिए। जैसे महावत हाथी को वश में रख कर उसे उचित मार्ग पर लाता है वैसे ही इस जीवन को उचित मार्ग पर लावे। इस ज्ञानमय शरीर को प्राप्त हुआ साधक अपने अतिरिक्त अन्य सब को कल्पित और नाशवान् समझता हुआ स्वयं में ब्रह्मभाव रखे। अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को जानने योग्य न समझता हुआ जीवन्मुक्त हो जाय। कभी भी अपने को ब्रह्म से पृथक् न समझे। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ही भाव रखे। जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था को भी पार कर लेने वाला योगी तुरायातीत अवस्था में प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

जाग्रत रूप दिन, स्वप्न रूप रात्रि और सुपुप्ति रूप अर्द्धरात्रि यह तीनों अवस्थाऐं तुरीय में स्थित हैं तथा तुरीय तुरायातीत में स्थित है। इस प्रकार एक में ही चारों अवस्थाऐं स्थित हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारों के वशवर्ती नेत्रादि चतुर्दश करण हैं। नेत्र रूप-ग्राहक है, कान शब्द सुनते है, हाथ वस्तुऐं उठाते, लेते हैं, पाँव चलते है, गुदा मल-त्याग रत और विपयेन्द्रिय आनन्द-रत रहती है। त्वचा स्पर्श-रत, बुद्धि विषय ग्रहण रत है। चेतना चित्त से, अहंता अहङ्कार से उद्भूत है। इन सम्पूर्ण भावों की उत्पत्ति द्वारा देहगत आत्माभिमान के कारण जीव तुरीय-चेतन हो जाता है। तुरीय-चेतन हुआ जीव उसी प्रकार विचरता है, जिस प्रकार घर के अहंभाव से मनुष्य गृहस्थ बनता है। देहगत अष्टकमलात्मक हृदय में निवास करने वाला जीव जब कमल के पूर्ववर्ती दल में भ्रमण करता है, तब वह पुण्यात्मक अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। जब वह आग्नेयवर्ती कोण

वाले दल में विचरण करता है, तब वह निद्रा और प्रमाद आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है। जब वह दक्षिणवर्ती दल में स्थित होता है, तब वह क्रूर हो जाता है। नैर्ऋत्य कोणस्थ दल में रहता है तब पाप–बुद्धि जाग उठती है। पश्चिमदल मे रहने पर क्रीडा में अनुरक्त होता है। वायव्य कोण का आश्रय लेता है तब गमन करता है। उत्तर दिशा के दल में जाने पर उसे शान्ति प्राप्त होती है तथा ईशान कोण में स्थित होता है तब वह ज्ञानी हो जाता है। कमल की कर्णिका में प्रविष्ट होने पर वह वैराग्यवान् होता है। कमल-केसर में जाने पर आत्मा का चिन्तन करता है। इस आत्मा मे चैतन्य ही मुख के समान प्रमुख है, उसके स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी तुरीयातीत अवस्था में रमण करता है ॥ ३ ॥

जीवदवस्था प्रथमं जाग्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम् । विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत् । नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्थाः । न त्वेवं तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य । स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते । उत तटस्थो द्रष्टा । तटस्थो न द्रष्टा । द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव । कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः । जीवेतरो न स्पृष्टः । जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न । जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः, शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद्व्यवधानोऽस्ति । व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वासव्यपदेशेनानुसंधानं करोति । एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥

जीव की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से परे तुरीयातीत अवस्था है। विश्व, तैजस्, प्राज्ञ और तटस्थ से एक ही आत्मा चार भेद वाला है। इस लिए स्वयं को ही एक ब्रह्म, सर्वसाक्षी, सत्त्वादि गुणों से परे माने। तुरीयातीत अवस्था वाले पुरुष को उपरोक्त चारों अवस्थाओं से परे मानना चाहिए। अन्यथा जैसे जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओं के अन्तर्गत प्रत्येक में चार-चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही तुरीयातीत में भी चार अवस्थाऐं होनी चाहिए थीं। परन्तु, यथार्थ में तुरीयातीत के निर्गुण होने से उसमें अवस्था भेद नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप विश्व, तैजस् और प्राज्ञ ब्रह्म हैं, सब अवस्थाओं में उनके साथ एक ही साक्षी रहता है। परन्तु तटस्थ ईश्वर द्रष्टा नहीं है, क्योंकि तटस्थ पुरुष मायाधारी ईश्वर के रूप में होते हैं, परन्तु उनका कोई द्रष्टा नही है इसलिए तटस्थ भी द्रष्टा नहीं हो सकता। कर्तत्व, भोक्तृत्व एवं अहंकार आदि वाला जीव भी द्रष्टा नहीं है। जीवेतर ब्रह्म उक्त दोषों से सम्पर्क नहीं रखता। देहाभिमान के कारण जीवत्व का अभिमान होने से जीव भी कर्त्तत्व आदि के संस्पर्श से परे नहीं है। महाकाश से घटाकाश के समान ही परमात्मा से जीवत्व का व्यवधान है। इस कारण ही यह हंस रूप प्राण उच्छ्वास और निःश्वास के रूप में 'सोऽहं' जपता हुआ अपने ही रूप को खोजता है। ऐसा मानकर ही देह में अभिमान व्यर्थ है। देहाभिमान न करने पर ही ब्रह्म होता है ॥४॥

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पिधाय बुद्धचा द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥ ५ ॥
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ ६ ॥
आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च।
महाजनेषु सिद्धयर्थी न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥ ७ ॥

यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥ ८ ॥
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ९ ॥
विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधूकरं चरेत् ।
गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥१०॥
दण्डभिक्षां च यः कुर्यात्स्वधर्मे व्यसनं विना ।
यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ११ ॥
यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद्भिक्षां च वासनात् ।
तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥ १२ ॥
यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ १३ ॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १४ ॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ १५ ॥
यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ १६ ॥
योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥ १७ ॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद ।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना ॥ १८ ॥
न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति तथा वान्यच्च नारदः ॥ १९ ॥

संन्यासी अनासक्त रह कर, क्रोध को जीते और स्वल्पाहार करता हुआ इन्द्रियों को नियंत्रित रखे । इन्द्रियों के द्वारों का अवरोध

कर आत्म चिन्तन ही उसका कर्त्तव्य है। योगानुरागी पुरुष को साधन में ही तत्पर रहना चाहिए। वह एकान्त स्थान में, जङ्गल या कन्दरा में रहे और चिन्तन में ही लगा रहे। उसे कभी श्राद्ध, यज्ञ, अतिथि-सत्कार, देवयात्रा आदि किसी प्रकार के उत्सव आदि में भाग नहीं लेना चाहिए। उसे तो लोगों से दूर रहने के लिए ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे कोई उसके पास जाना ही न चाहे और उसका अनादर ही करते रहें। जो वाणी रूपी दण्ड, मन रूपी दंड और कर्म रूपी दंड इन तीनों को नियंत्रित रख सकें यथार्थ में वही त्रिदण्डी संन्यासी है। श्रेष्ठ यती वही है जो चून्हे का धुंआ तक बंद हो जाने पर अर्थात् आंच बुझ जाने पर ही भिक्षाटन द्वारा रोटी आदि माँग कर खाता है। परन्तु जिसके मन में सन्यास नहीं होता फिर भी संन्यास ग्रहणकर भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करता है, वह निम्न श्रेणी का संन्यासी होता है। जिस घर से भिक्षा मिले उस घर में मोहवश कभी भी न जाय। जो स्वयं प्रकाश, विज्ञान स्वरूप, सुखमय, सर्वसाक्षी, देह-इन्द्रिय आदि से रहित ब्रह्म है उसे अपने ही स्वरूप में देखता है वही वर्णाश्रम से परे है, क्योंकि वर्ण और आश्रम का उद्भव माया से ही हुआ है। जो अपने को ही बोध रूप आत्मा और वर्णाश्रम से परे मानता है वह सच्चा संन्यासी है। आत्म साक्षात्कार के कारण जिसने वर्ण और आश्रम से संबंधित आचारों का परित्याग कर दिया है, यथार्थ में वही अपने रूप में स्थित है। ऐसे ही पुरुष के लिए वेदान्त वेत्ताओं ने अतिवर्णाश्रमी बताया है। शरीरगत होने पर सभी वर्ण एवं आश्रम आत्मा में आरोपित करना आत्मवेत्ता पुरुषों द्वारा व्यर्थ बताया जाता है। ब्रह्मज्ञानियों के लिए नियम, निषेध कुछ भी नहीं है। किसी वस्तु के त्याज्यात्याज्य होने का नियम उनके लिए नहीं है। वे तो सभी बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥५—१६॥

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि ।

घृणां विपाद्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादिकेष्वपि ॥ २० ॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविद व्रजेत् ॥ २१ ॥
सेवाभि परितोष्यैन चिरकालं समाहित ।
सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥ २२ ॥
निर्ममा निरहंकार सर्वसङ्गविवर्जितः ।
सदा शान्त्यादियुक्त सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥ २३ ॥
ससारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा ।
विरक्तस्य तु ससारात्सन्यास स्यान्न सशय ॥ २४ ॥
मुमुक्षु परहसाख्य साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञान वेदान्तश्रवणादिना ॥ २५ ॥
ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहससमाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभि. सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥२६॥
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रिय. ।
निर्भयो निर्ममो नित्य निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥२७॥
जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथवा भवेत् ।
प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहकृति ॥ २८ ॥
मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स सतरति नेतर. ॥ २९ ॥

ब्रह्म मे जिज्ञासा रखने वाला पुरुष कभी किसी पद की कामना न करे। वह ब्रह्मा के पद को भी न चाहे। पुत्र, धन आदि के प्रति अनासक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के साधन मे ही लगा रहे। हाथ मे कुछ भेट लेकर, किसी सत्गुरु के आश्रम मे जाकर उपनिषदो का ज्ञान प्राप्त करे। श्रद्धा पूर्वक गुरु के वाक्यार्थ को सुने-समझे। मोह और अहंकार को छोड कर गुरु-सेवा मे लगे। सब प्रकार की आसक्तियो का त्याग करे और शम-दम युक्त होकर अन्तर मे आत्मा को देखे। जन्म, बुढापा,

मौत आदि को देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और पूर्ण वैराग्य के उत्पन्न होने पर ही संन्यास लिया जा सकता है। मुमुक्षु परमहंस उपनिषद् आदि सुन कर मुक्ति प्राप्त कराने वाले ब्रह्मज्ञान का निरंतर अभ्यास करे। इस प्रकार के अभ्यासार्थ शम-दम आदि में प्रवृत्त रहे। ममता और भय का त्याग करे। संचयवृत्ति से दूर रहे। मूँड मुडा कर पुराने वस्त्र का कौपीन बनावे अथवा दिगम्बर ही रहे। ममत्व, अहंकार आदि को छोड़ कर मित्र शत्रु सब को समान मानता हुआ अपने अन्तःकरण को जो शान्त रखता है, वही संसार-सागर से पार हो जाता है ॥ २०—२९ ॥

> गुरूणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत्।
> नियमेष्वप्रमत्तास्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥ ३० ॥
> प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोममनुत्तमम्।
> अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥ ३१ ॥
> ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम्।
> आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥
> अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम्।
> त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥३३॥

गुरु के आश्रम में सेवा-रत जिज्ञासु एक वर्ष तक रहे। आश्रम के नियम-पालन में आलस्य न करे और ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि के पालन में सयत्न रहे। इस प्रकार के साधन द्वारा ज्ञान-योग को प्राप्त कर धर्म के अनुकूल चले। इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों का सेवन किया हुआ संन्यासी पृथिवी पर भ्रमण करता रहे। आसक्ति को छोड़ कर क्रोध को जीत ले; स्वल्पाहार करे तथा इन्द्रियों पर संयम रखे ॥ ३०—३३ ॥

> द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
> निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ३४ ॥

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३५ ॥
संभाषणं सह स्त्रीभिरालापप्रेक्षणं तथा ।
नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥ ३७ ॥
नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥ ३८ ॥
संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगीन्द्र वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥
न नाशयेद्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥४०॥
अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ ४१ ॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ४२ ॥

इत्युपनिषत् ॥

कर्म रत संन्यासी और कर्म-रहित गृहस्थ दोनों की शोभा तभी है, जब वे अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करें । मदिरा का पान करने पर मद की उत्पत्ति होती है, परन्तु युवती नारी के दर्शन-मात्र से ही उन्मत्तता हो जाती है, इसलिए ऐसी नारी के दर्शन तक संन्यासी को नहीं करने चाहिए, स्त्रियों से वार्तालाप, नृत्य, गान, परनिन्दा आदि से सर्वथा दूर रहे । उसके लिए तो स्नान करना, जप-पूजा-हवन करना, देवताओं का अर्चन, श्राद्ध तर्पण, व्रत और तीर्थयात्रा करना आदि भी आवश्यक नहीं है । धर्माधर्म और लोकाचार-पालन भी उसके लिए कर्त्तव्य नहीं है । उसे सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देना चाहिए ।

अपनी बुद्धि को पारमार्थिक कार्य मे लगावे और कभी किसी जीव की हिंसा न करे। मन को पवित्र रखे और बाहर से भी पवित्र रहे। पूर्ण शान्त रहता हुआ बुद्धि-आत्मा के आनन्द मे लीन रखे। हे नारद! अन्त करण से स्वच्छ रह कर और आसक्ति को छोड़ कर ससार में भ्रमण करो। जिस प्रदेश मे अराजकता फैल रही हो, उस प्रदेश मे सन्यासी विचरण न करे। वह श्राद्ध-तर्पण आदि से परे रहे और किसी की स्तुति अथवा नमस्कार की आकाक्षा न करे। निर्जन स्थान गिरि-कन्दरा आदि में रहे अथवा स्वच्छन्द रूप से भ्रमण करे ॥ ३४—४२ ॥

सप्तमोपदेशः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टं नारद पितामह पुरस्कृत्य। विरक्तः सन् यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेन्नैकत्र निवसेद्भिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमनविरोधग्रहणं न कुर्यात्, हस्ताभ्यां नद्युत्तरण न कुर्यात्, न वृक्षारोहणमपि, न देवोत्सवदर्शन कुर्यात्। नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्। स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्, कृशो भूत्वा, मेदोवृद्धिमकुर्वन्, आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्र। अन्नं पललमिव, गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव, क्षारमन्त्यजमिव, वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव, अभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव, मित्राह्लादक मूत्रमिव, स्पृहा गोमासमिव, ज्ञातचरदेश चण्डालवाटिकामिव, स्त्रियमहिमिव, सुवर्णं कालकूटमिव, सभास्थलं श्मशानस्थलमिव, राजधानी कुम्भीपाकमिव, शवपिण्डवदेकत्रान्नम्। देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्ति परित्यज्य, स्वदेशमुत्सृज्य, ज्ञातचरदेशं विहाय, विस्मृतपदार्थपुनःप्राप्तिहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरण मत्वा, स्वशरीर शवमिव हेयमुपगम्य, कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो

वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहरन्, ब्रह्मप्रणवध्यानानुसंधानपरो भूत्वा, सर्वकर्मविनिर्मुक्तक:, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा, त्रिगुणातीत:, षडूर्मिरहित:, षड्भावविकारशून्य:, सत्यवाक्, शुचि:, अद्रोही, ग्रामैकरात्रम्, पत्तने पञ्चरात्रम्, क्षेत्रे पञ्चरात्रम्, तीर्थे पञ्चरात्रम्, अनिकेत: स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव वा द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभि: नगरं चतुर्भिर्नगरमित्येक: चरेद्भिक्षु: चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यात् । अविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय, मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य, सर्वत: स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य, प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा, देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥ १ ॥

नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन् ! यति के नियमों पर प्रकाश डालिए ।' इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'वैराग्यवान् संन्यासी किसी एक स्थान पर वर्षाऋतु के चार महीने ही रहे । शेष आठ महीने तो उसे विचरण करना चाहिए । किसी एक स्थान पर अधिक न ठहरे अन्यथा धर्म-भ्रष्ट होने का भय रहता है । यदि कोई अधिक ठहरने का आग्रह भी करे तो उस आग्रह को न माने । नदी को हाथों से तैर कर पार न जाय । वृक्ष पर न चढ़े और किसी देवोत्सव अथवा मेले आदि में भी भाग न ले । आत्मा की ही उपासना करे किसी अन्य देवता की नहीं । एक घर मे ही अन्न ग्रहण न करे । आत्मा के अतिरिक्त किसी में आसक्ति न रखे । चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं को मल-मूत्र के समान त्याज्य समझे । क्षार को चाण्डाल के समान न छूने योग्य माने । कौपीन आदि के सिवाय अन्य वस्त्रों का उसी प्रकार त्याग करे जैसे जूठे वर्तनों को छोड़ दिया जाता है । अभ्यंग आदि से दूर रहे । मित्रों के साथ को आनन्दमय न माने, वरन् मूत्र के समान त्याग दे । स्पृहा को उत्पन्न न होने दे । परिचित

स्थान के उपयोग से दूर रहे। सभा-स्थल को श्मसान के समान समझे। स्त्री को भुजङ्गिनी के समान भयङ्कर माने। सुवर्ण को कालकूट विष और राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान समझे, एवं अन्न को मृतकको दिये जाने वाले पिण्ड के समान त्याज्य माने। देह को आत्मा से पृथक् न देखे और किसी विषय में न फँसे। अपने प्रदेश को छोड़ दे और परिचित स्थानों पर निवास करने की प्रवृत्ति में भी न पड़े। अपने ही आनन्दमय स्वरूप में, भूली वस्तु के प्राप्त होने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता रखे। जहाँ अपने कुटुम्बी एवं परिचित रहते हों, उस स्थान को त्याग कर बहुत दूर चला जाय। अपने देह को मृतक के समान त्याज्य माने और उसमें अनासक्त रहे। जैसे चोरी करने वाला पुरुष कारावास से मुक्त हो कर लज्जा के कारण अन्यत्र जाकर रहता है और किसी को मुख नहीं दिखाना चाहता, वैसे ही संन्यासी अपने स्त्री पुत्र आदि से दूर जाकर रहे और उन्हें अपना दर्शन न दे। बिना माँगे जो कुछ मिले ही उसे ही खा कर संतोष करले। सभी कर्मों को छोड़ कर ब्रह्मरूप प्रणव का ही चिन्तन करे। काम, क्रोध, लोभादि को भस्म करदे और भूख-प्यास आदि से व्याकुल न हो। जन्म, वृद्धि, जरा आदि भाव विकारों से भी दूर रहे। किसी से वैर न करे, देह और मन को पवित्र रखे तथा सत्यवादी रहे। ग्राम में एक रात्रि निवास करे। नगर, पुण्यक्षेत्र अथवा तीर्थ स्थान में भी पाँच रात्रियों से अधिक न ठहरे। अपने रहने के लिए गृह-निर्माण न करे। मिथ्या भाषण से दूर रहे और बुद्धि को परमात्मा के चिन्तन में लगाये रहे। घूमे तो सदा अकेला रहे और निवास करे तो किसी गिरिकन्दरा में। दो व्यक्ति साथ कभी न रहें। तीन व्यक्तियों का साथ ग्राम के समान और चार व्यक्तियों का साथ नगर के समान माना गया है। इसलिए अकेला ही रहना चाहिए। अपनी इन्द्रियों को विषय-चिन्तन का अवसर न दे और अपने से भिन्न किसी को न माने। किसी अन्य पदार्थ

की भावना न कर सब को आत्मवत् देखे। अपने स्वरूप से साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाय। अपने रूप का ज्ञान होने पर भी जब तक मृत्यु न आवे तब तक स्वरूप का ही चिन्तन करे। संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने आत्मा का भले प्रकार बोध प्राप्त करे ॥ १ ॥

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहूदकस्य द्विवारम्, हंसस्यैकवारम्, परमहंसस्य मानसस्नानम्, तुर्यातीतस्य भस्मस्नानम्, अवधूतस्य वायव्यस्नानम् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य, त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य, ऊर्ध्वपुण्ड्रत्रिपुण्ड्रं हंसस्य, भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य, तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रम्, अवधूतस्य न किंचित् तुरीयातीतावधूतयोः ॥ ३ ॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य, ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य, न क्षौरं हंसस्य, परमहंसस्य न च क्षौरम्, अस्ति चेदयनक्षौरं, तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम् ॥ ४ ॥

कुटीचक संन्यासी को तीनों समय स्नान करना चाहिए। बहूदक दो समय और हंस एक समय स्नान करे। परमहंस के लिए मानसिक स्नान का विधान है। तुरीयातीत भस्म रमाले, यही उसके लिए स्नान है। अवधूत वायु के स्पर्श से ही स्नान के समान शुद्ध हो जाता है ॥ २ ॥

कुटीचक ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड्र लगावे। बहूदक त्रिपुण्ड्र का प्रयोग करे। हंस ऊर्ध्वपुण्ड्र या त्रिपुण्ड्र तथा परमहंस केवल भस्म लगावे। तुरीयातीत के लिए तिलकपुण्ड्र का विधान बताया गया है। अवधूत के लिए किसी प्रकार का चिह्न लगाना आवश्यक नहीं है ॥ ३ ॥

कुटीचक दो-दो महीने से क्षौर करावे और बहूदक चार-चार महीने से क्षौर-कर्म करावे। हंस और परमहंस चाहें तो छः छः महीने के अन्तर से क्षौर करा सकते हैं। अवधूत और तुरीयातीत के लिए क्षौर अनावश्यक हैं ॥ ४ ॥

कुटीचकस्यैकान्नम्, माधूकरं बहूदकस्य, हंसपरमहंसयोः करपात्रम्, तुरीयातीतस्य गोमुखम्, अवधूतस्याजगरवृत्तिः ॥५॥

शाटीद्वयं कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकशाटी, हंसस्य खण्डम्, दिगम्बरं परमहंसस्यैककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वम् । हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥ ६ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनम्, हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनम्, तुरीयातीतावधूतयोः सोऽहंभावना ॥ ७ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारः, हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि । कुटीचकबहूदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥ ८ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः, हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः, तुर्यातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥ ९ ॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणम्, हंसपरमहंसयोर्मननम्, तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः । सर्वेषामात्मानुसंधानं विधिरिति ॥ १० ॥

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिः इत्युपनिषत् ॥ ११ ॥

कुटीचक को एक स्थान से लेकर खा लेना चाहिये । बहूदक को मधुकरी वृत्ति रखनी चाहिये । हंस और परमहंस को हाथ में भिक्षा लेनी, तुरीयातीत को गोमुख और अवधूत को अजगर वृत्ति से आहार ग्रहण करना ॥ ५ ॥ कुटीचक को दो वस्त्र, बहूदक को एक वस्त्र, हंस को एक टुकड़ा, परमहंस को एक कौपीन तथा तुरीयातीत और अवधूत को बिना वस्त्र के रहना ॥ ६ ॥ कुटीचक और बहूदक देवार्चन करें, हंस और परमहंस मानसिक अर्चना करें, तुरीयातीत तथा अवधूत

सोऽहं भावना रखें ॥ ७ ॥ कुटीचक और बहूदक को मंत्र जपने का अधिकार है; हंस परमहंस को ध्यान का अधिकार है; तुरीयातीत और अवधूत को महावाक्यों के उपदेश का अधिकार है। कुटीचक और बहूदक को उपदेश का अधिकार नहीं है ॥ ८ ॥ कुटीचक और बहूदक को साधारण प्रणव, हंस, परमहंस को आन्तरिक प्रणव और तुरीयातीत तथा अवधूत को ब्रह्म प्रणव करना ॥ ९ ॥ कुटीचक, बहूदक को श्रवण, हंस परमहंस को मनन, तुरीयातीत व अवधूत को निदिध्यास करना। सब को आत्मानुसंधान का लक्ष्य रखना। इस प्रकार सब को मोक्ष के लिये प्रयत्न करते रहना और सांसारिक विषयों से छुटकारा पाकर जीवन्मुक्त और कैवल्य की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ १०—११ ॥

अष्टमोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ। संसारतारकं प्रपन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे। ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टि। संहार-प्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधः। ब्रह्म-प्रणवोऽन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणव उभयात्मको विराट्प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्रा-प्रणवः ॥ १ ॥

नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया 'भगवन्! कौनसा मंत्र ऐसा है जो जरा-मरण रूप समुद्र से पार कर सकता है?' ब्रह्माजी बोले—'ऐसे प्रभाव वाला ब्रह्मस्वरूप ॐ ही तारक मंत्र है। इसका ही व्यष्टि और समष्टि में चिन्तन करे।' नारदजी के 'व्यष्टि और समष्टि' के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करने पर ब्रह्माजी पुनः बोले—'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणव के ही अङ्ग हैं। एक ब्रह्म-प्रणव संहार-प्रणव, सृष्टि प्रणव और उभयात्मक प्रणव इन तीन भेदों वाला है।

उभयात्मक प्रणव के बाह्याभ्यांतरिक दो भेद हैं। इसीलिए उभयात्मक कहा गया है। ब्रह्म प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव भी है। व्यष्टि प्रणव को ही बाह्य प्रणव कहा गया है। एक आर्ष प्रणव और है। उभयात्मक प्रणव को विराट् प्रणव भी कहते हैं। अकारादि चार मात्राओं वाले स्थूल आदि भेद से युक्त प्रणव को अर्द्धमात्रा प्रणव भी कहा जाता है ॥ १ ॥

ओमिति ब्रह्म ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्टधा भिद्यते । अकारोकारो मकारअर्धमात्रा नादबिन्दुकला शक्तिश्चेति । तत्र चत्वारः, अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः । सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः । यथा प्लुतो विराट्प्लुतप्लुतः संहारः ॥ २ ॥

ॐ ब्रह्म है। यही एकाक्षर मंत्र है तथा इसी को अन्तः प्रणव माना गया है। यह अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, विन्दु, नाद, कला और शक्ति इस प्रकार आठ भागों में विभक्त है। चार मात्रा का परिलक्षित होने वाले प्रणव की प्रत्येक मात्रा के भी अनेकानेक भेद हैं। अकार मात्र के ही दस सहस्र अवयव हैं । उकार के एक सहस्र और मकार के शत अवयव कहे गये है। अर्द्धमात्रा-प्रणव भी अनन्त अवयवों से सम्पन्न है। विराट् प्रणव सगुण और संहार प्रणव निर्गुण माना गया है। सृष्टि प्रणव सगुण-निर्गुण दोनों से ही संबंधित है । विराट प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि वाला है तथा संहार प्रणव चतुर्थमात्रात्मक अर्द्धमात्रा रूप वाला है ॥ २ ॥

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः । षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते । अकारः प्रथमः, ह्युकारो द्वितीयः, मकारस्तृतीयः, अर्धमात्रः चतुर्थः, बिन्दुः पञ्चमी, नादः

षष्ठी, कला सप्तमी, कलातीताष्टमी, शान्तिर्नवमी, शान्त्यतीता दशमी, उन्मन्येकादशी, मनोन्मनी द्वादशी, पुरी त्रयोदशी, मध्यमा चतुर्दशी, पश्यन्ती पञ्चदशी, परा षोडशी। पुनश्चतुःषष्टिमात्रः प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरशतभेदमात्रा-स्वरूपमासाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपैत्येकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥ ३ ॥

विराट् प्रणव षोडश मात्राओं से युक्त है। इसे छत्तीस तत्वों से परे बताया गया है। अकार इसकी प्रथम मात्रा हैं। उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, विन्दु, नाद, कला, कलातीता, शान्ति शान्त्यातीता, उन्मनी, मनोन्मनी, पुरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा इस प्रकार क्रमशः दूसरी से सोलहवीं मात्रा हैं। षोडश मात्राओं वाला यही ब्रह्म प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूप तुरीय से भिन्न न होने के कारण चौंसठ मात्राओं वाला हो जाता है। फिर प्रकृति और पुरुष रूप दो भेदों वाला होने पर एक सौ अट्ठाईस मात्राओं से सम्पन्न होता है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म प्रणव के सगुण, निर्गुण आदि रूप धारणपूर्वक तथा दृष्टि भेद से अनेकानेक रूप हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सर्वाधारः परं ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभु।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भित ॥ ४ ॥

सर्वाक्षरमय कालः सर्वागममय. शिव.।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः ॥ ५ ॥

भूतभव्यभविष्यद्यत्त्रिलोकादितमव्ययम्।
तदप्योंकारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥ ६ ॥

तदेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम्।
तदेकमजरममृतमनुभूय तथोमिति ॥ ७ ॥

सशरीर समारोप्त तन्मयत्व तथोमिति।
त्रिशरीरं स्वमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु ॥ ८ ॥

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।

ब्रह्म प्रणव रूप यह परमात्मा सर्व व्यापक है । यह परमज्योति स्वरूप एवं सब के आश्रयभूत हैं । सब देवता इन्हीं के स्वरूप हैं । यही सम्पूर्ण प्रपंच के आधार तथा सर्वाक्षर रूप हैं । यही कल्याणमय, और समस्त शास्त्रमय हैं । श्रुतियों में पुरुषोत्तम ब्रह्म एवं श्रेष्ठ तत्व के रूप में इन्हीं की खोज करे । समस्त उपनिषदों के वाच्यार्थ यही हैं । यही सर्व काल रूप हैं और भूत, भविष्यत्, वर्तमान युक्त त्रिकालात्मक जगत तथा त्रिभुवन से परे जो अविनाशी तत्व है, वह सब इन्हीं का स्वरूप है । इस प्रणव को ही मुक्तिदाता समझना चाहिए । प्रणव के अर्थभूत ब्रह्म ही आत्मा है । उस ब्रह्म का आत्मा में एकीभाव करके प्रणव को ही एक, जरारहित, अमृत रूप एवं चिन्मयतत्व मानो । फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप सम्पूर्ण दिखाई देने वाले प्रपञ्च का प्रणव में आरोप करे इस प्रकार इस विश्व को ॐ ही मानो और अपने आत्मा को त्रिविध देह रूप उपाधि सम्पन्न ब्रह्म मानो । इसी प्रकार आत्मा परमात्मा में दृढ़ एकीभाव स्थापित कर आत्मारूप ब्रह्म के चिन्तन का निरंतर अभ्यास करे ॥ ४—८ ॥

स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्परम् ॥ ९ ॥
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः ।
चतुष्पाज्जागरितस्थानस्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥ १० ॥
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।
स्थूलभुक्चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान् ॥ ११ ॥
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।
सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परन्तप ॥ १२ ॥
सूक्ष्मभुक्चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम् ।
हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥
कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन ।

स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥ १४ ॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी ।
नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥ १५ ॥
तथाप्यानन्दभुक्चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः ।
चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः ॥ १६ ॥

स्थूल और स्थूल जगत का तथा सूक्ष्म और सूक्ष्म जगत् का भोक्ता होने से और आनन्द तथा आनन्द स्वरूप का उपभोक्ता होने के कारण अथवा इन तीनों से भी अद्भुत होने के कारण इस आत्मा के चार भेद माने गए हैं। इन्हीं भेदों के कारण आत्मा चार पादों वाला कहा गया है। जाग्रत् अवस्था और उससे उपलक्षित जगत् जिसका देह है और जिसका ज्ञान ही इस स्थूल विश्व मे प्रसारित है तथा जो सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता है, जिसके मुख पञ्च कर्मेन्द्रिय आदि उन्नीस करण हैं और भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य एवं पाताल यह आठ लोक ही जिसके अङ्ग हैं । जिसकी अभिव्यक्ति स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी रूप में होती है। वही सर्व व्यापक विश्वरूप वैश्वानर ही ब्रह्म के प्रथम पाद माने गए है।

स्वप्न और उससे उपलक्षित सूक्ष्म विश्व में व्याप्त ब्रह्म सूक्ष्मप्रज्ञ हैं। उनका विज्ञान आन्तरिक जगत में व्याप्त हो रहा है । वे पूर्वोक्त आठ अङ्ग वाले, स्वप्नलोक में एकाकी ही हैं । वे सूक्ष्म तत्वों का अनुभव करने वाले एवं पालक हैं। उनके सूक्ष्मादि चार भेद हैं। प्रकाश के स्वामी होने से उन्हें तैजस् कहते हैं। वे सर्वभूताधिपति और हिरण्यगर्भ हैं। अन्तः प्रदेश में वास होने से यह सूक्ष्म है । इन्ही को परमात्मा का द्वितीय पाद कहा गया है।

सुषुप्तावस्था में मनुष्य कोई स्वप्न नहीं देखता और न किसी भोग की ही कामना करता है। ऐसी अवस्था और उससे उपलक्षित विश्व का प्रलय रूप जिनका स्थान है, जो द्वितीय एवं प्रज्ञानात्मक हैं

जो सुख रूप एवं नित्यानंदमय है, अन्तर्यामी रूप से स्थित, अपने ही रूप का आनन्दोपभोग करने वाले, अविनाशी, प्रकाश रूप मुख वाले तथा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूपों में जो अभिव्यक्त हैं, ऐसे वे प्राज्ञ ही परमात्मा के तृतीय पाद माने गए है ॥ ६—१६ ॥

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः ।
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥ १७ ॥
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।
तत्सुषुप्तं हि तत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥
चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम् ।
तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥ १९ ॥
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम् ।
विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम् ।
मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ ॥ २० ॥

इस प्रकार यह त्रिपाद परमात्मा ही सब के स्वामी हैं । यही सूक्ष्म रूप से चिन्तनीय, सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी हैं । यही जगत के कारण और प्राणियों की सृष्टि, स्थिति और लय के स्थल हैं । तीनों अवस्था वाला यह विश्व सुषुप्ति रूप ही है । यहाँ वस्तु के विपरीत दिखाई पड़ने के कारण यह स्वप्न के समान एवं मायामय ही है ।

उक्त तीन पादों के अतिरिक्त एक चतुर्थपाद है वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प भेद से चार रूप का है । उसे तुरीयापाद कहा गया है । यह सच्चिदानंद रूप है । इसके चारों भेद तुरीय ही हैं क्योंकि प्रत्येक रूप तुरीय में लीन हो जाता है । इस तुरीयपाद में ओत, अनुज्ञातृ अनुज्ञा यह तीनों भेद विकल्प ज्ञानात्मक हैं । इन सब को ही स्वप्नवत् अथवा माया ही समझे । इन विकल्पों से अतीत निर्विकल्प परमात्मा ही एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप हैं ऐसा निश्चय करना ही श्रेयस्कर है ॥ १७—२० ॥

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं म प्रज्ञं न कचिन्मुने ।। २१ ।।
नैवाप्रज्ञं नोभयत:प्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।
नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चाहष्टमेव च ।। २२ ।।

तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स ब्रह्मप्रणव: स विज्ञेयो नापरस्तुरीय: सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधार: स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाश: सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वात् । इत्युपनिषत् ।। २३ ।।

फिर श्रुति स्पष्ट कहती है कि जो न स्थूल का ज्ञाता है और न सूक्ष्म का ज्ञाता है तथा जो इन दोनों का ही ज्ञाता नहीं है, जो अधिक या न्यून नहीं जानता, बाहर का ज्ञाता है न भीतर का ज्ञाता है, जो प्रज्ञान रूप नहीं है, जो नेत्रों से नहीं देखा जाता, क्योंकि उसका कोई रूप नहीं है। जो न पकड़ा जा सकता है और न व्यवहार में आ सकता है। जो न किसी परिभाषा में आता है और न ध्यान में आता है। जिसका स्वरूप आत्म सत्ता का विश्वास ही है तथा जो प्रपञ्च से परे है, वह अद्वितीय एवं परम कल्याणमय तत्व ही उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इसी को ज्ञानीजन ब्रह्म प्रणव कहते हैं। मोक्ष की कामना करने वाले पुरुषों का आश्रयभूत यही है। वह परमब्रह्म होने से ही प्रतिष्ठित है। वही स्वयं प्रकाश एवं आकाश स्वरूप है ।। २१—२३ ।।

नवमोपदेशः

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारद: पप्रच्छ। तं होवाच पितामह: किं ब्रह्मस्वरूपमिति । अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ।। १ ।।

नारदजी ने पुनः पूछा—'भगवन् ! ब्रह्म का स्वरूप बताने का अनुग्रह करें ?' ब्रह्माजी कहने लगे—'नारद ! अपना रूप ही ब्रह्म है। जो अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है उसे मनुष्य नहीं, पशु ही समझना चाहिए। पशु केवल उन्हीं को नहीं कहते जो पशुओं की किसी योनि में ही उत्पन्न हुए हों, बल्कि जिन्हें किसी वास्तविकता का ज्ञान नहीं वही पशु है। जो पुरुष परब्रह्म को ही सर्वात्मा मानता है वह ज्ञानी पुरुष मृत्यु के मुख से बच जाता है। मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग है तो एकमात्र परमात्मा का ज्ञान ही है ॥१॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा
ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥
तमेकस्मिन् त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

काल, स्वभाव फल का कारण कर्म, आकस्मिक घटना, पञ्च-महाभूत या जीवात्मा इस विश्व का कारण है क्या ? नहीं, काल आदि

इस विश्व के कारणभूत नही हो सकते, वे सब चेतन आत्मा के ही आश्रित हैं। इस विश्व का कारण दुःख-सुख के कारण रूप प्रारब्ध के आधीन रहने वाला जीवात्मा भी नही हो सकता। ऐसा विचार कर उन जिज्ञासुओं ने ध्यान किया और स्वगुणावृत्त एवं स्वरूपभूत अचिन्त्य शक्ति से साक्षात् किया। वह शक्ति उन्ही परमात्मा की है जो एकाकी रह कर ही सम्पूर्ण कारणों को अपने अधीन रखते है। उन एक नेमि, तीन घेरे, षोडश शीश, पचास अरे, बीस सहायक अरे, छः अष्टक, एक पाश, अनेक रूप, तीन भेद वाले तथा एक नाभि वाले चक्र को उन जिज्ञासुओं ने देखा। हम उस नदी को जानते है जो पञ्चस्रोतो से निकलने वाले विषयात्मक जल से सम्पन्न है। वह पांच स्थानो से उद्भूत होकर प्रचण्ड वेग एवं टेढी-मेढी गति वाली है। पंच प्राण रूप तरगो से युक्त तथा मन रूप मूल वाली है। पाँच भँवर वाली, दुःख रूप पाँच प्रवाहो वाली, पाँच पर्व और पचास भेदों वाली है ॥२—५॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना
परे ब्रह्मणि तत्परायणाः ॥ ७ ॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बुध्यते
भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा
ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तदभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

सब प्राणियों के आश्रयभूत इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को फेरी दिलाते हैं । वह स्वयं को एवं सब को प्रेरणा देने वाले परमात्मा को पृथक्-पृथक् जानकर उन्हीं परमेश्वरमें अपनाया जा कर अमृतत्व को प्राप्त होता है। वेद में जिन परमात्मा का वर्णन है, वही सर्व श्रेष्ठ एवं तीनों लोकों में अविनाशी रूप से स्थित है। वेदवेत्ताजन अन्त-र्यामी रूप से स्थित परमात्मा का चिन्तन करते हुए उन्हीं में मिल गए । नाशवान् जड एवं अविनाशी जीवात्मा के व्यक्त-अव्यक्त रूप में स्थित इस संसार का धारण पोषण वे परब्रह्म परमेश्वर ही करते हैं और जीवात्मा सांसारिक विषयों का भोगने वाला होने के कारण प्रकृतिवश इसी के बन्धन में पड़ जाता है। परन्तु, उन परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है । ज्ञानी-अज्ञानी, समर्थ-असमर्थ इन दो प्रकारों के आत्मा हैं और प्राणी के लिए अनुकूल भोग्य वस्तु प्रकट करने वाली तृतीय शक्ति यह प्रकृति है । परब्रह्म सम्पूर्ण रूप वाले, कर्त्तापन के अभिमान से परे एवं अन्त-रहित हैं । जब मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को ही ब्रह्म रूप में पाता है, तब उसके सर्व बंधन कट जाते हैं। प्रकृति नाश होने वाली है परन्तु उसका भोक्ता आत्मा अविनाशी है, एकमात्र ईश्वर ही नाशशीला प्रकृति और अविनाशी आत्मा को अपने अधीन रखते हैं। मन को उन्हीं ईश्वर में लगा कर उनका निरन्तर चिन्तन

करने से अन्त में साधक उन्हीं को प्राप्त होता है। उस के लिए समस्त माया दूर हो जाती है ॥९—१०॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः
परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च
मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १३ ॥

उन प्रकाश स्वरूप परमात्मा के ध्यान करने मात्र से सभी बंधन दूर हो जाते हैं क्योंकि क्लेशों के मिटने पर जन्म-मरण का बंधन भी शेष नहीं रह सकता। ज्ञानी पुरुष देह-नाश के पश्चात् तृतीय लोक तक में अनासक्त रहता हुआ शुद्ध एवं पूर्ण काम होता है। वह ब्रह्म अपने में ही स्थित है, उनको ही पूर्ण रूपेण जानना चाहिए। ब्रह्म से अधिक जानने योग्य कुछ भी नही है। भोक्ता, भोग्य और प्रेरक परमात्मा इन्हें जान लेने पर सब का ज्ञान स्वतः हो जाता है। इन तीन भेदों में वह ब्रह्म ही वर्तमान है। उसकी प्राप्ति के मूल साधन तप और आत्म-ज्ञान ही हैं ॥ ११—१३ ॥

स एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयन् 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' । तस्माद्विराड् भूतं भव्यं भविष्य-द्भवत्यनश्वरस्वरूपम् ॥ १४ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य
जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १५ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ १६ ॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १७ ॥
सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं
सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् ।
परात्परं परमं वेदितव्यं
सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम् ॥ १८ ॥
कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं
सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं
शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम् ॥ १९ ॥
स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं
पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम् ।
पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं
पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम् ।
परात्परं यन्महतो महान्तं
स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥ २० ॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतःप्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः ॥ २२ ॥

जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानता हुआ अपने स्वरूपभूत ब्रह्म का ही ध्यान करता है, उसके लिए फिर कैसा मोह और कैसा शोक ? भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप त्रिकालात्मक विश्व अविनाशी ब्रह्म का ही रूप है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान् से भी महान् वह ब्रह्म प्राणी के हृदय मंदिर में विराजमान है। वही सब का जन्मदाता और रक्षक है, उसी की कृपा से मनुष्य संकल्पातीत परमात्मा के दर्शन करता हुआ उसकी महिमा को जानता है। ऐसा पुरुष सब प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। वह हाथ-पाँव आदि से परे होकर भी सब वस्तुओं को ले लेता और द्रुत वेग से चलता-फिरता है। बिना नेत्रों के ही वह सब कुछ देख लेता और बिना श्रोत्रों के ही सुनता है। सभी ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञाता है, परन्तु उसे भले प्रकार कोई भी नहीं जान पाता। ज्ञानी जन उसे पुराण पुरुष बतलाते हैं। वह इन नाशवान् देहों में बिना शरीर के निवास करता है। जो उसे जान लेता है वह शोकान्वित नहीं होता। वह सभी का धारक, पोषक है और वह अचिन्त्य शक्ति वाला है। सभी शास्त्रों द्वारा उसी की सत्ता का प्रतिपादन हुआ है। वही परब्रह्म के रूप में जानने योग्य है और संसार के प्रलय काल में भी वही ज्ञातव्य है। वही पुरुषों में श्रेष्ठ एवं त्रिकालदर्शी है। सब का ईश्वर और देवताओं द्वारा भी पूजित है। उसका आदि, मध्य अथवा अन्त नहीं है। वही अविनाशी ब्रह्म विष्णु, शंकर कमलोत्पन्न ब्रह्मा रूपी वृक्ष का आविष्कारक है। पञ्च भूतात्मक प्रपञ्च को उसी ने अपने अंशों से व्याप्त कर रखा है। परन्तु इन पञ्च भूतात्मक अवयवों से वह स्वयं प्रभावित नहीं होता। वह स्वयं प्रकाशमान, सनातन, कल्याण स्वरूप एवं अत्यन्त महान् है। जिसके आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं, जिस की इन्द्रियाँ असंयमित हैं, जिसका चित्त चंचल है, ऐसा मनुष्य ज्ञान का अभाव रहने के कारण इस ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता। वह भीतर, बाहर अथवा उभयबाह्याभ्यंतर को नहीं जानता। वह स्थूल,

सूक्ष्म, ज्ञान रूप, अज्ञान रूप भी नहीं है और न वह ग्रहण किया जा सकता है। वह किसी प्रकार भी व्यवहृत नहीं हो सकता। वह आंतरिक रूप से स्वयं स्थित है। इस प्रकार उसे जानने वाला ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ १४—२२ ॥

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति, भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठतिः गमनविरोधं न करोति। स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसंधानं कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य मामोहितः। परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी। धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति। तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः। सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। तत्कैवल्यम्। इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

जो संन्यासी अपने रूप को जानता है वह एकाकी ही घूमता है। जैसे डरा हुआ हरिण कभी एक स्थान पर नहीं रहता, वैसे ही वह कभी एक स्थान पर नहीं ठहरता। अन्यत्र न जाने के अनुरोध को भी वह नहीं मानता। सब वस्तुओं को त्याग देता है और भिक्षावृत्ति से पेट भरता है। वह सदा अपने ही रूप का ध्यान करता है और सभी प्राणियों को अपना आत्मा ही मानता है। ऐसा आचरण करने वाला संन्यासी सर्व बन्धन मुक्त होता है। वह क्रिया और कारक में भेद नहीं मानता। गुरु, शिष्य और शास्त्र के बंधन भी उसे नहीं बाँधते। वह संन्यासी त्यागी कभी दुःखादि से पीडित नहीं होता। इस सांसारिक ऐश्वर्य का त्याग करने पर ही संन्यासी सुखी हो सकता है। वह ब्रह्मज्ञान रूप ऐश्वर्य से युक्त होकर ज्ञान और अज्ञान से भी परे हो जाता

है। उसे दुःख-सुख नहीं व्यापते। अपनी आत्मा से ही प्रकाश प्राप्त करके जाबने योग्य पदार्थों को जान लेता है। वह सब सिद्धियों के देने में समर्थ होता हुआ सब का ज्ञाता और सब का स्वामी होता है। वह अपने को ही ब्रह्म मानता है। भगवान् विष्णु का परमपद वह परब्रह्म ही है। जो उसे प्राप्त कर लेता है वह पुनः संसार में नहीं आता। उस परमलोक में सूर्य-चन्द्र अपना प्रकाश नहीं पहुँचा सकते। वहाँ जाने वाला आवागमन से छूट जाता है क्योंकि वही कैवल्यपद है॥ २३॥

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् समाप्त ॥

पैङ्गलोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण मे से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्तिः शांतिः शांति ।

प्रथमोऽध्यायः

अथ ह पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशवर्षशुश्रूषा-पूर्वकं परमरहस्यकैवल्यमनुब्रूहीति पप्रच्छ ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दपरिपूर्णं सनातनमेकमेवा-द्वितीयं ब्रह्म ॥ २ ॥

तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुष-रेखाऽऽदिवल्लोहितशुक्लकृष्णा गुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूल-प्रकृतिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं यत्तात् साक्षिचैतन्यमासीत् ॥३॥

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्याऽऽवरण-शक्तिरासीत् । तत्प्रति बिम्बितं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत् । स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिलयानामादिकर्ता जगदङ्कुर-रूपो भवति । स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति । प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः प्राणिकर्मक्षयात् पुन-स्तिरोभावयति । तस्मिन्नेवाखिलं विश्वं संकोचितपटवद्वर्तते ॥ ४ ॥

ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षे-

पशक्तिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्धिरण्यगर्भचैतन्यमासीत् । स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति ॥ ५ ॥

पैङ्गल ऋषि याज्ञवल्क्य के यहाँ गये और बारह वर्ष तक उनकी सेवा सुश्रूषा करने के पश्चात् उन्होंने कहा—"मुझे परम रहस्य कैवल्य का उपदेश दीजिये" ॥ १ ॥ तब याज्ञवल्क्य ऋषि कहने लगे—पहले केवल सत् ही था । वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान, आनन्द से पूर्ण, सनातन एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म है ॥ २ ॥ उसमें मरभूमि में जल अथवा सीप में चाँदी, स्थाणु में पुरुष, स्फटिक में रेखा के आभास के समान लाल, श्वेत और कृष्ण (सत्-रज-तम) गुण वाली मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था में थे । उस में जो प्रतिबिम्बित हुआ वही साक्षी चैतन्य हुआ ॥ ३ ॥ वह मूल प्रकृति फिर जब विकार युक्त हुई तब वह सत्व गुण वाली आवरण शक्ति हुई जिसे अव्यक्त कहते हैं । उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ वह ईश्वर चैतन्य हुआ । वह सर्वज्ञ, माया को आधीन रखने वाला, सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कर्ता, जगत का अंकुर रूप है । वही अपने भीतर छिपे हुये जगत का आविर्भाव करने वाला है । वह प्राणियों के कर्मानुसार जिस प्रकार इस विश्व रूपी पट को फैलाता है उसी प्रकार प्राणियों के कर्मों का क्षय होने पर फिर उसे समेट लेता है । उसीमें समस्त विश्व लपेटे हुये वस्त्र के समान रहता है ॥ ४ ॥ ईश्वर में अधिष्ठित आवरण-शक्ति से रजोगुणमयी विक्षेप शक्ति होती है जिसे महत् कहते हैं । उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह चैतन्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है । वह महत् तत्व वाला कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट आकार का होता है ॥ ५ ॥

हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तितस्तमोद्रिक्ताहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत् । तत्प्रतिबिम्बित यत्तद्विराट्चैतन्यमासीत् । स तदभिमानी स्पष्टवपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति । तस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायो-

रग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति ॥ ६ ॥

स्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत । सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वेस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भुवनोचितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत् ॥ ७ ॥

स पञ्चभूतानां रजोंऽशांश्चतुर्धा कृत्वा भागत्रयात् पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणमसृजत् । स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत् ॥ ८ ॥

स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चवृत्त्यात्मकमन्तःकरणमसृजत् । स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्यसृजत् ॥ ९ ॥

सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत् । तानि सृष्टान्यण्डे प्राक्षिपत् । तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्य तान्यतिष्ठन् । तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत् । हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया सूक्ष्माण्यपालयत् ॥ १० ॥

हिरण्यगर्भ में रहने वाली विक्षेप शक्ति से तमोगुण युक्त अहङ्कार माम वाली स्थूल शक्ति का आविर्भाव होता है। उसमें जो प्रतिविम्बित हुआ वह विराट चैतन्य कहा जाता है। उसका अभिमानी स्पष्ट आकार का सर्व स्थूल जगत का पालनकर्ता प्रधान पुरुष 'विष्णु' होता है। उसकी आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई। फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी—यह पाँच तन्मात्र तीन गुण वाले हुये ॥ ६ ॥ जब उस जगतकर्ता को सृष्टि रचने की इच्छा हुई तो उसने तमोगुण में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म

तन्मात्राओं को स्थूल पंचभूतों में परिणित करने की कामना की। सृष्टि किये हुये भूतों मे से एक-एक के दो भाग कर दिये फिर उन में से एक के चार-चार भाग किये। तब प्रत्येक भूत के आधे भाग में अन्य भूतों के आठवें भाग को मिलाकर सब का पंचीकरण किया और इस पंचीकृत भूतों से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना की, उनके उपयुक्त चौदह भुवन बनाये और उन भुवनों के उपयुक्त स्थूल शरीरों की रचना की ॥ ७ ॥ पंचभूतों के रजोगुण वाले अंश के चार हिस्से करके तीन हिस्से से पाँच प्रकार के प्राण और चौथे से कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न किया ॥ ८ ॥ इसी प्रकार पंचभूतों के सतोगुण वाले अंश के चार भाग करके उनमें तीन भाग द्वारा पाँच क्रियावृत्ति वाला अन्तःकरण और चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न किया ॥ ९ ॥ सत् अंश के समिष्ट से पाँचों इन्द्रियों के देवता उत्पन्न करके उनको ब्रह्माण्डों में स्थापित कर दिया। उसकी आज्ञा से वे सब ब्रह्माण्डों में व्याप्त होकर रहने लगे और अहङ्कार से युक्त विराट स्थूल जगत की रक्षा करने लगा। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म सृष्टि का पालन करने लगा ॥ १० ॥

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डं ब्रह्मरन्ध्राणि व्यष्टिमस्तकान् विदार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत् स्वस्वकर्माणि चक्रिरे ॥ ११ ॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमत्। शरीरत्रयतादात्म्यात् कर्तृभोक्तृत्वतामगमत्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति ॥ १२ ॥

ब्रह्माण्ड में स्थित वे उसके बिना गमनशील न हो सके न चेष्टा कर सके। उसने उनको चैतन्य करने की कामना की और समस्त व्यष्टि का मस्तक विदीर्ण करके ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मरंध्रों में प्रवेश किया।

तब जड़ होते हुये भी वे चेतन के समान कर्मशील हो गये ॥ ११ ॥ सर्वज्ञ ईश्वर माया से समन्वित होकर व्यष्टि देह में प्रविष्ट हुआ और मोहवश जीवभाव को प्राप्त होगया । तीन प्रकार के शरीरों से तादात्म होकर वह कर्तापन और भोक्तापन का अनुभव करने लगा । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा, मरण धर्म को प्राप्त करके उद्विग्न होकर घटिका यंत्र (समय सूचक घड़ी) अथवा कुम्हार के चक्र की तरह जगत में फिरने लगा ॥ १२ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूपं विविच्य कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम् । ईशः पञ्चीकृतमहाभूतलेशानादाय व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रममकरोत् । कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः । रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अबंशाः । क्षुत्तृष्णोष्णमोहमैथुनाद्या अग्न्यंशाः । प्रचारणोत्तारणश्वासादिका वाय्वंशाः । कामक्रोधादयो व्योमांशाः । एतत्संघातं कर्मसंचितं त्वगादियुक्तं बाल्याद्यवस्थाऽभिमानास्पदं बहुदोषाश्रयं स्थूलशरीरं भवति ॥ २ ॥

अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टितः प्राणमसृजत् । प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणवृत्तयः । नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया उपप्राणाः । हृदासननाभिकण्ठसर्वाङ्गं स्थानम् । आकाशादिरजोगुण तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियमसृजत् । वाक्पाणिपादपायूपस्थास्तद्वृत्तयः । बचनादानगमनविसर्गानन्दास्त द्विषयाः । एवं भूलसत्त्वांशभागत्रयसमष्टितोऽन्तःकरणम-

सृजत् । अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्वृत्तयः । संकल्पनिश्चयस्मरणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः । गलवदननाभिहृदयभ्रूमध्यं स्थानम् । भूतसत्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियमसृजत् । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणास्तद्वृत्तयः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तद्विषयाः ।

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥ ३ ॥

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च कोशाः । अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः । तदेव स्थूलशरीरम् । कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः । ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः । ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः । एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम् । स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोशः । तत् कारणशरीरम् ॥ ४ ॥

अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम् ॥५॥

पैंगल ऋषि ने फिर याज्ञवल्क्यजी से पूछा कि "समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला ईश्वर किस प्रकार जीव भाव को प्राप्त होता है ?" ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्य ने कहा—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उद्भवपूर्वक जीव और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करके तुझको बतलाता हूँ उसे ध्यान लगाकर सुनो । ईश्वर ने व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों को पंचीकृत महाभूतों का अंश लेकर क्रमशः उत्पन्न किया है । कपाल, चर्म, आतें, अस्थि, मांस और नख ये पृथ्वी के अंश से हैं । रक्त, मूत्र, लार, पसीना आदि जल के अंश से हैं । भूख, प्यास, उष्णता, मोह, मैथुन आदि अग्नि के अंश से हैं । चलना, उठना बैठना सांस लेना आदि वायु के अंश से हैं । आकाश के

अंश काम,, क्रोध आदि हैं। इस भाँति इन सब के संघात व कर्म से निर्मित त्वचा आदि से युक्त बाल्यावस्था आदि की भावना वाला, बहुत से दोषों का आश्रय रूप यह स्थूल शरीर होता है ॥ २ ॥ फिर अपंचीकृत महाभूतों के रजांश के तीन भागों को लेकर प्राण की रचना की गई। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्राण और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय—ये पाँच अप्राण हैं। हृदय, मुख, नाभि, कण्ठ ये सब शारीरिक अङ्ग उनके स्थान हैं। आकाशादि पंच महाभूतों के चतुर्थ भाग से कर्मेन्द्रियाँ बनाई गई जो वाणी, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ हैं। वचन, दान, गमन, विसर्जन और आनन्द इन इन्द्रियों के विषय हैं। इसी प्रकार महाभूतों के सत् अंश के तीन भागों से अन्तःकरण उत्पन्न किया। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और अन्तःकरण उसकी वृत्तियाँ हैं। सङ्कल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान और अनुसंधान उनके कार्य है। गला, मुख, नाभि, हृदय, भौंहों का मध्य उनके स्थान हैं। सत्—अंश के चतुर्थ भाग से ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न कीं जो कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण है। इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु (यम), चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, शंभु—ये इन इन्द्रियों के अधिपति हैं ॥ ३ ॥ अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये पाँच कोश हैं। अन्न के रस से बनने वाला, अन्न के रस से बढ़ने वाला और अन्न रसमय पृथ्वी में ही लय होने वाला अन्नमय कोश है। यही स्थूल शरीर होता है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच प्रकार के प्राणों का प्राणमय कोश होता है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन का मनोमय कोश होता है और ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि होने से विज्ञानमय कोश होता है। ये तीनों कोश मिलकर लिंग शरीर होता है। जिसमें स्वरूप का अज्ञान होता है वह आनन्दमय कोश है और यही कारण शरीर है ॥ ४ ॥ इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच भूत,

चार अन्तःकरण, काम, कर्म, अविद्या—इनको पुर्यष्टका कहते हैं ।।५।।

ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत् । विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानी कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति ।। ६ ।।

ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वमगमत् । तैजसः प्रातिभासिकः स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति ।। ७ ।।

ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्वमगमत् । प्राज्ञोऽविच्छिन्नः पारमार्थिकः सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति ।। ८ ।।

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां जगुः नेतरयोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः ।। ९ ।।

अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यं यत् तदेवावस्थात्रयभाग्भवति । स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति ।। १० ।।

ईश्वर की आज्ञा से व्यष्टि में प्रविष्ट होकर विराट ने बुद्धि में रह कर विश्व की संज्ञा प्राप्त की । विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जागृत स्थूल देहाभिमानी, कर्म भू—ये विश्व के नाम हैं ।। ६ ।। ईश्वर की आज्ञा से सूत्रात्मा व्यष्टि सूक्ष्म देह में प्रवेश करके, मन के अधिष्ठान से तैजस हुआ । तैजस, प्रातिभासिक, स्वप्नकल्पित ये तैजस के नाम हैं ।। ७ ।। ईश्वर की आज्ञा से माया की उपाधियुक्त अव्यक्त व्यष्टि के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर प्राज्ञ हुआ । प्राज्ञ, अविच्छिन्न, पारमार्थिक, सुषुप्ति का अभिमानी—ये प्राज्ञ के नाम हैं ।। ८ ।। परमार्थिक जीव, जो अव्यक्त के अंश रूप अज्ञान से ढका होता

हैं, ब्रह्म का अंश ही होता है, जैसा कि 'तत्वमसि' आदि वाक्यों से प्रकट होता है। पर व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक अंश ब्रह्म से ऐसी एकता नहीं रखते ॥ ९ ॥ अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है वही जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है। चैतन्य ही इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होकर घटी-यंत्र के समान उद्विग्न होता है और मृतक से समान हो जाता है ॥ १० ॥

अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणावस्थाः पञ्च भवन्ति। तत्तद्देवताऽनुग्रहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषय-ग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति। तत्तत्फलभुक् च भवति। लोकान्तरं गतः कर्मार्जितफलं स एव भुङ्क्ते। स सार्वभौमवत्व्यवहाराच्छ्रान्त अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥ ११ ॥

करणोपरमे जाग्रत्संस्कारार्थप्रबोधवत्ग्राह्यग्राहकरूपस्फु-रणं स्वप्नावस्था भवति। तत्र विश्व एव जाग्रत्व्यवहारलोपान्ना-डीमध्यं चरंस्तैजसत्वमवाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन् यथेप्सितं स्वयं भुङ्क्ते ॥ १२ ॥

चित्तैककरणा सुषुप्त्यवस्था भवति। भ्रमविश्रान्त-शकुनिः पक्षौ संहृत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुङ्क्ते ॥ १३ ॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा और मरण—ये पाँच अवस्थाएं कही जाती हैं। जाग्रत अवस्था वह है जिसमें कान, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने देवताओं की शक्ति से युक्त होकर विषयों को ग्रहण करती हैं। उस अवस्था में जीव भौंहों के मध्य में निवास करता

है, पर मस्तकसे लेकर चरण तक समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और कृषि से लेकर श्रवण तक अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के सब कामों को करता है और उनका फल भी प्राप्त करता है। इन कर्मों का फल उसे परलोक में भी भोगना होता है। वह एक सार्वभौम राजा के समान सांसारिक कार्यों से थक कर भीतर के विश्राम स्थान में जाने की कामना से मार्ग में ठहरता है॥ ११॥ जब इंद्रियां अपनी क्रिया बन्द कर देतीं हैं तब जाग्रत अवस्था के संस्कारों से ग्राह्य ग्राहक रूप जो स्फुरणा होती है वह स्वप्नावस्था है। उस अवस्था में विश्व नामका जीव जाग्रत अवस्था के व्यवहार का लोप करके नाड़ी के मध्य तैजस भाव को प्राप्त होता है। वह अपनी वासना के अनुसार अपने ही आभास से विचित्र जगत की सृष्टि करके स्वयं ही इच्छानुसार उस का भोग करता है॥ १२॥ सुषुप्ति अवस्था में चित्त ही एक कारण होता है। जिस प्रकार भ्रमण करके श्रान्त होने पर पक्षी पङ्ख समेट कर घोंसले की ओर जाता है, वैसे ही जीव भी जाग्रत और स्वप्न के प्रपंचों से थक जाने पर अज्ञान में प्रवेश करके आनन्द को भोगता है ॥ १३॥

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्भयाज्ञानाभ्यामिन्द्रिय-संघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति॥ १४॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छाऽवस्थानामन्या ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्तं सर्वजीवभयप्रदा स्थूलदेहविसर्जनी मरणावस्था भवति ॥ १५॥

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान् प्राणान् संहृत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति॥ १६॥

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा

जायते । तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित् पृच्छति ॥ १७ ॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति । तस्मात् सदा विचारयेत् । अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते । तस्मात् सदा विचारयेज्जगज्जीवपरमात्मनः । जीवभाव-जगद्भावबाधे प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति ॥ १८ ॥

दण्ड या मुगद्र का अकस्मात प्रहार किये हुये व्यक्ति के सदृश्य भय और अज्ञान से जिसकी सब इन्द्रियाँ काँप रही हों ऐसी मृततुल्य अवस्था मूर्छा है ॥ १४ ॥ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्छा से भिन्न मरण अवस्था है जिससे कीड़े से लेकर ब्रह्मा•तक को भयभीत होना पड़ता है और स्थूल देह का नाश हो जाता है ॥ १५ ॥

उस समय कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्रायें और प्राण—इन सब को सङ्कल्पित करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या से आवेष्टित होकर अन्य देह को प्राप्त करके परलोक गमन करता है । पूर्व कर्मों के फल को भोगने में फँसे रहने से वह उसी प्रकार शान्ति नहीं पाता जिस प्रकार भँवर में फँसा हुआ कीड़ा ॥ १६ ॥ जब सत्कर्मों के परिपाक से अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की भावना मोक्ष की तरफ होती है तब वह किसी सद्गुरु का आश्रय लेकर चिरकाल तक उनकी सेवा करके बन्धन से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ अविचार से बन्धन होता है और सुविचार से मोक्ष होती है, इसलिये सदा उत्तम विचार करना चाहिये । स्वरूप का निश्चय आध्यारोप और अपवाद से किया जाता है । इस प्रकार जगत, जीव और ईश्वर के जीव भाव और जगतभाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा से अभिन्न केवल ब्रह्म ही शेष रहता है ॥१८॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—तत्त्वमसि, त्वं तदसि, त्वं ब्रह्मास्यहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात् ॥ २ ॥

तत्र परोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति । स एवान्तःकरणसंभिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्यया लम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति । परजीवोपाधिमायाऽविद्ये विहाय तत्त्वंपदलक्ष्य प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥ ३ ॥

तत्त्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति । एकान्तेन श्रवणार्थानुसंधानं मननं भवति । श्रवणमनननिर्विचिकित्सेऽर्थे वस्तुन्येकतान तया चेतःस्थापनं निदिध्यासनं भवति । ध्यातृध्याने विहाय निवातस्थितदीपवद्ध्येयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥ ४ ॥

तदानीमात्मगोचरवृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवन्ति । ताः स्मरणादनुमीयन्ते । इहानादिसंसारे संचिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति । ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदाऽमृतधारा वर्षति । ततो योगवित्तमाः समाधि धर्ममेघं प्राहुः । वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलिते प्राक् परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते । तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥ ५ ॥

फिर पैंगल ने याज्ञवल्क्य से कहा—'मुझे महावाक्यों का भावार्थ समझाइये ? ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्य बोले—'तत्वमसि' (वह तू है) 'त्वं तदसि' (तू वह है) 'त्वं ब्रह्मासि' (तू ब्रह्म है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)—ये महावाक्य है, जिनके सम्बन्ध में विचार करना

चाहिये ।। २ ।। 'तत्वमसि' में 'तत्' पद से सर्वज्ञता आदि लक्षण वाला, माया की उपाधियुक्त, सच्चिदानन्द रूप, जगत का मूल स्थान, ऐसे अव्यक्त ईश्वर का बोध होता है। अन्तःकरण की उपाधि के कारण वही ईश्वर भिन्नता का बोध होने से 'त्वम्' पद द्वारा भी प्रकट किया जाता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की अविद्या है, इनको छोड़ देने से 'तत्' और 'त्वम्' पदों का आशय उस ब्रह्म से है जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न है ।। ३ ।। इस प्रकार 'तत्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ श्रवण होता है । एकान्त स्थान में बैठकर इन महावाक्यों का अर्थानुसंधान करना ही मनन है । श्रवण और मनन द्वारा निर्णय की गई अर्थ स्वरूप वस्तु में एकाग्रता पूर्वक चित्त को स्थापित करना निदिध्यासन कहा जाता है। जब धाता और ध्यान के भाव को छोड़कर केवल ध्येय में रहती हुई चित्तवृत्ति निर्वात स्थान में रखे दीपक की ज्योति के समान स्थिर हो जाती है तो वह समाधि की अवस्था होती है ।। ४ ।। उसमें वृत्तियाँ आत्माकार हो कर अगोचर हो जाती हैं और स्मृति से ही उनका अनुमान किया जाता है। इस अवस्था के होने से संसार में अनादिकाल से संचित होने वाले करोड़ों कर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर अभ्यास पटुता होने पर सदैव अमृत की सहस्रों धाराओं की वर्षा हुआ करती है। इसी लिये योगाविद समाधि को धर्म-मेघ कहा करते हैं। इसके द्वारा समस्त वासना जाल निःशेष हो जाते हैं, पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं और तब 'तत्वमसि' पद का जो आशय पहले विचार द्वारा परोक्ष रूप से ज्ञात होता था वह अब हथेली पर रखे आमले की तरह बिना किसी अवरोध के स्पष्टतः ज्ञात होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, जिससे योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ।। ५ ।।

ईशः पञ्चीकृतभूतानामपञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत । ब्रह्माण्डतद्गतलोकान् कार्यरूपांश्च कारणत्वं प्रापयित्वा ततः

सूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणचतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते। विराड्ढिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात् परमात्मनि लीयन्ते ॥ ६ ॥

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवकर्मसंचितस्थूलदेहः कर्मक्षयात् सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरणं प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं कूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते। विश्वतैजसप्राज्ञाः स्वस्वोपाधिलयात् प्रत्यगात्मनि लीयन्ते ॥ ७ ॥

अण्डं ज्ञानाग्निना दग्धं कारणैः सह परमात्मनि लीनं भवति। ततो ब्राह्मणः समाहितो भूत्वा तत्त्वंपदैक्यमेव सदा कुर्यात्। ततो मेघापायेंऽशुमानिवात्माऽऽविर्भवति ॥ ८ ॥

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्।
अंगुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ॥ ९ ॥
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत् कूटस्थमव्ययम्।
ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैव चासुप्तेरामृतेस्तु यः ॥ १० ॥
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्।
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ११ ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ १२ ॥ इति ॥

जब ईश्वर ने पञ्चीकृत भूतों को फिर अपञ्चीकृत करने की कामना की तो उसने ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत लोकों को कार्य रूप से फिर कारण रूप में प्राप्त करा दिया। सूक्ष्म कर्मेन्द्रियों, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और चारों अन्तःकरण को एकत्र करके समस्त भौतिक

पदार्थों को उनके कारणभूत पञ्चक मे मिला दिया। तत्पश्चात् भूमि जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश अहङ्कार में, अहङ्कार महत् मे, महत् अव्यक्त में और अव्यक्त पुरुष में क्रम से लय हो गये। विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियाँ न रहने से परमात्मा में लीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥ पञ्चीकृत महाभूतों द्वारा बना और संचित कर्मों से प्राप्त स्थूल देह बन्धनकारी कर्मों के क्षय होने तथा सत् कर्मों का परिपाक होने से अपञ्चीकृत होकर सूक्ष्म में मिल कर कारण रूप को प्राप्त हो जाता है। फिर वह कारण के कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में लय हो जाता है। विश्व में तैजस और प्राज्ञ भी अपनी उपाधियों के नष्ट हो जाने से प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥ ब्रह्माण्ड अपनी कारणरूप अविद्या के साथ ज्ञानाग्नि में भस्म हो कर परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्मरत पुरुष) को समाहित भाव से सदैव 'तत्' और 'त्वम्' पदों का एक्य करते रहना चाहिये। ऐसा करने से आत्मा का साक्षात्कार उसी प्रकार होने लगता है जिस प्रकार मेघों के हटने से सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है ॥ ८ ॥ कलश के मध्य में रखे हुये दीपक के सदृश्य शरीर में रहने वाले निर्धूम ज्योति रूप अंगुष्ठमात्र आत्मा का ध्यान करे ॥ ९ ॥ अन्तःप्रदेश में स्थित प्रकाशयुक्त कूटस्थ अव्यय आत्मा का जो ज्ञानी पुरुष सोने के समय तक सदैव और मृत्यु के समय भी ध्यान करता रहता है उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिये। वह धन्य है, वह कृतकृत्य है। जीवन्मुक्त अवस्था के समाप्त होने पर वह इस देह को त्याग विदेह मुक्त की अवस्था को उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे पवन का बहना बन्द हो जाय ॥ १०—११ ॥ फिर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से रहित अव्यय, नित्य, अनादि, अनन्त, महत् से पर और ध्रुव ऐसा निरामय ब्रह्म ही शेष बच जाता है ॥ १२ ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथ ह पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरिति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—अमानित्वादिसंपन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति । ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥ २ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः ॥ ४ ॥
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः ।
ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ५ ॥

पैंगल ऋषि ने फिर याज्ञवल्क्यजी से पूछा कि "ज्ञानियों के कर्म और उनकी स्थिति कैसी होती है ? ॥ १ ॥ याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो मुमुक्षजन अमानित्वादि साधन सम्पन्न होने हैं वे अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देते हैं। ब्रह्म को जान लेने से एकसौ पीढ़ी तर जाती हैं ॥ २ ॥ यह आत्मा ही रथी है और शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और मन लगाम है ॥ ३ ॥ इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषय रूप मार्ग पर चलते हैं । पर बुद्धिमान का हृदय इन सब से हट कर विमान के समान उड़ता है ॥ ४ ॥ महान् ऋषियों के कथानानुसार यह आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता बनता है और हृदय में साक्षात् नारायण निवास करते हैं ॥ ५ ॥

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोकवद्व्यवहरति ।
चन्द्रवच्चरते देही स मुक्तश्चानिकेतनः ॥ ६ ॥
तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम् ।
प्राणानवकीर्य याति कैवल्यम् ॥ ७ ॥

तं पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत् ।
पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन ॥ ८ ॥
नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदक क्रिया ।
न कुर्यात् पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे ॥ ९ ॥
दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥ १० ॥

जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता तब तक जीव सांप के कैंचुली बदलने के समान अन्य देह धारण करता रहता है। पर जो चन्द्रमा के समान क्रमशः कर्म क्षय की ओर बढ़ते जाते हैं वे मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥ ऐसा योगी चाहे तीर्थ स्थान में और चाहे चाण्डाल के घर में प्राण-त्याग करे, वह सदैव कैवल्य को ही प्राप्त होता है। उसकी देह को चाहे जङ्गल में डाल रखा जाय चाहे गाढ़ दिया जाय, सब समान ही है। यह विधि संन्यासी के लिये ही है किसी अन्य के लिये नहीं ॥ ८ ॥ जो संन्यासी ब्रह्मीभूत हो चुका है उसके लिये सूतक, दाह, कर्म, पिंण्ड, तर्पण, श्राद्ध आदि किसी की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ९ ॥ जिस प्रकार जले हुये को फिर नहीं जलाया जाता और पके हुये फिर पकाना अनावश्यक है, इसी प्रकार जो ज्ञान रूपी अग्नि से दग्ध हो चुके है उनके लिये श्राद्ध और क्रिया कर्म की कोई आवश्यकता नहीं ॥ १० ॥

यावच्चोपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् ।
गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम् ॥ ११ ॥

शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मि सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति ॥ १२ ॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ? एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ? ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न

किंचित् कर्तव्यमस्ति । तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्भवति । दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जित. पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥ १३ ॥

हृदयं निर्मल कृत्वा चिन्तयित्वाऽप्यनामयम् ।
अहमेव पर सर्वमिति पश्येत् पर सुखम् ॥ १४ ॥
यथा जले जल क्षिप्तं क्षीरे क्षीर घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्ताद्वज्जीवात्मपरमात्मनो ॥ १५ ॥

जब तक सासारिक उपाधि का नाश न हो तब तक गुरु की सेवा करनी चाहिये और उनके समान ही गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र में भी व्यवहार करना चाहिये ॥ ११ ॥ "मैं ही शुद्ध मन वाला, शुद्ध चैतन्य रूप, सहिष्णु हूँ—मैं ही सहिष्णु हूँ" इस प्रकार के ज्ञान का जब उदय हो जाय; ज्ञान के अनुभव से ज्ञेय रूप परमात्मा हृदय मे भली प्रकार आरूढ हो जाय, देह शान्तियुक्त पद को प्राप्त हो जाय, तब साधक मन और बुद्धि से रहित चैतन्य रूप हो जाता है ॥ १२ ॥ जो व्यक्ति अमृतपान करके तृप्त हो चुका उसे दूध से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार जो आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके हैं उनको वेदो से क्या प्रयोजन हो सकता है ? जो योगी ज्ञानामृत से तृप्त हो चुका उसके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नही रहता और यदि शेष रहे तो वह पूर्णज्ञानी नही है। वह दूर होने पर भी समीप ही है और पिण्ड मे रहते हुये भी पिण्ड से पृथक सर्वव्यापी प्रत्यगात्मा है ॥ १३ ॥ हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिये कि "मैं ही सर्व-रूप ब्रह्म हूँ, मैं ही परम सुख रूप हूँ ॥ १४ ॥ जल मे जल डालने से, दूध मे दूध मिला देने से, घी मे घी मिलाने से वे एक रूप हो जाते हैं उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने पर उनमें भी कोई अन्तर नही रहता ॥ १५ ॥

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान् ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत् ॥ १६ ॥

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम् ।
यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथाऽऽत्मरूपो निरुपाधिसंस्थितः ॥ १७ ॥

आकाशवत् सूक्ष्मशरीर
आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा ।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा
ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा ॥ १८ ॥
यत्रयत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं व्योम तत्रतत्र लयं गतः ॥ १९ ॥
घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः ।
स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ २० ॥

जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि अखंडाकार हो जाती है तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञानरूपी अग्नि से कर्म-बन्धनों को भस्मसात कर देता है ॥ १६ ॥ फिर वह विमल वस्त्र के समान होकर पवित्र और अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने सत्य स्वरूप में स्थित हो जाता है जैसे जल दूसरे जल में मिल कर अभिन्न हो जाता है ॥ १७ ॥ आत्मा आकाशवत् सूक्ष्म और वायु के समान दिखाई न पड़ने वाली है। वह भीतर और बाहर से भी निश्चल है केवल ज्ञान रूपी मशाल से ही वह देखी जा सकती है ॥१८॥ ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी देह त्याग करे, वह ब्रह्म में ही मिल जाता है क्योंकि जैसे आकाश सर्वत्र है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है ॥ १९ ॥ जैसे घटाकाश आकाश में समाया रहता है उसी प्रकार जो योगी अपने वास्तविक तत्व को जान लेता है वह सब ओर से निरालंब और ज्ञान स्वरूप ब्रह्म के प्रकाश को प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः ।
एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २१ ॥
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत् सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥ २२ ॥
विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वाऽपि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्रजालानि यत् सत्यं तदुपास्यताम् ॥ २३ ॥
अनन्तकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च ।
तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ॥ २५ ॥

चाहें कोई एक पैर पर खड़े रह कर एक सहस्र वर्ष तक तप करे तो भी वह ध्यान योग की सोलह में से एक कला की समता भी नही कर सकता ॥ २१ ॥ यदि कोई समस्त ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहे तो एक हजार वर्ष तक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी उसका अन्त नही मिल सकेगा ॥ २२ ॥ इसलिये मनुष्य को यही जान लेना चाहिये कि केवल एक अक्षर ब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य का जीवन चंचल है इसलिये शास्त्रों के जाल मे न पड़ कर, जो सत्य है उसकी उपासना ही कर्तव्य है ॥ २३ ॥ तरह-तरह के कर्म, शौच, जप, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि तभी तक है जब तक तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती ॥ २४ ॥ महात्मा पुरुषों की मोक्ष का आधार यह भाव ही होता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" बन्धन और मोक्ष के कारण दो ही पद है एक "मेरा है" और दूसरा 'मेरा नही है' ॥ २५ ॥

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।
मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ २६ ॥
यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत् परमं पदम् ।
यत्रयत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम् ॥ २७ ॥

तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ।
हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधाऽऽर्तः खण्डयेत्तुषम् ।
नाहं ब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ॥ २८ ॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स आदित्यपूतो भवति । स ब्रह्मपूतो भवति । स विष्णुपूतो भवति । स रुद्रपूतो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति । स सर्ववेदव्रत-चर्यासु चरितो भवति । तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसह-स्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जप्तं भवति । दश पूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति । स पङ्क्तिपावनो भवति । स महान् भवति । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयो-गिपातकेभ्यः पूतो भवति ॥ २९ ॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ३० ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ३१ ॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥

'मेरा' कहने से ही बन्धन होता है और 'मेरा नहीं है' कहने से मोक्ष प्राप्त होती है। जब मन उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है तब द्वैत-भाव मिट जाता है ॥ २६ ॥ जब उन्मनी भाव प्राप्त होता है तो परमपद की प्राप्ति हो जाती है। उस अवस्था में मन जहाँ रहता है वहीं परमपद है ॥ २७ ॥ परब्रह्म ही जहाँ-तहाँ स्थित है। जिस प्रकार कोई आकाश में घूँसा मारे अथवा चावल प्राप्त करने के लिये भूसी को कूटे उसी प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता उसका मुक्ति के लिये प्रयत्न निष्फल होता है ॥ २८ ॥ जो इस उपनिषद को नित्य पढ़ता है वह अग्नि, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के समान पवित्र होता है ।

वह सब तीर्थों में स्नान किये हुये के समान होता है। वह सब वेदों का ज्ञाता होता है। उसको समस्त वेदानुकूल व्रतों का फल प्राप्त हो जाता है। इसको इतिहास, पुराण आदि के पढ़ने तथा रुद्र के लाखों जप करने का फल प्राप्त हो जाता है। उसे दस हजार प्रणव के जप का फल प्राप्त होता है। उसकी दश पिछली और दश आगामी पीढ़ी पवित्र हो जाती हैं। उसके साथ बैठने वाले भी पवित्र हो जाते हैं। वह महान होता है। ब्रह्म हत्या, सुरापान, स्वर्ण की चोरी, गुरु स्त्री गमन आदि जैसे महापाप करने वालों की संगत के पाप से भी वह छूट जाता है ॥ २६ ॥ जिस प्रकार नेत्रों से समस्त आकाश दिखाई देना है उसी तरह वह विप्र (विद्वान) विष्णु पद को स्पष्ट देखता है ॥ ३० ॥ वे जागृत रह कर उस विष्णु पद की स्तुति कर उसको प्रकाशित करते हैं ॥ ३१ ॥ ॐ सत्य है, यह उपनिषद है।

॥ पैङ्गलोपनिषद् समाप्त ॥

महावाक्योपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगे । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

अथ होवाच भगवान्ब्रह्माऽपरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ।। १ ।। गुह्याद्गुह्यतरमेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या । सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ।। २ ।।

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याऽविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्या लोकाण्डस्तमोदृक् ।। ३ ।। तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम् । निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ।। ४ ।।

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा । विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम् ।। ५ ।। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां

समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माऽऽविर्भवति ॥ ६ ॥

किसी समय भगवान् ब्रह्मा ने कहा कि अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव परक उपनिषद् की व्याख्या करते है ॥ १ ॥ यह उपनिषद् साधारण पुरुषो को उपदिष्ट नही करना चाहिये क्योकि यह अत्यन्त ही गोपनीय है किन्तु सात्विक वृत्ति वाले अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुओ की सेवादि मे रत मनुष्य को इसका उपदेश करना चाहिये ॥ २ ॥ अन संसार की (प्रवृत्तियो की) बन्धन तथा मोक्ष की कारणभूत जो विद्या एवं अविद्या (ज्ञान व अज्ञान) रूप नेत्र है उन्हे उपसहृत करके भली भाति समझकर अविद्या रूपी जो नेत्र अर्थात् जिससे ससार की सत्यता का ज्ञान (प्रकाश आलोक) होता है उसे अन्धकारमय चक्षु समझना चाहिये । अर्थात् इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब असत्य है मिथ्या भ्रम मात्र है ॥ ३ ॥ यह आत्मतत्व का ढकने वाला जो तम है अविद्या है वही चराचर विश्व का शरीर से लेकर ब्रह्म पर्यन्त अखण्ड ब्रह्माण्ड मण्डल का कारणभूत है इसी से इन सत्व वस्तुओं की ब्रह्म भिन्न सत्ता का ज्ञान होता है । वेदो मे जो सकाम कर्तव्यो का निर्देश है उसका प्रकाशक कारणभूत भी यही तम अविद्या है ॥ ४ ॥ जब तक आत्मा के विषय मे यह ज्ञान न हो जाय कि यह आत्मा अन्धकारमय नही अपितु प्रकाश से (उस ब्रह्मसे) अभिन्न होने के कारण स्वय भी प्रकाश स्वरूप है, तब तक मनुष्य को विद्या का अभ्यास करना चाहिये । विद्या ही अविद्या से भिन्न चिदादित्व स्वरूप स्वय प्रकाश ज्योति स्वरूप है उसका मण्डल परमज्योति से युक्त है वही ग्रहण करने योग्य है क्योकि वह ब्रह्ममात्र पर आधारित है ब्रह्मस्वरूप ही है, अन्य कुछ नही ॥ ५ ॥ यह आदित्य स्वरूप ब्रह्म (नाडियो द्वारा श्वास-निश्वास रूप से) प्रत्येक शरीर मे स्थित है यह विना ही अधिक प्रयत्न के बिना ही जपादि कष्ट साधनो द्वारा प्राप्त किये जा सकने

वाला "हंस" नामक है। इसी का अंश अपने को मान कर तथा प्राण, अपान, श्वास-प्रश्वास द्वारा इसका ज्ञान कर चिरकाल तक साधन करने से इस विद्या द्वारा त्रिस्वरूप (समष्टि, व्यष्टि, तदैक्य रूप) आत्म ब्रह्म में ध्यान करने पर सत् चिद्, आनन्द स्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है ॥ ६ ॥

सहस्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलीया पारावारपूर इव। नैषा समाधिः। नैषा योगसिद्धिः। नैषा मनोलयः। ब्रह्मैक्यं तत् ॥ ७ ॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ॥ ८ ॥ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार। शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्रः। तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥ ९ ॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १० ॥

साऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावहोम् ॥ ११ ॥

एतदथर्वशिरोऽधीते। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। माध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥ १२ ॥

वह तत्वज्ञान वृत्ति हजारों सूर्यों के प्रकाश से युक्तसी निस्तरङ्ग समुद्र की जलराशि के समान ब्रह्ममात्र रस से परिपूर्ण तथा सर्वदा रहने वाली अर्थात् लय से हीन है। यह वृत्ति न तो समाधि है और न योगसिद्धि है, नहीं मनोलय है किन्तु यह प्रत्यक्ष ब्रह्म का एकात्म स्वरूप है ॥ ७ ॥ वह अविद्या से परे आदित्य स्वरूप है। जो कि सभी प्राणि समुदाय किंवा चराचर को मिथ्या विचार कर अपने तन्मात्र

स्वरूपको समझता है वह ही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करताहै ।।८।। ब्रह्माने भी यह पहले कहा है तथा दिशा उपदिशाओं तथा ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ने भी ऐसा ही कहा है। उस ब्रह्म को इस प्रकार समझने वाला विद्वान् परमात्म स्वरूप (अमृत स्वरूप) हो जाता है। अन्य कोई भी मार्ग अपने अर्थात् मोक्ष के लिये नहीं है ।। ९ ।। इन्द्रादि देवताओं ने भी ज्ञान यज्ञ द्वारा यज्ञ किया और जीवन्मुक्त कहलाये। वही जीवन्मुक्त धर्म रूप कार्य प्रथम हुए। जहाँ पहले साध्य मात्र रहते थे वहाँ पहुँच कर प्रकाशमान हो रहे हैं ।। १० ।। मैं वही चिदादित्य हूँ वही परं ज्योति हूँ वही शिव तत्व हूँ मैं वही आत्म ज्योति हूँ सब का प्रकाशक उस ब्रह्म का ही स्वरूप एवं उससे सर्वथा अभिन्न हूँ ।। ११ ।। यह उपनिषद् अथर्ववेद प्रविभक्त है। प्रातः इसे पढ़ने वाला रात्रि कृत पापोंसे मुक्त हो जाता है, सायं इसका अध्ययन करने वाला दिन में किये पापों से छूट जाता है। प्रातः सायं पढ़ने से बड़ा पापी भी निष्पाप हो जाता है। मध्याह्न में सूर्य सम्मुख पढ़ने वाला पांच महापातक (ब्रह्म हत्या सुरापान आदि) तथा उपपापों से भी छूट जाता है। तथा सभी वेदों के पारायण का पुण्य प्राप्त करता है एवं महाविष्णु के स्वरूप को प्राप्त करता है ।। १२ ।।

।। महावाक्य उपनिषद् समाप्त ।।

आत्मबोधोपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांतिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो; मन वाणी में स्थिर हो; हे स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिये मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो; मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्म पुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय । तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति ॥ १ ॥

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तटिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ॥ २ ॥

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥ ३ ॥

सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् ॥ ४ ॥

शोकमोहविनिर्मुक्तं विष्णुं ध्यायन् न सीदति द्वैताद्वैत-मभयं भवति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥५॥

हृत्पद्ममध्ये सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञानेत्रे प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ६ ॥ स एतेन प्रज्ञेनात्मना-ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदमृतः समभवत् ॥ ७ ॥ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन् मा देही स्वमानमृते लोके अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छन्त्यों नमः ॥ ८ ॥

ॐ प्रत्येक में व्याप्त आनन्द रूप ब्रह्म पुरुष है और 'अकार-उकार-मकार'—यह तीन अक्षर वाला प्रणव का स्वरूप है । यही प्रणव ॐ है । उसका जप करने से योगी सांसारिक बन्धनों से छूट जाते हैं। शङ्ख, चक्र, और गदा को धारण करने वाले नारायण को नमस्कार । इससे 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मंत्र का उपासक वैकुण्ठधाम को पाता है ।

अब जो यह हृदय कमल है, वह ब्रह्मपुर है । केवल वही बिजली अथवा दीपक के समान प्रकाशमान होता है । देवकी पुत्र ब्राह्मणों के हितैषी हैं, मधुसूदन ब्राह्मणों के लिये हितकारी हैं, कमल के समान नेत्र वाले विष्णु ब्राह्मणों के हितचिन्तक है और वे अविनाशी परमात्मा ब्राह्मण प्रिय है । सर्व भूतों में निवास करने वाले एक नारायण ही कारण पुरुष हैं; वे स्वयं कारण-रहित हैं, परब्रह्म हैं। वे ॐकार रूप हैं। इन विष्णु का ध्यान करने वाला शोक तथा मोह से मुक्त होकर दुःखी नहीं होता । द्वैत भी अद्वैत ही है और यही उभय रूप होता है । जो मनुष्य इस ब्रह्म में भेद देखता है, वह मृत्यु के पश्चात् मृत्यु को ही प्राप्त होता है । हृदय कमल के मध्य में जो सर्वस्वरूप ब्रह्म है, वही प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हुआ है । लोक प्रज्ञारूप नेत्र वाला है, प्रज्ञा ने प्रतिष्ठा पाई है और ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है । वह ज्ञानी इस उत्कृष्ट ज्ञान-

त्युक्त आत्मा के रूप में इस लोक से उत्क्रमण करके—ऊँचे पर जाकर स्वर्गलोक में सर्व कामनाओं को पाकर अमर होगया, अमर होगया । जहाँ नित्य ज्योति है, जिस लोक में सब तरफ से पूजा होती है, उस अमरलोक में तू मुझे स्वमान दे । इस अविनाशी लोक में—क्षर धर्म रहित लोक में और उस अक्षयलोक में वह जाता है । ॐ नमः ॥ १—८ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

प्रगलितनिजमायोऽहं निस्तुलदृशिरूपवस्तुमात्रोऽहम् ।
अस्तमिताहंतोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम् ॥ १ ॥
प्रत्यगभिन्नपरोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम् ।
समुदस्ताश्रमितोऽहं प्रविततसुखपूर्णसंविदेवाहम् ॥ २ ॥
साक्ष्यहमनपेक्षोऽहं निजमहिम्नि संस्थितोऽहमचलोऽहम् ।
अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम् ॥ ३ ॥
अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानन्दैकसिन्धुरेवाहम् ।
सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलितगुणजालकेवलात्माऽहम् ॥४॥
निस्त्रैगुण्यपदोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम् ।
कूटस्थचेतनोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम् ॥ ५ ॥

मेरी अपनी माया अत्यन्त गलित हो गई है, मैं अतुल दर्शन स्वरूप वस्तु मात्र हूँ; मेरी अहन्ता अस्त हो चुकी है और जगत, ईश्वर तथा जीव जैसे भेद मुझ में से नष्ट हो गये हैं ॥ १ ॥ मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा हूँ; मेरे लिये समस्त विधि निषेध नष्ट हो चुके हैं; मैंने आश्रम-धर्म को फेंक दिया है और मैं विशाल सुख से पूर्ण तथा ज्ञान स्वरूप हूँ ॥ २ ॥ मैं साक्षी हूँ, किसी भी अपेक्षा से रहित हूँ, अपनी महिमा में रहता हूँ, मैं अचल हूँ, मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ और मैं पक्ष-विपक्ष आदि भेद से रहित हूँ ॥ ३ ॥ मैं एक ज्ञानरूप रस वाला हूँ, मोक्ष के आनन्द का एक समुद्र ही हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ, मैं अक्षर हूँ, मेरे

में से गुणों का जाल गल कर गिर गया है और मैं केवल आत्मा रूप हूँ ॥ ४ ॥ मैं तीनों गुणों से रहित परम पद हूँ, मेरे उदर में अनेक लोकों की संख्या है; मैं कूटस्थ चेतन हूँ, क्रिया रहित धाम हूँ और अवितर्क्य हूँ ॥ ५ ॥

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्ति रेवाहम् ।
निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥ ६ ॥
निरवधिनिजबोधोऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम् ।
विभुरहमनवद्योऽहं निरवधिनिःसीमसत्त्वमात्रोऽहम् ॥७॥
वेद्योऽहमागमान्तैराराध्योऽहं सकलभुवनहृद्योऽहम् ।
परमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहम् ॥ ८ ॥
शुद्धोऽहमद्वयोऽहं संततभातोऽहमादिशून्योऽहम् ।
शमितान्तत्रितयोऽहं बुद्धो मुक्तोऽहमद्भुतात्माऽहम् ॥९॥
शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माऽहम् ।
शोधितपरतत्त्वोऽहं बोधानन्दैकमूर्ति रेवाहम् ॥ १० ॥

मैं एक हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ, निर्मल और निर्वाण मूर्ति हूँ, मैं अवयवों से रहित हूँ, मैं अजन्मा हूँ और केवल मात्र सतस्वरूप में सर्व का सार रूप हूँ ॥ ६ ॥ मैं अवधि रहित ज्ञान वाला हूँ, अत्यन्त शुभ भाव वाला हूँ, भेद पाने के लिये अतिशय अशक्य हूँ; मैं व्यापक हूँ, मैं निर्दोष हूँ और मैं अवधि तथा सीमा से रहित केवल तत्वरूप हूँ ॥ ७ ॥ मैं वेदान्त द्वारा जानने योग्य हूँ, आराधना करने योग्य हूँ; सब भुवनों में सुन्दर हूँ; मैं परमानन्द से व्याप्त हूँ और मैं परमानन्द रूप एक भूमास्वरूप हूँ ॥ ८ ॥ मैं शुद्ध हूँ; अद्वैत हूँ; निरन्तर भाव रूप हूँ; मैं आदि रहित हूँ; तीनों गुणों का अन्त मुझमें शमित हो गया है; मैं बद्ध, मुक्त और अद्भुत स्वरूप हूँ ॥ ९ ॥ मैं शुद्ध हूँ; मैं अन्तरात्मा हूँ, मैं सनातन विज्ञान का सम्पूर्ण रस आत्मा हूँ। मैंने परमतत्व को शोधा है और ज्ञान तथा आनन्द की एक मूर्ति ही मैं हूँ ॥ १० ॥

विवेकयुक्तिबुद्धयाऽहं जानाम्यात्मानमद्वयम् ।
तथाऽपि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते ॥ ११ ॥
निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा ।
सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम् ॥ १२ ॥
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ।
यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा ॥ १३ ॥
अद्वयानन्दरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत् त्रयम् ।
ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः ॥ १४ ॥
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा ।
तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा ॥ १५ ॥

मैं विवेक बुद्धि से आत्मा को अद्वैत जानता हूँ; तो भी बंध-मोक्ष आदि व्यवहार जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥ मेरी दृष्टि से प्रपञ्च दूर होगया है, तो भी सर्वकाल में वह सत्य जैसा जान पड़ता है । वास्तव में सर्प आदि में जैसे रस्सी का अस्तित्व है, वैसा ही प्रपञ्च का अस्तित्व है; केवल ब्रह्म-सत्ता ही प्रपञ्च के आधाररूप वर्तती है; जगत है ही नहीं ॥ १२ ॥ जिस प्रकार शक्कर गन्ने के रस से व्याप्त है, वैसे ही अद्वैत ब्रह्म के रूप में तीनों लोकों में मैं व्याप्त हूँ ॥ १३ ॥ जैसे समुद्र में बुलबुले से लेकर तरंगें तक कल्पित हैं, उसी प्रकार मेरे अन्दर ब्रह्मा से लेकर कीड़ा तक प्राणीमात्र कल्पित है ॥ १४ ॥ जिस प्रकार समुद्र तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करता, वैसे ही केवल आनन्द स्वरूप होने से मुझे विषयों के आनन्द की इच्छा नहीं होती ॥ १५ ॥

विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्द रूपतः ।
दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम ॥ १६ ॥
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ।
विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान् ॥ १७ ॥

आत्मानमपि दृष्ट्वाऽहमनात्मानं त्यजाम्यहन् ।
घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति ॥ १८ ॥
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ।
न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः ॥ १९ ॥
मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ।
प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः ॥ २० ॥

जैसे सम्पत्तिशाली को दारिद्रय की संभावना नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मानन्द में मग्न मुझको विषयों की संभावना नहीं हैं ॥ १६ ॥ बुद्धिमान मनुष्य विष और अमृत को देखकर जिस प्रकार विष का त्याग करता है, वैसे ही मैं आत्मा को देखकर अनात्मा का त्याग करता हूँ ॥ १७ ॥ जिस प्रकार घड़ा को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े का नाश होने से नष्ट नहीं हो जाता, वैसे ही शरीर का प्रकाशक साक्षी, देह का नाश होने पर भी नष्ट नहीं हो सकता ॥ १८ ॥ मुझे बन्धन नहीं है, मुझे मोक्ष नहीं है, मेरे लिये शास्त्र नहीं है और मेरा गुरु नहीं है; क्योंकि ये तो सब माया के विकास मात्र है और मैं माया से परे अद्वैत स्वरूप हूँ ॥ १९ ॥ प्राण भले ही चले जाँय और मन चाहे अपने धर्मों तथा कामनाओं के साथ नाश को प्राप्त हो; पर आनन्द और ज्ञान से पूर्ण होने के कारण मुझे किस प्रकार दुःख हो सकता है ? ॥ २० ॥

आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ।
आत्मानमञ्जसा वेद्मि काप्यज्ञानं पलायितम् ॥ २१ ॥
कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वाऽपि न क्वचित् ।
ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः ॥ २२ ॥
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे न हि ।
क्षुत्पिपासाऽऽन्ध्यबाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः ॥ २३ ॥
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न विद्यते ।

जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः ॥ २४ ॥
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ।
उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते ॥ २५ ॥

मैं आत्मा को अनायास ही जानता हूँ; मेरा अज्ञान न जाने कहाँ पलायन कर गया है। अब मेरा कर्तापन भी नष्ट हो गया और मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है ॥ २१ ॥ ब्राह्मणपन, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति का आस्तित्व स्थूल देह में होता है; मैं तो स्थूल रूप से भिन्न हूँ, इसलिये उनमें से किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है ॥ २२ ॥ भूख, प्यास, अन्धापन, बहरापन, काम, क्रोध आदि समस्त धर्म लिंग-देह में रहते हैं, मैं तो लिंग-देह से रहित हूँ, मुझमें इनमें से कुछ भी नहीं है ॥ २३ ॥ जड़ता, प्रियता और आनन्द मानना आदि कारण देह के धर्म है और मैं तो नित्य तथा निर्विकार स्वरूप वाला हूँ; इसलिये ये धर्म मेरे नहीं है ॥ २४ ॥ जिस प्रकार उल्लू को सूर्य अन्धकारमय दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञानी को स्वयं प्रकाश—परमानन्द में अज्ञान दिखाई देता है ॥ २५ ॥

स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते ।
चक्षुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते ॥ २६ ॥
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म दास्तीति मन्यते ।
यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते ॥ २७ ॥
न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषान् प्रकाशतः ।
स्वल्पाऽपि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः ॥ २८ ॥
स्वल्पोऽपि बोधो महतीमविद्यां नाशयेत्तथा ।
कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि ॥ २९ ॥
अहंकारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः ।
चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥ ३० ॥
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत् ।

आत्मप्रबोधोपनिषदं मुहूर्तमुपासित्वा न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत ॥ इत्युपनिषत् ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार बादलों के कारण चारों तरफ से दृष्टि रुक जाने के कारण लोग समझने लगते हैं कि सूर्य नहीं है, उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ प्राणी मानता है कि ब्रह्म है ही नहीं ॥ २६ ॥ जिस प्रकार अमृत विष से पृथक है, इसलिये विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता; वैसे ही मैं जड़ से पृथक हूँ, इसलिये जड़ के दोषों का मुझसे स्पर्श नहीं होता ॥ २७ ॥ जैसे दीपक की छोटीसी ज्योति भी बहुत से अन्धकार का नाश कर देती है; वैसे ही थोड़ासा ज्ञान भी गाढ़ अन्धकार रूप अज्ञान का नाश करता है ॥ २८ ॥ जिस प्रकार रस्सी में तीनों काल में सर्प नहीं है; वैसे ही अहङ्कार से लेकर देह तक का जगत मेरे भीतर तीनों काल में नही है। मैं तो केवल अद्वैत हूं ॥ २६ ॥ मैं चैतन्य रूप हूँ; इससे मुझमें जड़ता नही है; मैं सत्य स्वरूप हूँ, इससे मुझमें असत्य नही है और मैं आनन्द रूप हूं, इससे मुझे दुःख नहीं है; ये सब केवल अज्ञान से ही जान पड़ते हैं ॥ ३० ॥ इस "आत्म प्रबोध" उपनिषद् को जो मनुष्य दो घड़ी भी सेवन करता है वह फिर संसार में नहीं आता है—फिर संसार में नहीं आता है, ऐसा यह रहस्य है ॥ ३१ ॥

॥ इति आत्मप्रबोध उपनिषद् ॥

कैवल्योपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौभुनक्तु । सहवीर्यं करवा वहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करें; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्योवाच—

अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् ।
ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य
परात् परं पुरुषमुपैति विद्वान् ॥ १ ॥
तस्मै स होवाच पितामहश्च
श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ॥ २ ॥
न कर्मणा न प्रजया
धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥ ३ ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ४ ॥
विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः ।

अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।। ५ ।।

ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से महर्षि आश्वलायन ब्रह्माजी के पास शिष्य भाव से समिधा लेकर गए और नम्रतापूर्वक कहा "भगवन् ! कृपया मुझे ब्रह्मविद्या का गोपनीय व अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग बताइए जिस पर संतजन सदैव से चलते आए हैं और जिसके माध्यम से विद्वान लोग अपने पूर्वक्रम दोषों को निवृत करके उस परब्रह्म को पा जाते हैं ।। १ ।। ब्रह्माजी ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया "आश्वलायन ! उस परमतत्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेना पड़ता है, तुम भी उसी मार्ग पर चलो ।। २ ।। उस परमतत्व को धन, संतान अथवा कर्म के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । त्याग ही एक ऐसा मार्ग जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने परम अमृतत्व को प्राप्त किया है । स्वर्गलोक से ऊपर ब्रह्मलोक को पहुँचने की स्थिति संयमी और योगी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं ।। ३ ।। कल्प के अन्त में वे ही योगी लोग अमृतत्व के प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं जो वेदान्त का गम्भीर अध्ययन करके परमज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, श्रवण, मनन व योगाभ्यास से परमतत्व की प्राप्ति को नित्य करके अन्तःकरणों को शुद्ध करके ब्रह्मलोक में जाने का प्रयत्न करते हैं ।। ४ ।। योगी लोग संन्यास आश्रम में स्थित स्नानादि से अपने शरीर को शुद्ध करके एकान्त स्थान में अपना आसन लगाकर, सिर, गले व शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों को एकाग्र करके श्रद्धाभक्ति से अपने गुरुका पूजन करके अपने हृदय से रजोगुण को निकालकर दुःख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति तत्व का मनन करते हैं ।। ५ ।।

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं
प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तदादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥ ६ ॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ ७ ॥
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥८॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ९ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥ १० ॥

इस प्रकार से मुनि लोग ध्यान के द्वारा उस चिन्तन की सीमा में नाश, व्यय न होने वाले जिसके अनन्त स्वरूप हैं, जो कल्याण करने वाला है, अद्वैत है, जो ब्रह्मका मूल कारण है, जिसका कोई आदि मध्य और अन्त ही नहीं है; जो अद्वितीय, सर्वव्यापक और चैतन्य तथा आनन्दमय है; जिसका कोई रूप नहीं है; जो विलक्षण है; जिसे नीलकंठ और त्रिलोचन के नामों से पुकारा जाता है, जो समस्त चराचर का स्वामी और शान्ति स्वरूप है, जो समस्त भूतों का मूल कारण और साक्षी है; जो अविद्या से दूर है; प्राप्त करते हैं ॥ ६—७ ॥ उसी को चन्द्रदेव, अग्निदेव, काल, प्राण, उदर; भगवत, अक्षर ब्रह्म, इन्द्रदेव; शिव और ब्रह्मा कहते हैं। जो व्याधि जन्म मृत्यु के चक्कर से छूट जाता हैं जो इस तत्व को समझ लेता है कि जो पहिले हो चुका है अथवा आगे होगा, वह

सब वही है। इसको छोड़कर मोक्षका अन्य कोई रास्ता नहीं है। वह मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जो आत्मा को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त देखता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ८—१० ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥ ११ ॥
स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव
जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥ १२ ॥
स्वप्ने तु जीवः सुखदुःखभोक्ता
स्वमायया कल्पित विश्वलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥ १३ ॥
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्
स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु
जातं सकलं विचित्रम् ॥
आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिन्
लयं याति पुरत्रयं च ॥ १४ ॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ १५ ॥

ज्ञानी लोग अन्तःकरण को नीचे की अरणि बनाते हैं और प्रणव को ऊपर की और इन दोनों के मन्थन का अभ्यास करते हैं। इससे जो ज्ञानादि उत्पन्न होता है, उसमें अपने समस्त दोषों को जलाकर संसार वन्धन से छूट जाते हैं ॥ ११ ॥ वही मनुष्य

माया के वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है और सब तरह के कर्मों को करता है। वही मनुष्य विषय वासना और मद्यपान आदि भोगों को भोगकर जाग्रत अवस्था में तृप्त होता है। माया से जो कल्पित जीवलोक है, उसीमें वही मनुष्य स्वप्नावस्था में शरीर के सुखों और दुखों को भोगता है और सुषुप्तावस्था में जब समस्त माया का प्रपञ्च समाप्त हो जाता है तमोगुण से पराजित होकर सुख का अनुभव करता है जो पिछले जन्मों के कार्यों के बल से प्रेरित हैं। पर वह मनुष्य सुषुप्तिवस्था से स्वप्न—जाग्रतावस्था में आ जाता है। इस तरह से ज्ञात हुआ कि जीव जो तीन प्रकार के, शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण में रमण करता है, उसीसे इस सारे मायिक प्रपञ्च की सृष्टि होती है। जब तीनों प्रकार के शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, का लय हो जाता है तभी यह जीव मायिक प्रपंच से निवृत होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। इसी से प्राण, मन और समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसी से पृथ्वी की सृष्टि होती है जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे संसार को धारण करती है॥ १२—१५॥

यत् परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ १६॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥ १७॥
त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥१८॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ १९॥

जिस परब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, जिसे सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रों से देखा नहीं जा सकता, जो इस संसार के इन समस्त कार्य और कारण का आधारभूत है, जो सब भूतों का आत्मा है, वही तुम हो, तुम वही हो। जीव जब यह जान जाता है कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाओं में जो मायिक प्रपंच दिखाई देते हैं, वह मैं हीं हूँ और वह ब्रह्म का ही स्वरूप है तब वह सब प्रकार के बन्धनों से निवृत हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में जो भोग भोज्य और भोक्ता के रूप में है, वह सदा शिव चेतनायुक्त और अद्भुत साक्षी रूप मैं ही हूँ। मैं ही वह ब्रह्मस्वरूप हूँ जिसमें सब कुछ उत्पन्न प्रतिष्ठित और लय होता है॥ १६—१६॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं
विश्वमिदं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो
हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥ २०॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो
न चास्ति वेत्ता मम चित् सदाहम्॥ २१॥

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ २२॥

न पुण्यपापे मम नास्ति
नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो मम वह्निरस्ति
न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च॥ २३॥

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।

समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्
॥ २४ ॥

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति सुरापानात् पूतो भवति ब्रह्महत्यात् पूतो भवति कृत्याकृत्यात् पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् ॥ २५ ॥

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम् ।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्यं फलमश्नुत इति ॥ २६ ॥

मैं छोटे से भी छोटा और बड़े से बड़ा हूँ। इस अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिए। मैं ही शिव और ब्रह्मा का स्वरूप हूं। मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। वह शक्ति जिसके न हाथ पैर हैं और न जिसके सम्बन्ध में चिन्तन किया जा सकता है, वह परब्रह्म मैं ही हूँ। मैं सर्वदा चित स्वरूप रहता हूं। मुझे कोई जान और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखों के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ रखता हूं। मैं तो वेद का उपदेश करता हूं, मैंने ही वेदान्त की रचना की है और सारे वेद, मेरे ही सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। मै जन्म और नाश से परे हूं। पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूँ। मेरे लिए भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ नहीं हैं ॥२०—२३॥ वही मनुष्य मेरे शुद्ध परमात्म स्वरूप का साक्षात्कार करता है जो इस तरह से मायिक प्रपंचों से परे, सब के साक्षी, अद्वितीय, हाथ-पैर रहित, गुप्त बुद्धि के कोने में स्थित परमात्म स्वरूप को जान जाता

है ॥ २४ ॥ शतरुद्रिय का पाठ करने से वह अग्नि, वायु और आत्मा जैसा पवित्र हो जाता है। शराब पीने के पापसे उसका छुटकारा हो जाता है। ब्रह्महत्या के पाप से निवृत्ति हो जाती है, वह सोने की चोरी के दोष से छुटकारा पा जाता है, वह अच्छे-बुरे सभी कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। भगवान सदाशिव की कृपा का अधिकारी होकर मुक्त रूप हो जाता है। इसलिए जो जीव ऊँचे उठ गए हैं, उन परम तपस्वियों को हमेशा या एक सौ एकबार तो इसका पाठ अवश्य करना चाहिए। इससे संसार-सागर से मुक्त और पार होने के ज्ञान की उपलब्धि होती है ॥ २५ ॥ इस ज्ञानको उपरोक्त प्रकार से जान और समझ लेने पर कैवल्य मुक्ति और पद को प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

॥ कैवल्योपनिषद् समाप्त ॥

ब्रह्मबिन्दूपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ॐ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १ ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ ३ ॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४ ॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥ ५ ॥

शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का मन होता है। अशुद्ध मन उसे कहते हैं जिसमें विषयों और इच्छाओं से संकल्पों की उत्पत्ति होती हो। शुद्ध मन वह है जिसमें इच्छाएँ न उठती हों। बन्धन और मोक्ष का कारण मन को ही बताया गया है। जो मन विषयों में आसक्त रहता है, उससे बन्धन और जिसमें विषयों का अभाव रहता है, उससे मोक्ष मिलता है। क्योंकि मन का लय तभी हो पाता है जब

वह विषय-संकल्पों से रहित हो जाता है। इसलिए जिस साधक को मोक्ष की इच्छा हो, वह अपने मन को विषय भोगों से शून्य रखे। परमपद उसी को कहते हैं जब मन में विषयों का अभाव हो जाता है और हृदय में संकल्प-विकल्प उठने बन्द हो जाते हैं। हृदय में विलीन होने तक ही मन को काबू में करने की चेष्टा करनी चाहिए, इसके पश्चात् नहीं। मन के हृदय में विलीन हो जाने को ही मोक्ष और ज्ञान कहते हैं, इसके अतिरिक्त ग्रन्थ का विस्तारमात्र ही समझना चाहिए॥ १—५ ॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ६॥
स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम्।
अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते॥ ७॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सपद्यते ध्रुवम्॥ ८॥
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम्॥ ९॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वन्धो न च शासनम्।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता॥ १०॥

साधक की ब्रह्मप्राप्ति का समय तब आता है जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उसके सामने कोई अन्तर न रहे और दोनों में से किसी की ओर भी विशेष झुकाव न हो। साधक को प्रणव के माध्यम से परमेश्वर से ऐक्य उत्पन्न करना चाहिए और उसी से परमतत्व की भावना का चिन्तन करना चाहिए। प्रणव से ओतप्रोत भावना से ही भावस्वरूप परमात्मा को प्राप्त किया जाता है, अभाव को नहीं। भावना के अभाव में समाधि शून्य रूप ही मानी जाती है। उसी माया रूप मन शून्य, विकल्प व अवयव रहित व

निरञ्जन को ही ब्रह्म कहते हैं। जो व्यक्ति यह भावना करता है कि "वह ब्रह्म मैं ही हूँ" वह उस भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है। वह मनुष्य नियमपूर्वक ब्रह्मरूप हो जाता है जो उस विकल्प व दृष्टान्त से शून्य, अनादि और अनन्त, अप्रपंच परम कल्याण रूपब्रह्म को जान जाता है। वास्तविक ज्ञान यह है कि जो इस प्रकार समझे कि न सृष्टि है न माया न बन्धन है न मोक्ष, न मोक्ष की अभिलाषा है न मोक्ष ॥ ६—१० ॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद्व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११ ॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२ ॥
घटसंभृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥ १३ ॥
घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥१४॥
शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे ।
भिन्ने मोमसि चेकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥ १५ ॥

तीनों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न, व सुषुप्ति—से अतीत हो जाने वाले का, एक ही आत्मा का सम्बन्ध मानने वाले का फिर जन्म नहीं होता, संसार के सभी प्राणियों के अन्दर वही आत्मा व्याप्त है। जिस प्रकार से चन्द्रमा एक होते हुए भी जल में उसके अलग-अलग प्रतिविम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से वह भी एक होते हुए अनेक रूपों में दिखाई देता है, घड़े में आकाश होता है अवश्य परन्तु जब वह फूट जाता है तब उसी की समाप्ति समझी जाती है, आकाश की नहीं। इसी प्रकार से शरीर में स्थित जीव को भी आकाश की तरह ही समझना चाहिए। शरीर के नाश होने पर आत्मा का कदापि

नाश नहीं होता। अलग-अलग, शरीरों का बारबार फूटना और नष्ट होना घड़े के फूटने और नष्ट होने के समान है। परमात्मा सभी शरीरों का ज्ञान रखता है, परन्तु यह शरीर अपने अन्दर स्थित परमात्मा को नहीं जानता। जीवात्मा तभी तक बन्धन में रहता है जब तक वह माया से जरासा भी सम्बन्धित है। अज्ञानरूपी अन्धकार का नाशकर और ज्ञानरूपी प्रकाश को प्राप्त करके ही मनुष्य जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करता है ॥ १०–१५ ॥

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥
द्वे विद्येदतेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छतिः ॥ १७ ॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥ १८ ॥
गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९ ॥
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥ २० ॥
ज्ञाननेत्रं समादाय चरेद्वह्निमतः परम्।
निष्कलं निर्मलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥ २१ ॥
सर्वभूताधिवासं च यद्भू तेषु वसत्यधि।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेव इति ॥ २२ ॥

शब्द ब्रह्म और परब्रह्म दोनों अक्षर हैं। इन दोनों में से जिस एक के क्षय होने पर दूसरा अक्षय की स्थिति में रहता है, वही परब्रह्म वास्तविक अक्षर है। शान्ति की इच्छा वाले मनुष्य को उसी अक्षर परब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिए। "शब्द ब्रह्म" और "परब्रह्म"

दो प्रकार की विद्याओं को जानना चाहिए । जब मनुष्य शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदशास्त्रों के ज्ञान में दक्ष हो जाता है तब परब्रह्म को समझ जाता है । जिस तरह से अन्न की प्राप्ति की इच्छा करने वाला मनुष्य पुआल को तो खलिहान में ही छोड़ देता है और अन्न को ले लेता है, उसी प्रकार विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह ग्रन्थों के अवलोकन व अभ्यास द्वारा उनमें धरे ज्ञान-विज्ञान के तत्वों को लेकर ग्रन्थों को छोड़ दे । जिस तरह से अलग-अलग रूप और रङ्ग वाली गौओं का भी दूध एक रङ्ग का सफेद होता है । उसी तरह से विद्वान पुरुष को अलग-अलग सम्प्रदाय वालों के अलग-अलग विचारों को ग्रहण करने वाले पुरुषों की विचारधारा गौओं के दूध की तरह एक जैसी ही लगती है । उनकी विचारधारा में उनके बाहर के अलग-अलग निशानों से कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता । जिस तरह से दूध में घी निहित होता है, उसी तरह से हर एक प्राणी के अन्दर चिन्मय ब्रह्म स्थित रहता है । जिस तरह से दूध को मथने से घी प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार मन की मथानी से—चिन्तन, मनन और विचार से, विज्ञानमय ब्रह्मको प्राप्त करना चाहिए । जब ज्ञान का प्रकाश मिल जाए तो अग्नि के समान तेजयुक्त ब्रह्म की भावना करनी चाहिए कि "वह कलारहित, निर्मल और शान्त परब्रह्म मैं ही हूँ ।" इसी को विज्ञान कहते हैं । सम्पूर्ण भूत जिसमें निवास करते हैं और जो स्वयं समस्त भूतों में व्याप्त रहता है और सब पर परम दया करने के कारण विख्यात है, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं ही हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं ही हूँ, इस प्रकार इस उपनिषद की समाप्ति है ।।१६–२२।।

।। ब्रह्मविन्दु उपनिषद् समाप्त ।।

आत्मोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करे, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ।। १ ।।

त्वक्चर्ममांसरोमांगुष्ठांगुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुकपोलश्रोत्रभ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष आत्मा ।। २ ।।

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोहविकल्पनादिस्मृति लिङ्ग उदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घ प्लुतः स्खलितगर्जितस्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्र प्रलयाविजृंभितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता नेता कर्ता विज्ञानात्मा

पुरुषः पुराणः न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणकर्म विशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥ ३ ॥

अथ परमात्मा नाम यथाऽक्षर उपासनीयः स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानात्मचिन्तकवटकणिका वा श्यामाकतण्डुलो वा वालाग्रशतसहस्रविकल्पनादिभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यते न कम्पते न भिद्यते न स्विद्यते निर्गुणः साक्षिभूतः शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निर्ममो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकांक्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽनिर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति ॥ ४ ॥

अङ्गिरा परमात्मा 'आत्मा, अन्तरात्मा परमात्मा' इस भेद से तीन प्रकार का उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ अपनी अज्ञ दृष्टि से आत्मा का स्वरूप यही है कि शरीर में जो त्वचा, चर्म, मांस, बाल, अँगूठा, अँगुलियाँ रीढ की हड्डी नाखून, गुल्फ, पेट, नाभि, मूत्रेन्द्रिय, कमर, जङ्घा, गाल, कान, भौं, ललाट, भुजा, करवट, शिर और आँखें उत्पन्न होती हैं वही आत्मा है तथा उनके उत्पन्न तथा मरण से ही आत्मा भी उत्पन्न होने वाला तथा मरने वाला समझ लिया जाता है ॥ २ ॥ इसी प्रकार अन्तरात्मा भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि (द्रव्य) इच्छा द्वेष सुख-दुःख आदि (गुण) काम मोह तर्क-वितर्क स्मृति, लिङ्ग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदि (अच् भेद) स्खलित गर्जित (मेघशब्द) स्फुटित, मुदित, नृत्य, गीत वादित्र (आदि ध्वनिरूप) प्रलय विजृम्भण आदियों द्वारा सुनने वाला, सूँघने वाला, चाटने वाला, ले जाने वाला, करने वाला विज्ञानात्मा पुराण पुरुष न्याय मीमांसा आदि जो धर्मशास्त्र उन सबमें अन्तर्यामि होता हुआ सुनना, सूँघना व आकर्षण एवं कर्म विशेषों को करता

हैं यही अन्तरात्मा का स्वरूप समझ जाता है ॥ ३ ॥ वह परमात्मा जैसे करोड़ों जीवों द्वारा ईश्वर आराध्य होने से उपलब्ध होता है उसी प्रकार यह परमाक्षर परमात्मा भी प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि, योग, अनुमान, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सैकड़ों हजारों हिस्सों से भी सूक्ष्म "सोऽहम्" इस प्रकार विचारा जाता हुआ उपलब्ध होता है अथवा नहीं भी होता। वह न कभी उत्पन्न होता है और न मरता ही है न सूखता है न गीला होता है न जलता है न काँपता है न टूटता है न स्थित रहता है, वह तो गुणों से रहित सर्व प्रमाणभूत, शुद्ध स्वरूप, अवयव रहित आत्मा, केवल, सूक्ष्म, निर्मम, निरञ्जन, विकारहीन, शब्द, रूपरस, हीन के ज्ञान से हीन (इनसे रहित) निर्विकल्प, आकाङ्क्षाहीन, सर्वव्यापी, अचिन्त्य तथा इस प्रकार का है कि जिसका ठीक २ ज्ञान नही किया जा सकता। वह अशुद्ध अपवित्र को शुद्ध पवित्र करता है, वह निष्क्रिय है, उसका कोई संसार नहीं है ॥ ४ ॥

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा।
ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते ॥ १ ॥
जगद्रूपतयाऽप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते।
विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाभावादिभेदतः ॥ २ ॥
गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते।
ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने ॥ ३ ॥
न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्।
सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम् ॥४॥
असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम्।
घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्षते ॥ ५ ॥

वह ब्रह्म, शिव, शुद्ध, एकमात्र, द्वैतहीन, ब्रह्मरूप होने के

कारण केवल ब्रह्मरूप से प्रतिभासित होता है ।। १ ।। इस संसार के रूप में भी ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है । विद्या, अविद्या, भाव, अभाव आदि भेद से (जो भी भासित होता है वह ब्रह्म ही है) ।।२।। गुरु शिष्य आदि भेद से भी ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है । वस्तुतः देखा जाय तो सर्वत्र शुद्ध स्वरूप ब्रह्म ही है ।। ३ ।। वस्तुतः न तो विद्या है न अविद्या न जगद् न अन्य कोई वस्तु ही सत्य है किन्तु सत्य रूपसे संसार का भान होना ही इसका प्रवर्तक है ।। ४ ।। असत्य रूपसे संसार का भान ही इसका निवर्तक है जैसे सामने रखे घड़े के ज्ञान के लिये कोई नियम अपेक्षित नहीं है ।। ५ ।।

विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन् सति पदार्थधीः ।
अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ।। ६ ।।
न देशं नापि कालं वा न शुद्धिं वाऽप्यपेक्षते ।
देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ।। ७ ।।
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ।
भानुनेव जगत् सर्वं भास्यते यस्य तेजसा ।। ८ ।।
अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।। ९ ।।
येनार्थवन्ति तं कि नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ।
क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।। १० ।।

वैसे ही प्रत्येक सामने स्थित पदार्थ का ज्ञान बिना ही प्रमाण के हो जाता है ठीक ऐसे ही नित्यसिद्ध यह आत्मा प्रमाण (प्रत्यक्ष) होने पर भासित होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म स्वरूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं ।। ६ ।। जैसे देवदत्त आदि नाम का ज्ञान निरपेक्ष अपने को (अपने लिये) हो जाता है वह देश, काल किंवा किसी प्रकार की शुद्धि (सफाई) की आवश्यकता

(अपेक्षा) नहीं रखता ॥ ७ ॥ ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी का 'ब्रह्माहम्' मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का समझना ही ब्रह्म का साक्षात् प्रत्यक्ष है। जैसे सूर्य से संसार प्रकाशित होता है वैसे ही अखण्ड ब्रह्माण्ड जिसके तेज से प्रकाशित होता है ॥ ८ ॥ उसके प्रत्यक्ष सिद्धत्व में कोई अन्य प्रमाण देना अनात्मक, असार एवं तुच्छ हैं उसका अवभासक ज्ञान कराने वाला भला क्या हो सकता है ? वेदशास्त्र, पुराण एवं सारे प्राणि समूह जिसके कारण अर्थवान् हैं, सार्थक हैं अर्थात् जिसकी कृपा के कारण हैं, उत्पन्न स्थित विनष्ट होते हैं, उस विज्ञाता ब्रह्मको कोई प्रमाण क्या प्रमाणित कर सकता है ॥ ९ ॥ जैसे खिलौना के साथ बालक भूख किंवा शरीर की किसी प्रकार की पीड़ा को छोड़कर (भूलकर) खेलता रहता है ॥ १० ॥

तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।
कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकचरो मुनिः ॥ ११ ॥

स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ।
निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ॥ १२ ॥

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ।
कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ॥ १३ ॥

शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ।
अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ॥ १४ ॥

प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ।
तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः ॥ १५ ॥

वैसे ही विद्वान् पुरुष ममताहीन, अहङ्कारहीन सुखी रहता हुआ रमण किया करता है (ब्रह्ममें) सभी इच्छाओं से मुक्त एकान्तवासी मुनिरूप होकर विचरण करता है ॥ ११ ॥ स्वयं अपनी ही आत्मा से

सन्तुष्ट तथा अपने को सर्वत्र स्थित मानता हुआ, धनहीन भी हमेशा परमतृप्त निःसहाय भी अपने को बहुत सामर्थ्ययुक्त समझता है ॥१२॥ कुछ आहार न लेता हुआ भी नित्यतृप्त, असम होता हुआ भी (तुलनाहीन) सबको बराबर देखने वाला, काम करता हुआ भी कार्य न करता हुआ सा, फल का भोग करता हुआ भी भोगहीन माना जाता है ॥ १३ ॥ वह शरीरी भी शरीरहीन, वह परिच्छन्न (पृथक्) होता हुआ भी सर्वत्र जाने वाला (व्याप्त) होता है इस प्रकार शरीर-हीन इस ब्रह्मज्ञानी को कहीं भी ॥ १४ ॥ प्रिय तथा अप्रियज्ञान स्पर्श भी नहीं करते (अर्थात् वह किसी को प्रिय या अप्रिय नहीं समझता) तथा शुभ-अशुभ भी उसे नही छू सकते । उसकी दृष्टिमें सब समान हैं जैसे कि मनुष्य अन्धकार से (राहु से) ग्रसित से दीखने वाले सूर्यको जो कि वस्तुतः ग्रसित नहीं है........॥ १५ ॥

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ।
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १६ ॥

पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ।
अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ॥ १७ ॥

इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किंचित्प्राणवायुना ।
स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ॥ १८ ॥

दैवेन नीयते देहो यथा कालोप भुक्तिषु ।
लक्ष्यालक्ष्यगति त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना ॥ १९ ॥

शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ।
जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ॥ २० ॥

भ्रान्ति से ग्रसित कहते हैं क्योंकि उनको वस्तु स्थिति का पता नहीं होता ठीक उसी प्रकार देह आदि के बन्धनों से मुक्त ब्रह्मज्ञानी को (आत्मा को) शरीर के आभास से मूर्ख आदमी देही (शरीरवान्)

समझा करते हैं वस्तुतः वह सांप की केंचुली की तरह देह से सर्वथा मुक्त है ॥ १६—१७ ॥ जैसे झरने आदियों के द्वारा लकड़ियाँ नीचे ऊपर ले जाई जाती हैं उसी प्रकार आत्मा भी प्राणवायु के द्वारा इधर-उधर ले जाया जाता है ॥ १८ ॥ जैसे दैव (भाग्य) के द्वारा देहकाल उपभोगों में ले जाई जाती है ऐसे होते हुए भी जो केवल अपनी आत्मा से लक्ष्य-अलक्ष्य गति को छोड़कर स्थित हो जाता है (केवल स्वात्मा से) ॥ १९ ॥ वह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ साक्षात् शिव ही है। शिव स्वरूप है । वह कृतार्थ ब्रह्मज्ञानी जीवित भी मुक्त ही है ॥ २० ॥

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ।
शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ॥ २१ ॥
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ।
घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ॥ २२ ॥
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।
क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ॥ २३ ॥
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः ।
एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ॥ २४ ॥
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ।
सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ॥ २५ ॥

वह स्थान के (आधार के) (शरीरादि के) नष्ट होने पर ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मलीन हो जाता है जो कि द्वैतहीन है । जैसे विविध वेष धारण करने पर मनुष्य नट आदि समझा जाता है तथा पूर्व रूप में आने पर वही पुरुष समझा जाता है ॥ २१ ॥ ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्म ही है केवल शरीरादि वेष के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है भिन्न अन्य कुछ

नहा है। जैसे घड़े के फूट जाने पर घट के अन्दर का आकाश आकाश रूप ही हो जाता है ॥ २२ ॥ वैसे ही उपाधि (शरीरादि) के विलीन हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। जैसे दूध में दूध तेल में तेल डालने पर (मिला देने पर) एक हो जाते हैं ठीक वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि तथा आत्मा की स्थिति हैं ॥ २३ ॥ इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव को प्राप्त कर यति पुनः संसारावर्तन में नहीं आता जाता। क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी विद्या-अविद्या सभी दग्ध हो जाती है ॥ २४—२५ ॥

अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ।
मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥२६॥
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ।
आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥ २७ ॥
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ॥ २८ ॥
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ।
अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ॥ २९ ॥
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत् कल्पना कुतः ॥ ३० ॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३१ ॥
इत्युपनिषत् ॥

इस यति के ब्रह्मस्वरूप हो जाने पर यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्मका पुनः उद्भव (उत्पत्ति) हो। माया से निर्मित बन्धन और मोक्ष उस ब्रह्म को वस्तुतः नही हुआ करते ॥ २६ ॥ जैसे क्रियाहीन रस्सी में सर्प का ज्ञान होकर यदि वह पुनः समाप्त हो जाता है तो फिर केवल

रस्सी का ही ज्ञान होने लगता है ऐसे ही सत् तथा असत् से आत्मा (ब्रह्म) में बन्ध तथा मोक्षका ज्ञान हुआ करता है (तथा दूर भी हो जाता है) ॥ २७ ॥ वस्तुतः ब्रह्म की कोई भी आवृत्ति नहीं होती वह अन्य के अभाव से (तदतिरिक्त आपके अभाव से) अनावृत है अथवा आवृत है, यह जो विश्वास किया जाता है, यह तो वस्तुतः बुद्धि के गुण हैं, उस नित्य वस्तु (ब्रह्म) के नही । इस कारण वह माया से उत्पन्न होने वाले बन्ध तथा मोक्ष आत्मा में नही हुआ करते ॥ २८ ॥ उस कलाहीन, क्रिया रहित, शान्त, निष्पाप, निरञ्जन, एकमात्र (अद्वितीय) परमतत्व में आकाश के भेदों की तरह (घटाकाश, मठाकाश आदि) कल्पना कहाँ से हो सकती है ? वस्तुतः सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो अजन्मा है न जन्मा है न बद्ध है न साधक है न मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) है और न मुक्त ही है ॥ २६—३१ ॥

॥ आत्मोपनिषद् समाप्त ॥

पञ्चब्रह्मोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्ति. शान्तिः शान्ति. ।

ब्रह्म हम दोनो की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनो एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हो, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करे । ॐ शाति शाति शाति. ।

अथाश्वलायनो भगवन्त परमेष्ठिन परिसमेत्योवाच—

अथ पैप्पलादो भगवन् भो किमादौ किं जातमिति सद्यो-जातमिति । कि भगव इति । अघोर इति । कि भगव इति । वामदेव इति । कि वा पुनरिमे भगव इति । तत्पुरुष इति । कि वा पुनरिमे भगव इति । सर्वेषा दिव्याना प्रेरयिता ईशान इति । ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषा देवयोनिनाम् ॥ १ ॥

कति वर्णा. । कति भेदाः । कति शक्तयः । यत् सर्वं तद्गुह्यम् ॥ २ ॥

तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय ॥ ३ ॥
प्रोवाच तस्मै भगवान् महेश. ॥ ४ ॥
गोप्याद्गोप्यतर लोके यद्यस्ति शृणु शाकल ।
सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत् स्वरः ॥ ५ ॥
ऋग्वेदो गार्हपत्य च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा ।
वर्णं पीत क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥ ६ ॥

किसी समय शाकल के पूछने पर कि 'प्रारम्भ में क्या उत्पन्न हुआ ? पैप्पलाद ने उत्तर दिया—'सद्योजात' नामक ब्रह्म उत्पन्न

हुआ। शाकल—कोई अन्य भी भेद है ? पैप्पलाद—हाँ 'अघोर'। शाकल—अन्य कोई ? पैप्पलाद—'वामदेव'। शाकल—क्या यही भेद है ? पैप्पलाद—'नहीं' तत्पुरुष नामक भी है। शाकल—'अच्छा तो यही चार हैं न ?' पैप्पलाद—नहीं, सभी देवताओं का प्रेरक 'ईशान' नामक एक भेद और है। यही सभी भूत तथा भविष्य का एवं सभी देव योनियों का शासक है ॥ १ ॥ इसके कितने वर्ण हैं ? कितने भेद हैं ? कितनी शक्तियाँ हैं ? ये सभी वस्तुएँ अनधिकारियों से परम छिपाने लायक हैं ॥ २ ॥ महारुद्र संज्ञा (नाम) वाले उन महादेव को नमस्कार है उन्होंने (महेश ने) पैप्पलाद को यह सब उपदेश दिया है ॥ ३—४ ॥ हे शाकल ! संसार में अत्यन्त गुप्त वस्तुओं में भी जो गुप्त हैं उसे सुन—वह है—सद्योजात जिसके, सभी प्रकार की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाले मही, पूषा, रमा, ब्रह्मा, त्रिवृत्, अकारादिस्वर ऋग्वेद, गार्हपत्य (अग्नि) पचाक्षर (नमः शिवाय) मंत्र एवं स, रि, ग म आदि सात स्वर, पीला वर्ण, क्रिया नामक शक्ति आदि अनेक स्वरूप है ॥ ५—६ ॥

अघोरं सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम् ।
नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहृतम् ॥ ७ ॥
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियाऽन्वितम् ।
शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाघौघविनाशनम् ॥ ८ ॥
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥ ९ ॥

अघोर, जल, चन्द्र, गौरी, सामवेद, नीरदाभ स्वर अर्थात् उकार, स्निग्ध दक्षिणाग्नि ये अघोर के स्वरूप कहे गये हैं। ये तथा पचास (अ से लेकर ज्ञ पर्यन्त जो वर्ण हैं) उनसे युक्त स्थिति (परिपालन) इच्छा तथा क्रियाशक्ति से युक्त, अपनी विकल्पित शक्ति के रक्षण से युक्त जो अघोर का स्वरूप है वह सभी प्रकार के पापों के

समूह को नष्ट करने वाला, सभी दुष्टों का दमन करने वाला एवं सभी प्रकार के ऐश्वर्य के फल देने वाला है ॥ ७—९ ॥

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम् ।
विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम् ॥ १० ॥
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम् ।
धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम् ॥ ११ ॥
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम् ।
वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम् ॥ १२ ॥
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम् ।
सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम् ॥ १३ ॥
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरस्थितम् ॥ १४ ॥

वामदेव, महान् बोध के दाता, तथा तेजस्वी अग्नि के स्वरूप, विद्या के प्रकाश से युक्त, करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वदा प्रसन्न हैं। सामवेद, अष्टस्वर (सामवेद के कथित सात स्वर तथा भरतशास्त्र निष्पन्न गीति) युक्त धीरे स्वर (आं, आं, आम् यह) के अधीन तथा सर्वोत्तम आहवनीय (होम करने योग्य वस्तु) ज्ञान तथा संहार शक्ति से समन्वित, उसका स्वरूप है । वह शुक्लवर्ण, तमोगुण से युक्त तथा स्वयं ही पूर्ण ज्ञान के कर्ता, जाग्रद् आदि तीनों धामों के नियामक, तीनों धामों से समन्वित (युक्त) सब के सौभाग्यदायक, मनुष्यों के सभी कर्मों के फल के दाता तथा (अ, क, च, ट, त, प, य, श) इन आठ अक्षरों से युक्त तथा जो कि अष्टदल कमल अर्थात् हृदय स्थित कमल में निवास करने वाले हैं ॥ १०–१४ ॥

यत्तात् तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डलसंवृतम् ।
पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम् ॥ १५ ॥
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्य मथर्ववेदस्वरूपकम् ।

कोटिकोटि गणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम् ॥ १६ ॥
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम् ।
सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक् ॥ १७ ॥
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम् ॥ १८ ॥

और जो 'तत्पुरुष' हमने कहा है वह वायुमण्डल से परीत (आवृत) पाँच अग्नियों से वेष्टित, मन्त्रशक्ति (अथवा मन्त्र तथा शक्तियों के) नियामक नियम करने वाला है ॥ १५ ॥ साथ ही पचास संख्यक जो स्वर व्यञ्जन बताये गये है तन्मय, अथर्ववेद के स्वरूप, अनन्तकोटि गणों के अध्यक्ष हैं तथा अखण्ड (सारा) ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर है ॥ १६ ॥ उनका वर्ण लाल है, तथा वह सभी इच्छाओं के देने वाले तथा सभी प्रकार की आधि (मानसिक-रोग) तथा व्याधियों (शारीरिक रोगों) की सुन्दर औषधि हैं। तथा वही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के एकमात्र कारण हैं और सभी शक्तियों को धारण करने वाले है ॥ १७ ॥ साथ ही वह तीनों अवस्था से परे तुरीय (चौथी अवस्था) स्वरूप है तथा ब्रह्म संज्ञक हैं और वही सबके उत्पन्न करने वाले तथा ब्रह्मा और विष्णु आदियों से सेवा करने योग्य हैं, सेवित किये जाते हैं ॥ १८ ॥

ईशानं परमं विद्यात् प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम् ।
आकाशात्मकमव्यक्तमोंकारस्वरभूषितम् ॥ १९ ॥
सर्वदेवमय शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः ।
अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम् ॥ २० ॥
पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत ॥ २१ ॥
पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितम् ।
स्वमायावैभवान् सर्वान् संहृत्य स्वात्मनि स्थितः ॥२२॥

पञ्चब्रह्मात्मकातीतो भासते स्वस्वतेजसा ।
आदावन्ते च मध्ये च भासते नान्यहेतुना ।। २३ ।।

ईशान सबके परम शासक तथा प्रेरणा करने वाले, बुद्धि के साक्षी, आकाश स्वरूप (सर्वव्यापक) और अव्यक्त है एवं ॐकार के स्वर से ध्वनि से (अथवा ॐकार और स्वरों से) भूषित, हैं।।१९।। वह सर्व देवमय, शान्त, शान्ति से भी परे अर्थात् अत्यन्त शान्ति से युक्त स्वरों से बाहर (अर्थात् स्वरों से जिनका ज्ञान सम्भव नहीं) अकार आदि स्वरों के जो अधिष्ठातृ रूप हैं तथा जो कि आकाशमय शरीर वाले है ।। २० ।। और वह सृष्टि आदि पाँच कृत्यों के नियामक तथा विशाल (सर्वव्यापक) और पंच ब्रह्मस्वरूप हैं ।। २१ ।। और वह पंचब्रह्म का उपसंहार (निर्वाण) करके अपनी आत्मा में स्थित हो अपनी माया के वैभव (अर्थात् अपनी माया द्वारा उत्पन्न किये हुए) सभी का संहार करके अपनी आत्मा में स्थित हैं ।। २२ ।। और वह पंचब्रह्म स्वरूप, सर्वातीत तथा अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हैं, वहं आदि मध्य किंवा अन्त में भी किसी अन्य कारण भासित नहीं होते अपितु स्वयं प्रकाश और स्वयम्भू हैं ।। २३ ।।

मायया मोहिताः शंभोर्महो देवं जगद्गुरुम् ।
न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वकारणकारणम् ।
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात् परं पुरुषं विश्वधाम।।२४
येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते ।
तद्ब्रह्म परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम् ।। २५ ।।
पञ्चब्रह्मिदं विद्यात् सद्योजातादिपूर्वकम् ।
दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम् ।। २६ ।।
पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम् ।
ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते ।। २७ ।।
पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च ।

सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान् ब्रह्मामृतो भवेत् ॥ २८ ॥
इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशयः ॥ २९ ॥
पञ्चाक्षरमयं शंभुं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥ ३० ॥

भगवान् शङ्कर की माया से मोहित देवता सबसे बड़े देव, संसार के गुरु तथा सभी कारणों के कारण उन महादेव को नहीं जानते संसार को प्रकाशित करने वाले उन परात्पर पुरुष का रूप दृष्टि से (आँखों के सामने) नहीं देखा जा सकता है ॥ २४ ॥ जिनके कारण यह विश्व प्रकाशित होता है तथा जहाँ विलीन भी हो जाता है वह ब्रह्म परम शान्त है। वही परमपद ब्रह्म स्वरूप मैं भी हूँ ॥ २५ ॥ सद्योजात आदि यही पञ्चब्रह्म हैं और जो कुछ संसार में दीखता है अथवा सुनाई पड़ता है वह भी पञ्च ब्रह्मात्मक ही है ॥ २६ ॥ पाँच स्वरूपों में स्थित वह ब्रह्मकार्य कहा गया है तथा इसे ब्रह्मकार्य जानकर ईशान को प्राप्त किया जाता है ॥ २७ ॥ यदि पण्डित आदमी उन पञ्च ब्रह्मात्मक को अपनी आत्मा में विलय करके (मानकर) "सोऽहमस्मि" "मैं वही पञ्चब्रह्म हूँ उनका ही स्वरूप हूँ" ऐसा समझले तो ब्रह्मामृत का आस्वादन करने वाला हो जाता है ॥ २८ ॥ इस प्रकार जो ब्रह्मस्वरूप को पहिचानता है वह मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २९ ॥ पञ्चाक्षरमय (पाँच अक्षरों से युक्त) उस परब्रह्म स्वरूप शम्भु को समझकर 'न' है शुरू में तथा य है अन्त में जिसके, ऐसे पंचाक्षरमन्त्र (नमः शिवाय) को जपना चाहिये ॥३०॥

सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात् पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः ॥ ३१ ॥
पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः ।
स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम् ॥ ३२ ॥
एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः ।
कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत् स्वयम् ॥ ३३ ॥

यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत् ।
अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल ॥ ३४ ॥
एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम ।
विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम् ॥ ३५ ॥

सभी वस्तुओं को पञ्च ब्रह्मात्मक मानकर सर्वत्र पञ्चब्रह्म तत्व को देखना चाहिये ॥ ३१ ॥ जो मनुष्य भक्तिभाव से पञ्च ब्रह्मात्मक विद्या को पढ़ता है वह स्वयं पञ्चब्रह्म का स्वरूप बनकर, पञ्चब्रह्म के सामीप्य को भी प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥ इसे स्वयं महादेव ने गालव महात्मा को कहकर उनके ऊपर कृपाकर आत्मलीन होगये ॥ ३३ ॥ जिसको (जिसके स्वरूप माहात्म्य को) सुनने मात्र से अश्रुत (जो वस्तु सुनी भी न हो) श्रुत (ज्ञात) हो जाती है । जाना हुआ, न जाना हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है । जिन सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं वह भी स्वयं ज्ञात हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार कि मिट्टी के एक ही पिण्ड से मृत्तिका से अभिन्न (जो भिन्न न हों) ऐसी सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है क्योंकि कार्य कारण से अभिन्न होता है वैसे ही पञ्चब्रह्म के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ॥ ३५ ॥

एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा ।
विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च ॥ ३६ ॥
सर्वं कार्ष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः ।
कारणाभिन्नरूपेण कार्यं कारणमेव हि ॥ ३७ ॥
तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिमृषा खलु ।
तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम् ॥ ३८ ॥
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादेरनिरूपणात् ।
अतश्च कारणं नित्समेकमेवाद्वयं खलु ।
अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि ॥ ६९ ॥

अस्मिन् ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं मुने ।
पुण्डरीकं तु तन्मध्ये आकाशो दहरोऽस्ति तत् ।
स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः ॥ ४० ॥
अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः ।
तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः ॥
इत्युपनिषत् ॥ ४१ ॥

एक लौहमणि से जैसे सभी लौह ज्ञात हो जाता है तथा एक नख को काटने से छुरी (नख काटने के औजार आदि) का ज्ञान हो जाता है क्योंकि यह स्वाभाविक वस्तु है कि उससे अभिन्न जितनी भी वस्तुयें होंगी सब वैसी ही होंगी । क्योंकि कारण से अभिन्न जो कार्य वह वस्तुतः कारण रूप होता है ॥ ३६—३७ ॥ वस्तुको (कार्य को) तद्रूप (उसी का रूप कारण का ही रूप) यदि माना जाय तो वह असत्य है । क्योंकि कारण तो एक ही है (सभी कार्योंका) वह न तो भिन्न है और नहीं वह उभयात्मक है कि कहीं एक मान लिया जाय और कहीं अनेक ॥ ३८ ॥ यह जो सभी स्थानों पर भेद की प्रतीति होती है उसका कारण धर्म के निरूपण का अभाव ही है । इसलिये कारण तो वस्तुतः एक ही है वह द्वितीय (दूसरा भिन्न) नहीं है । अतः इस चराचर विश्वका कारण शुद्ध चैतन्यस्वरूप अद्वैत ही है ॥ ३९ ॥ इस ब्रह्मके निवास स्थल शरीर में जो दहर नामक घर है (हृदय में) जिसे कमल भी कहते हैं उसमें दहराकोश है उसी के अन्दर मोक्ष के इच्छुक साधकों को सत्, चिद् एवं आनन्द स्वरूप उस शिवको ढूँढ़ना चाहिये ॥ ४० ॥ यह शिव सर्वदा हृदय में स्थित है तथा निर्विशेष (सामान्य) (एकदृष्टि) रूपसे सभी का साक्षिभूत है । इसी कारण हृदय को ही शिवस्वरूप कहकर "मन,एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो" आदि कहकर इस हृदय को ही संसार का मोचक (छोड़ने वाला) भी कहा गया है ॥४१॥

॥ पञ्चब्रह्मोपनिषद् समाप्त ॥

शारीरकोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथातः पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम् । यत् कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत् संचरति स वायुर्यत् सुषिरं तदाकाशम् ॥ १ ॥

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि । श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमिति । एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ॥ २ ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि । तेषां क्रमेण वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ॥ ३ ॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम् । तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषयाः । मनःस्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति ॥ ४ ॥

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः। मूत्रश्लेष्म-रक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः । क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यमोहमैथुनान्यग्नेः । प्रचारणविलेखनस्थूलाक्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः। कामक्रोधलोभ-मोहभयान्याकाशस्य ॥ ५ ॥

ॐ पृथ्वी आदि पञ्चभूतों का समुदाय यह शरीर है। इसमें जो कड़ापन है वह पृथ्वी है, जो द्रव है वह जल है, जो गर्मी है वह तेज है, जो चलता है वह वायु है, जो पोला है वह आकाश है । श्रोत्र आदि पंचेन्द्रिय है। आकाश में श्रोत्र, वायु में त्वचा, तेज में चक्षु, जल में जिह्वा और पृथिवी में घ्राण है । इन इन्द्रियों के विषय क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं जो पृथिवी आदि महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिंग कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इन इन्द्रियों के विषयक्रम से वचन, ग्रहण करना, गमन, विसर्जन और आनन्द हैं, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से ही क्रमशः उत्पन्न होते हैं । मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त, इन चारों को अन्तःकरण कहा जाता है । इनके विषयक्रम से सङ्कल्प-विकल्प, निश्चय, अभिमान और अवधारणा हैं। मन का स्थान गले का अन्त, बुद्धि का मुख, अहङ्कार का हृदय और चित्त का नाभि कहा गया है। अस्थि, चर्म, नाडी, रोम, मांस—ये पृथ्वी के अंश हैं । मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र, स्वेद—ये जल के अंश हैं । क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मोह, मैथुन अग्नि के अंश हैं। फैलना, दौड़ना, चलना, मुड़ना, पलकों को चलाना आदि वायु के अंश है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि आकाश के अंश हैं ॥ १—५ ॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः । शब्दस्पर्शरूप-रसाश्चापां गुणाः। शब्दस्पर्शरूपाण्यग्निगुणाः। शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ। शब्द एक आकाशस्य ॥ ६ ॥

सात्त्विकराजसतामसलक्षणानि त्रयो: गुणा: ॥ ७ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: ।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम् ॥ ८ ॥
अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंसता ।
एते सर्वे गुणा ज्ञेया: सात्विकस्य विशेषत: ॥ ९ ॥
अहं कर्ताऽस्म्यहं भोक्ताऽस्म्यहं वक्ताऽभिमानवान् ।
एते गुणा राजसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमै: ॥ १० ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पृथिवी के गुण हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये जल के गुण हैं । शब्द, स्पर्श, रूप—ये अग्नि के गुण हैं । शब्द और स्पर्श वायु के गुण है और आकाश का एकमात्र गुण शब्द ही है । सात्विक, राजस और तामस तीन गुण हैं । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, गुरु-सेवा, शौच, संतोष, आर्जव, अमानता का भाव, अदम्भ का भाव, आस्तिकता, अहिंसकपन—ये सब गुण विशेष रूप से सात्त्विक स्वभाव वालों के हैं ॥ ६—९ ॥ मैं कर्ता हूँ, मैं भोग करता हूँ, मैं वक्ता हूँ, इस प्रकार का अभिमान राजस स्वभाव वालों की विशेपता है ॥ १० ॥

निद्राऽऽलस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च ।
एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभि: ॥११॥
ऊर्ध्वे सात्त्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति ॥ १२ ॥
सम्यज्ज्ञानं सात्त्विकम् । धर्मज्ञानं राजसम् । तिमिरान्धं तामसमिति ॥ १३ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयमिति चतुर्विधा अवस्था: । ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्त:करणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत् ।

अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः । चित्तैककरणा सुषुप्तिः । केवलजीवसंयुक्तमेव तुरीयमिति ।। १४ ।।

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ।। १५ ।।

निद्रा, आलस्य, मोह, राग, मैथुन, चोरी—ये गुण तामस स्वभाव वालों के कहे गये हैं ।। ११ ।। सबसे श्रेष्ठपद सात्विकता है, राजस को मध्यम और तामस को अधम माना गया है। सत्य-ज्ञान सात्विक है, धर्मज्ञान राजस है, तिमिरांध (अधर्म-मूढ़ता) तामस है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय—ये चार अवस्थाएं हैं। जाग्रत अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण मिलकर चौदह रहते हैं। स्वप्न में चार अन्तःकरण रहते हैं। सुषुप्ति में केवल एकचित्त ही रहता है और तुरीय में केवल जीव ही रह जाता है । खुले हुये और बन्द पलकों के बीच में ठहरा हुआ जीव परमात्मा के मध्य में क्षेत्रज्ञ जीवात्मा होता है ।। १२—१५ ।।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिःसूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।। १६ ।।
मनो बुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे ।। १७ ।।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पञ्चमम् ।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता ।। १८ ।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्र[प्रा]कृतानि तु ।। १६ ।।
चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः ।।
इत्युपनिषत् ।। २० ।।

इस प्रकार जानना चाहिये। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह का सूक्ष्म स्वरूप 'लिंग' कहलाता है। मन, बुद्धि, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—ये प्रकृति के आठ विकार हैं, इनके अतिरिक्त सोलह और है—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये पाँच, गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर, वाणी—ये पाँच; शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध–ये पाँच, सब मिलाकर प्रकृति के तेईस तत्व हैं। चौबीसवाँ अव्यक्त प्रधान है, पुरुष उससे परे हैं ॥ १६–२० ॥ ऐसा यह उपनिषद है। ॐ तत्सत् ॥

॥ शारीरोपनिषद् समाप्त ॥

शाट्यायनीयोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यैः निर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ २ ॥
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं
नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम ।
विष्णुं क्रान्तं वासुदेवं विजानन्
विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥ ४ ॥
अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं
ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः ।
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो
ह्यभिजज्ञौ समानः ।
त्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा
मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥ ५ ॥

मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है । जो मन

विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा ॥ १ ॥ जिस प्रकार मन इन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो कौन बन्धन से (सांसारिक जन्म, मृत्यु) न छूटा जाय ॥ २ ॥ प्रत्येक मनुष्य को अभ्यास द्वारा चित्त का शोधन करना चाहिये। जिसका चित्त जिसमें आसक्त रहता है वह तन्मय हो जाता है। यदि ब्रह्म में चित्त लगाया जायेगा तो मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है यह सत्य सदा रहने वाली तथा परमगुप्त बात है ॥ ३ ॥ वेदतत्व को न जानने वाले के लिये तो वह विराड् है ही नहीं वह उसे मानता ही नहीं है तथा ब्रह्मज्ञानहीन उस परम स्वयं प्रकाशित धामको प्राप्त नहीं होता। किन्तु तत्वदर्शी विवेकी ब्राह्मण तो व्यापक, सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी उस वासुदेव को अपने स्वरूप में ही (अहं ब्रह्मास्मि) जानता हुआ विप्रत्व को, जीवन्मुक्तत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥ जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) अकामहत (सभी प्रकार की इच्छाओं से हीन) सनकादि की भाँति उस परब्रह्म सत्य सनातनके स्वरूपको जानतेहैं वे सब भी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष शान्त दान्त (इन्द्रियजित्) सभी विषयों से तृप्त पराङ्मुख सहनशक्तिशील वेदज्ञ मुमुक्षुओं के समान, होता हुआ इस परब्रह्मको जान लेता है। वह सभी इच्छा से विरत तीनों (पितृदेव गुरु) ऋणों से मुक्त उस ब्रह्म को जानकर मौनयुक्त जहाँ कही भी आश्रम में बस जाय ॥ ५ ॥

अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य
यथोपपत्ति पञ्चमात्रां दधानः ॥ ६ ॥
त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्।
शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम् ॥ ७ ॥
पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः।
न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥ ८ ॥

विस्फुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ।। ९ ।।
त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ।। १० ।।

अब अन्तिम संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर यथाबल त्रिदण्ड आदि पञ्चमात्रा धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे ।। ६ ।। आयुपर्यन्त त्रिदण्ड, उपवीत, कौपीन, शिक्य पवित्र को धारण करे ।। ७ ।। ये पाँच यति की मात्रायें ब्रह्ममात्रायें हैं । इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिये देहत्याग होने पर शरीर के साथ ही गाड़ देने चाहिये ।। ८ ।। ये विस्फुलिङ्ग व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूप से दो प्रकार का कहा गया है । इन दोनों में से एक को छोड़ देने पर भी संन्यासी पतित हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ।। ९ ।। त्रिदण्ड जो वैष्णवलिङ्ग (विष्णु सम्बन्धी चिह्न) समझा जाता है ब्राह्मणों के लिये मुक्तिदायक है यह वेद का अनुशासन रूप तथा सभी धर्मों का निर्वाण स्वरूप है ।। १० ।।

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः
परमहंस इति वृत्त्या च भिन्नाः ।
सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना
व्यक्ताव्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ।। ११ ।।
पञ्चयज्ञा वेदशिरःप्रविष्टाः
क्रियावन्तोऽमी ब्रह्मविद्यां [श्रयन्तः] ।

त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः
संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः ।
विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता
विष्ण्वात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥ १२ ॥
त्रिसंधि शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा ।
उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम् ॥ १३ ॥
दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतीभिश्चतुष्पदा ।
गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंधि शिरसा सह ॥ १४ ॥
योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः ।
अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥ १५ ॥

हे सौम्य ! संन्यासी कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस भेद से चार प्रकार के होते हैं ये सभी विष्णु के चिह्न को धारण करने वाले शिखा तथा यज्ञोपवीत वाले (ज्ञान शिखिनः ज्ञान निष्ठा ज्ञान यज्ञोपवीतिनः), शुद्धचित्त स्वयं ही अपने में ब्रह्म भावना करते हुए शुद्धचिद्, रूप की उपासना मे रत, जप तथा यम (इन्द्रियदमन) करने वाले, नियमशील,सुन्दर स्वभाव वाले, विशालकीर्ति वाले होतेहैं। इस समय में यह ऋचा है—कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस ये अपनी २ पृथक् वृत्तियों से भिन्न-भिन्न ४ प्रकार के हैं । ये सब व्यक्त अव्यक्त बाह्य आभ्यन्तर रूप विष्णु चिह्न को धारण करने वाले होते हैं। ये सभी पाँच यज्ञ वाले (जप, योग, तप, स्वाध्याय, ज्ञान) वेद शिर अर्थात् उपनिषदों के अर्थ श्रवण आदि में प्रविष्ट हैं तथा स्वस्व धर्मानुकूल कर्म करने वाले एवं ब्रह्मविद्या का आश्रय करने वाले हैं । ये सभी संसार रूपी वृक्ष को छोड़कर इस वृक्ष के मूलभाग (ब्रह्म) का आश्रय लेने वाले तथा सभी कर्मकाण्ड आदि को छोड़ सार भूत वस्तु (तत्व) के रस का आनन्द लेने वाले हैं। तथा ये बाह्य क्रीडाओं को छोड़ विष्णु के साथ ही क्रीड़ा, (प्रेम) करने वाले जीवन्मुक्त

संन्यासी विष्णु ही है। आत्मा जिनकी इत्थंभूत होकर विष्णु का ही ध्यान कर कृतकृत्य होते हैं ॥ ११-१२ ॥ मृत्युपर्यन्त प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल शक्तिपूर्वक स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान तथा पञ्चयज्ञ (पूर्वोक्त) अवश्य करे ॥ १३ ॥ दश ॐकार सात व्यावृतियों (ॐ भू, भुवः आदि) सहित चारपाद गायत्री का जपयज्ञ (जप) करना चाहिये ॥ १४ ॥ सदा एकाग्रचित्त तथा भक्तिभाव से योगयज्ञ, भगवान् तथा गुरु की सेवा एवं वाणी, मन तथा कर्म द्वारा भी अहिंसा रूपी तपोयज्ञ को करना चाहिये ॥ १५ ॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।
ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति तत् ॥ १६ ॥
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।
ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ १७ ॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥ १८ ॥

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति । कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न ब्रूयात् । तदेवंविद्वांस इहैवामृता भवन्ति । तदेतदृचाभ्युक्तम् । बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेक्षमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः । प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्चरेत् ॥ १९ ॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी
शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्या-
दयाचितं याचितं वाथ भैक्षम् ॥ २० ॥

सभी उपनिषदों का अभ्यास स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है। "ॐ" ऐसा उच्चारण करता हुआ ब्रह्मरूपी अग्नि, वहीं आत्माकी आहुति

दी जाती है (आत्मा ब्रह्ममें लीन किया जाता है) ।। १६ ।। वह सभी उत्तम यज्ञों से उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है । इनका ज्ञान ही दण्ड है ज्ञान ही शिखा (चोटी) है तथा ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है ।। १७ ।। जिसकी ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानमय यज्ञोपवीत होता है उसकी सभी वस्तुयें ब्रह्मस्वरूप है ऐसा वेद का अनुशासन है (आज्ञा है) ।। १८ ।। हाँ, तो हे प्रिय ! ये संन्यासी जैसे-जैसे होते हैं बतला दिये गये हैं । ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, (घमण्ड) असूया (दूसरे के गुणों में दोष कल्पना करना) ममता अहङ्कार आदि को पार करके (छोड़कर) मान, अपमान, निन्दा, प्रशंसा को छोड़कर वृक्ष के समान स्थित रहते हैं (काटने पर, छेड़ने आदि पर) भी कुछ नहीं बोला करते । इत्थंभूत विद्वान् इसलोक में ही जीवन्मुक्त विदेह कहे जाते हैं । इसके सम्बन्ध में ये ऋचा है—ये भाई पुत्र आदि को लालन-पालन करके फिर कभी भी उनकी ओर देखते नहीं हैं तथा सुख-दुःख आदि सहते हुए शान्त होकर पूर्व, अथवा उत्तर दिशाओं में अपने २ स्वरूप का अनुसन्धान करते हुए विचरण करें ।। १९ ।। पात्र, दण्ड, धारण करता हुआ युगमात्र के दर्शन करने वाले, जरा वाले, अथवा मुण्डितमस्तक, उपवीत (ज्ञान) युक्त, स्वदेहमात्र जिनका कुटुम्ब है इस प्रकार विचरण करते हैं । तथा मनुष्यों से केवल प्राणयात्रा मात्र के लिये माँगकर अथवा बिना माँगे ही भिक्षा ग्रहण करे ।। २० ।।

मृद्दार्वलाबूफलं तन्तुपर्ण-
पात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम् ।
क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिनौ च पर्ण
आच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तम् ।। २१ ।।
ऋतुसंधौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं
नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत् ।

चतुरो मासान् ध्रुवशीलतः स्यात्
स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥ २२ ॥
अन्यानथाष्ट पुनरुत्थितेऽस्मिन्
स्वकर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेत ।
देवाश्वगारे तरुमूले गुहायां
वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।
निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो
न चोद्विजेदुद्वेजयेद्यत्र कुत्र ॥ २३ ॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २४ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहून्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥२५॥

मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी, श्रीफल तन्तु ग्रथित अथवा पत्तों से बना पात्र जैसा भी मिल जाय ग्रहण करना चाहिये। चटाई, पेड़ों की छाल अथवा तिनकों से बनी कन्था तथा जो खाई न हो ऐसी पत्तों से बनी ओढनी धारण करनी चाहिये ॥ २१ ॥ हंसों से अन्यों को ऋतुसन्धि के समय क्षौर करना चाहिए। किन्तु कुटीचक कभी भी शिखा (जटा) को न कढाये। जब विश्वरूप पुरुष नारायण शयन करते हैं तबतक चार मास (चौमासा) एक ही स्थान पर स्थिर चित्त रहे ॥ २२ ॥ विष्णु के उठ जाने पर पुनः कर्म करता हुआ वहीं रह जाय अथवा अन्यत्र आश्रय करले। साथ ही निवास किसी देवालय (मन्दिर) में वृक्ष की लड़ अथवा गुफा में करले तथा वहाँ निःसङ्ग एवं सर्वथा अलक्षित (जन संसर्ग से दूर) होकर बिना लकड़ी की अग्नि के समान शान्त चित्त होकर किसी को देखकर भी न चिढ़े (क्षुभित हो) तो सबमें आत्म बुद्धि करले ॥ २३ ॥ यदि पुरुष अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप जान जाय तो फिर वह क्या चाहता हुआ किस इच्छा से

शरीर-पोषण अथवा शोषण करे अर्थात् नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥ धैर्यशाली ब्राह्मण उस ब्रह्मको पहचानकर उसी में बुद्धि को एकाग्र करे । अधिक शब्दाडम्बर में न पड़े क्योंकि यह सब केवल वाणीमात्र के विग्लापक [व्यर्थ की बकझक] हैं ॥ २५ ॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।
ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ २६ ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ २७ ॥

अथ खलु सोम्येदं पारिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति स ब्रह्महा भवति स भ्रूणहा भवति स महापातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति स स्तेनो भवति स गुरुतल्पगो भवति स मित्रध्रुग्भवति स कृतघ्नो भवति स सर्वान्लोकान् प्रच्युतो भवति । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी
मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।
व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं
त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा ॥ २८ ॥
त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा
यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा ।
प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो
नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥ २९ ॥
त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् ।
मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥ ३० ॥

वैराग्ययुक्त होकर ही स्थित रहने की इच्छा करनी चाहिए । ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं है ऐसा निश्चयकर ब्रह्म को पहिचान वैराग्य को भलीभाँति समझकर आत्माराम होकर आत्ममात्रतया शेष

रह जाय (सर्वत्र आत्मदर्शन करे) ।। २६ ।। जब इसके हृदय में रहने वाली सभी वासनायें शान्त हो जाती हैं तो यह मरणधर्मा होता हुआ भी मृत्युहीन होकर ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है ।। २७ ।। जो संन्यासी हे प्रिय ! इस नैष्ठिक अपने संन्यासियों के धर्म को छोड़ता है वह पुरुषत्व नाशक, ब्रह्मघाती, गर्भपातकी तथा महापातकी के समान होता है। जो इस वैष्णवी निष्ठा को छोड़ता है वह चोर होता है, वह गुरुतल्पगामी मित्रद्रोही कृतघ्न हो जाता है तथा सभी लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है। इसके सम्बन्ध में ये ऋचायें हैं— चोर, शराबी, गुरुपत्नीगामी, मित्रद्रोही ये प्रायश्चित से शुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु व्यक्ताव्यक्त स्वरूप विष्णुलिङ्ग (त्रिदण्डादि) को छोड़ने पर संन्यासी कैसे भी शुद्ध नहीं हो सकता है ।। २८ ।। आभ्यन्तर का बाह्य विष्णुलिङ्ग को छोड़कर जो अपने आश्रम में रहता है अथवा आश्रम का भी परित्याग करदे वह अनुक्षण विपत्तियों से घिरा रहता है। ऐसों की अच्छी गति अनन्तकाल तक भी देखने में नहीं आई ।। २६ ।। सभी आश्रमों का परित्याग कर धैर्यशील पुरुष मोक्ष आश्रम में चिरकाल तक निवास करे । यदि मोक्षाश्रम से भी भ्रष्ट हो जाय तो उसका कहीं ठौर नहीं है ।। ३० ।।

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ।। ३१ ।।

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति स पुण्यश्लोको भवति स लोकज्ञो भवति स वेदान्तज्ञो भवति स ब्रह्मज्ञो भवति स सर्वज्ञो भवति स स्वराड् भवति स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति स पितॄन्संबन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ।। ३२ ।।

शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ।

एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान्
॥ ३३ ॥

त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिंशच्च परतः परान् ।
उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥

संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।
तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥ ३५ ॥

जो संन्यास ग्रहणकर अपने धर्म में स्थित नहीं रहता वेद की आज्ञा है कि ऐसे को आरूढ़च्युत (पातकी) समझना चाहिये क्योंकि वह संन्यास में आकर भी च्युत हो चुका है ॥ ३१ ॥ हे प्रिय, जो इस सनातन आत्मधर्म, विष्णु सम्बन्धी निष्ठा को प्राप्तकर उसको दूषित न करता हुआ स्थित रहता है वह इन्द्रियजित्, विशालकीर्ति, लोकतत्व ज्ञाता, वेदान्त का पण्डित, ब्रह्मवेत्ता, सर्वज्ञ, स्वयं प्रकाश होता है तथा परब्रह्म को प्राप्त करता है। वह अपने पितरों सम्बन्धियों बन्धुओं मित्रों तथा सभी प्रेमी सम्बन्धियों को संसार से तार देता है ॥ ३२ ॥ जिस कुल का विद्वान् संन्यास ग्रहण करता है उसके उस संन्यासी से पूर्व सौ तथा बाद के तीन सौ कुल कृतार्थ हो जाया करते हैं ॥ ३३ ॥ धार्मिक संन्यासी तीस पर तीस पर से भी पर तथा तीस अपरों (वंशजों) को भी तार देता है ये मिश्रित वेदान्त हैं ॥ ३४ ॥ प्राणों के कण्ठगत (मृत्युकाल में) होने पर भी जो ऐसा कहदे कि मैंने संन्यास ले लिया उसने पितरों को तार लिया है, इस प्रकार की वेदाज्ञा है ॥ ३५ ॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयान्नाननूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवे शठाय
मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३६ ॥
यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक्
परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥ ३७ ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीय-
स्तथैव तदन्नन्नभुनक्ति श्रुतं तत् ॥ ३८ ॥
गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः ।
एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति ।
तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ३९ ॥
यस्य देवें परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥ ४० ॥
इत्युपनिषत् ॥

प्रिय ! इस सनातन आत्मधर्म (आत्मतत्व निरूपक धर्म) जो कि विष्णु सम्बन्धी निष्ठा है, को बिना भलीभांति निर्वाह किये (स्वयं आचरण किये) बिना उपदिष्ट न करे । साथ ही जो वेदतत्व का ज्ञानी न हो, आत्मबोधयुक्त न हो वीतराग न हो, शुद्धचित्त विनीत, जिज्ञासु न हो उसे इसका उपदेश नहीं करना चाहिये । इस बात का पोषण करने वाली ऋचायें हैं—विद्या ब्राह्मण के पास आई और बोली कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि (खजाना) हूँ मुझे दूसरे के गुणों में दोष देखने वाले कुटिल, धूर्त, मूर्ख, पुरुष को उपदिष्ट मत

करो। ऐसा करने पर ही मैं प्रभावशालिनी रह सकूँगी ॥ ३६ ॥ जिसे पवित्र, अभिमान शून्य (मदहीन) सावधान, मेधावी (बुद्धिशाली) ब्रह्मचारी समझे उस जिज्ञासु पास में आये हुए को भलीभाँति परीक्षा करके इस आत्मतत्व बोधिका वैष्णवी विद्या का उपदेश करना चाहिये ॥ ३७ ॥ जो कि शिक्षा प्राप्त करके भी वाणी, मन, तथा कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते, कल्याणेच्छुक उनके अन्न को ग्रहण नहीं करते एवं गुरु भी उनके अन्न को नहीं खाता; ठीक वैसे ही अन्य यति भी उस कृतघ्नी घर का अन्न ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार श्रुति (प्रसिद्ध) (प्रभाववान्) गुरु ऐसा होता है जैसे आगे बताया है ॥ ३८ ॥ गुरु ही परमधर्म है गुरु ही परमगति है। एक अक्षर के ज्ञानदाता गुरु को भी जो आद्रित नहीं करता (उनका सम्मान नहीं करता) उनका पढ़ा हुआ, उनकी तपस्या, उनका ज्ञान धीरे २ ऐसे ही क्षीण होकर समाप्त हो जाता है जैसे कच्चे घड़े से जल ॥ ३९ ॥ जिसकी देवताओं में परमभक्ति होती है तथा जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में होती है, वह ब्रह्मज्ञानी परमपद की प्राप्ति करता है ऐसा वेदानुसाशन है, वेद की आज्ञा है ॥ ४० ॥

॥ शाट्यायनीयोपनिषद् समाप्त ॥

याज्ञवल्क्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुच्यते। पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः।

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच। भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृहात् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्या-देव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। अथवा न कुर्यात्। आग्नेयामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रज-स्तम इति।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

किसी समय विदेहराज जनक याज्ञवल्क्य के पास जाकर बोले—हे प्रभो! हमें संन्यास-धर्म समझाइये। तब उन याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मचर्याश्रम को विधिवत् पूर्ण कर गृहस्थी होना चाहिये। तब घर से

(पुत्र कलत्रादि का सुख भोगकर) वन में रहने वाला होकर (वानप्रस्थ होकर) संन्यास लेना चाहिये । अथवा अत्यन्त (जितेन्द्रिय यदि हो जाय तो) ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेले, अथवा स्वेच्छानुसार गृह से (गृहस्थ के बाद) अथवा वानप्रस्थ से ही अथवा जिस दिन वस्तुतः संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यास लेले । चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो या नही, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं ॥ १ ॥ इसके बाद कुछ प्राजापत्य यज्ञ करते हैं । अथवा इसे न कर आग्नेय यज्ञ ही करले क्योंकि अग्नि ही प्राण है । इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है । किंवा त्रैधातवीय (तीनधातु (सत्व, रज, तम) सम्बन्धी) यज्ञ करे सो अधोलिखित मन्त्र से अग्नि का आघ्राण करेः—हे अग्निदेव ! जिस मूल कारण से तुम उत्पन्न होकर प्रकाशित हो रहे हो वह यह है। उसको पहचानते हुए आप खूब प्रज्वलित हों तथा हमारे ऐश्वर्य को सम्पदा को बढ़ावें । यही अग्नि का मूलकारण है योनि है सो हे अग्ने ! तुम अपनी योनि रूप प्राण में प्रविष्ट हो जाओ ॥ २ ॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रैस्त्रय्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत् । एवमेवैतद्भ-गवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं प्रणवमेवास्य तद्य-ज्ञोपवीतं य आत्मा प्राश्याचम्य अयं विधिः ॥ ४ ॥

अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । एष पन्थाः परिव्राजकानाम् ।

वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

गाँव से ही आग लाकर पहले की ही तरह आग का आघ्राण करे। यदि आग प्राप्त न हो तो जल में होम करे। क्योंकि जल सर्वदेवमय कहा जाता है। मैं सब देवताओं के प्रति होम करता हूँ 'स्वाहा' यह उन्हें प्राप्त हो। इस प्रकार होम करके उसे निकालकर उसका प्राशन करे (उसे खाले) वह रोग नाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मन्त्रों के द्वारा इस प्रकार वेद की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है उसकी उपासना करनी चाहिये। चोटी यज्ञोपवीत को तोड़ कर "मैंने संन्यास ले लिया" इस प्रकार तीन बार उच्चारण करे। हे जनकजी ! यह विधि इस प्रकार है ॥३॥ इन याज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा—ब्राह्मण बिना जनेऊ के कैसे रह सकता है ? तो याज्ञवल्क्य बोले—यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है जो कि पूर्वोक्त प्रकार से होमकर उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उसके लिये केवल यही विधि है ॥ ४ ॥ सो इस प्रकार का गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला मुण्डित स्त्री रहित, पवित्र, द्रोह न करने वाला, भिक्षा चरण करने वाला संन्यासी ब्रह्मपद होता है (ब्रह्मस्वरूप है ब्रह्मकी प्राप्ति के लिये समर्थ है) संन्यासियों के लिये यही रास्ता है विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरगति, महाप्रस्थान (मृत्यु मोक्ष) अन्य में भी यही रास्ता उस ब्रह्म ने निर्दिष्ट किया है। इसी कारण तो संन्यासी ब्रह्मका ज्ञाता होता है। इसी प्रकार की यह विधि है महाराज ! यही अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ ५ ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ ६ ॥

परस्त्रीपुरपराङ्मुखाः त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तमात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुः अबाधकरहस्यस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहरकोटरकन्दरनिर्भरस्थण्डिलेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥ ८ ॥

इन संन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस संज्ञक में ये अव्यक्त लिङ्ग (चिह्न) धारण करने वाले अव्यक्त आचरण वाले सर्वदा सावधान जागरुक होते हुए भी पागलों की तरह का-सा आचरण करने वाले अर्थात् दीखने वाले हैं—(इनके नाम हैं) संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि २ ॥ ६ ॥ सो इस प्रकार सुख-दुःख के अनुभव से रहित, स्त्री आदि हीन होकर ब्रह्मरूपतत्व की प्राप्ति के मार्ग में भलीभांति लगे हुए शुद्ध हृदय होकर केवल जीवन यात्रा (प्राण धारण मात्र) के लिये ठीक समय पर स्वच्छन्दतया जहाँ कहीं से भी लाभ हानि की चिन्ता न करता हुआ मिले, न मिले की चिन्ता न करता हुआ करपात्री होकर (हाथ मात्र में माँगकर) अथवा खप्पर में माँगकर कमण्डलु का जल पीकर आनन्द से विचरण करे भोजन केवल इतना ही माँगे जिससे उदरपूर्ति हो जाय, बचाकर अन्य पात्रों में रखने की आवश्यकता नहीं। अपने रहनें के लिये कोई एकान्त गुप्तस्थल चुने। खाली

खण्डहर, देवमन्दिर तिनकों की झोंपड़ी, वल्मीक, पेड़ की जड़ (नीचे) कुम्हारों की झोंपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा, खोह, अथवा झरनों के बड़े २ पत्थरों पर हमेशा के लिये घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ अपने अच्छे-बुरे सभी कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास-धर्म से देहत्याग करता है वह परमहंस संज्ञक होता है ॥ ७—८ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य-निर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥९॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥
प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥ ११ ॥
नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ १२ ॥

दिगम्बर अर्थात् नग्न, साथ ही जो किसी को नमस्कार न करे (अर्थात् सब में एक ब्रह्म देखता हुआ किसी को नमस्कार योग्य न समझे) स्त्री पुत्रादिकों की आसक्ति से हीन लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा दोनों का निवर्तक सब कुछ छोड़ देने वाला संन्यासी परमेश्वर होता है। इस सम्बन्ध में ये श्लोक हैं ॥ ९ ॥ जो अपने से पहले संन्यासी हुआ हो अथवा धर्म से तुल्य हो (आचार-विचार सम्प्रदाय) उसे प्रणाम करना चाहिये अन्य को नहीं ॥ १० ॥ प्रमादी, विषयासक्त मन वाले, नीच, झगड़ालू तथा वेदान्त ने जिनके आशयों को दूषित प्रतिपादित किया है ऐसे संन्यासी भी देखने में आते हैं ॥ ११ ॥ नाम, धाम, काम अवस्था आदि से परे ऊँचे स्थान अद्वय रूपी साम्राज्य में (जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी संसार में नही दीखता) स्थित यति

संन्यासी जो कि इस जटिल आत्मतत्व का ज्ञाता है भला कैसे किसी को प्रणाम करे, क्योंकि वह तो सभी को अपना ही स्वरूप देखता है। क्योंकि उसके लिये तो कोई काम भी संसार में शेष नहीं रहता ॥१२॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥ १३ ॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु मन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्
॥ १४ ॥

त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने ।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥ १५ ॥

आत्म तत्वज्ञानी तो किसी को भी प्रणाम नहीं करता अथवा ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव रूपमें संसार के सभी प्राणियों में प्रविष्ट है घोड़े, चाण्डाल गौ तथा गधे आदि को दण्डवत्, पृथ्वी में गिरकर प्रणाम करता है ॥ १३ ॥ मांस की बनी इस चलने-फिरने वाली पिटारी रूप स्त्री के शरीर में जिसमें कि नसें, हड्डियाँ, ग्रन्थियाँ ही है क्या वस्तु सुन्दर है ॥ १४ ॥ जरा इसकी चमड़ी, मांस, खून, आँसू और आँखें अलग २ करके (अर्थात् काटछांट करके) तो देखो क्या वह सुन्दर लगता है यदि नही तो फिर क्यों इस पर इतने मुग्ध हुए जाते हो ? ॥ १५ ॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः ॥ १६ ॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७ ॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ १८ ॥

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥ १६ ॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ २० ॥

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरु (पर्वत) के शिखरों के मध्य से गिरने वाली गङ्गाधारा की उपमा दी जाती है तथा वैसी दीखती भी हैं ॥ १६ ॥ श्मशान तथा इधर-उधर अन्यत्र कटकर गिरा हुआ वही स्त्री का स्तन समय आने पर कुत्तों के द्वारा इसी प्रकार खाया जाता हुआ दीखता है जैसे एक साधारण अन्न का टुकड़ा ॥ १७ ॥ ये सुन्दर काढ़े हुए बालों तथा (बड़ी २ आँखों में) कज्जल को लगाने वाली, खराब स्पर्श वाली, आँखों को अच्छी लगने वाली भयानक आग की शिखा के समान जो स्त्रियाँ हैं वे पुरुष को तिनके के समान क्षणभर मैं दग्ध कर देती हैं, जला देती हैं ॥ १८ ॥ ये स्त्रियाँ बहुत ही दूर से भी जला देने वाली अत्यन्त रसीली लगती हुई भी नीरस रसहीन कर देने वाली स्त्रियाँ नरक की आग की लकड़ियाँ हैं जो कि चारुदारुण (सुन्दर होने पर भी भयानक) हैं ॥ १६ ॥ कामदेवरूपी बहेलियेने मनुष्य रूपी पक्षियों को फँसाने के लिये ये स्त्री रूपी हृदय को मोहित कर देने वाली बन्ध वागुरा (जालपाश) बिछा रखी है ॥ २० ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिता ॥ २१ ॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२ ॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥२३॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४ ॥
जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५ ॥

जन्मरूपी तलैया में रहने वाले मछली स्वरूप हृदयरूपी (कलुषित हृदयरूपी) कीचड़ में चलने वाले मनुष्यरूपी मच्छियों के लिये दुर्वासना रूपी रस्सी में बंधी ये मछली पकड़ने के कांटे की तरह हैं ॥ २१ ॥ सभी प्रकार के बड़े २ दोषों की पिटारी स्वरूप इस दुःखों की जञ्जीरमय स्त्री से तो भगवान् बचाये ॥ २२ ॥ जिसकी स्त्री होती है उसकी भोग करने की इच्छा उत्पन्न होती है । जिसकी स्त्री ही नहीं वह कहाँ से भोग भोगें ? यदि कोई स्त्री को छोड़दे तो समझो उसने संसार को ही छोड़ दिया तथा संसार छोड़ देने पर तो हरेक सुखी हो ही जाता है ॥ २३ ॥ इसी प्रकार पुत्र भी कष्टदायक ही है क्योंकि यदि पुत्र नहीं होता तो माता-पिता को बड़ा क्लेश रहता है यदि कदाचित् हो भी जाय तो या तो गर्भपात हो जाता है अथवा प्रसव वेदना से कष्ट देता है ॥ २४ ॥ किसी तरह यदि हो भी जाय तो ग्रह, रोग हो जाते हैं अथवा लड़का ही नालायक हो जाता है । यज्ञोपवीत कर देने पर भी मूर्ख रह जाता है अथवा पढ़-लिख जाय तो विवाह होना कठिन होता है ॥ २५ ॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ २६ ॥
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥
रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ २८ ॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ २९ ॥
नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥ ३० ॥

साथ ही जवान लड़के से 'कहीं दूसरे की स्त्रियों से बुरा सम्पर्क न बनाले' आदि भय रहता है। अथवा विवाह हो जाय तो लड़कों की इतनी संख्या हो जाती है कि कुटुम्ब का भरण-पोषण कठिन है। इस प्रकार पुत्र से होने वाले दु.खों की कोई गणना ही नहीं। साथ ही यह भी देखनेमें आता है कि सेठ आदमियों के लड़के ही नहीं होते, होतेहैं तो मर जाते हैं आदि २। अतः इन सबका कारणभूत स्त्री को त्याग देना चाहिये (विवाह ही न करे) अथवा इस ओर आसक्ति सर्वथा छोड़दे ॥ २६ ॥ यति को हाथ-पाँव, आँखें, वाणी का संयमी होना चाहिये अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिये, तभी वह ब्रह्ममय हो सकता है ॥ २७ ॥ शत्रु तथा सांसारिक बन्धनयुक्त शरीरमें जो एक भाव देखने वाला ज्ञानशील यति होता है उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता, जैसेकि मनुष्य को अपने अवयवों पर, हाथ-पाँव आदि पर क्रोध नहीं आता ॥ २८ ॥ यदि निरपराध पर कोई क्रोध करता है तो उस भले आदमी से पूछना चाहिये कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते जो सभी वस्तुओं का मूलकारण है; साथ ही जो धर्म, अर्थ, काम मोक्ष का जबरदस्त बैरी है ॥ २९ ॥ अपने आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध को मेरा नमस्कार है। मुझे वैराग्य देने वाले तथा दोषों का ज्ञान कराने वाले को बार २ नमस्कार है ॥ ३० ॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ ३१ ॥
चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥ ३२ ॥

यतीनां तदुपादेय पारहंस्यं परं पदम् ।
नातः परतर किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गव ॥ ३३ ॥
इत्युपनिषत् ॥

जब साधारण मनुष्य सोते हैं तब सयमी पुरुष जागता है (अर्थात् विषयासक्ति के समय सयमी पूर्ण सावधान रहता है) और जब अन्य जनसाधारण जागते हैं तब योगीराज सुषुप्ति का आश्रय ले लेता है (उनके सम्पर्क से विषय कही मुझे भी न दबा डाले आदि विचार कर) ॥ ३१ ॥ यति को चाहिये कि वह यही भावना को करे कि संसार मे चिद्स्वरूप ही है, अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है, चिद्रूप ही सब कुछ है, मैं भी चिद् ही हूँ तथा सारी सृष्टि (आदमी व ब्रह्माण्ड) चिद्रूप ही है ॥ ३२ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! परमहंस का परमपद मोक्ष ही यतियो के लिये उपादेय है (आवश्यक वस्तु है) इससे बढ़कर कुछ भी नही है ॥ ३३ ॥

॥ याज्ञवल्क्योपनिषद् समाप्त ॥

जाबालोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः ।

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम् । यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येतेति । इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति । तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत् । एवमेवैतद्या-ज्ञवल्क्य एवमेवैतद्भगवन् इति वै याज्ञवल्क्येति ॥ १ ॥

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्यजी से कहा—प्राणों का क्षेत्र (स्थान) कौनसा है ? इन्द्रियों के देवयजन का क्या आशय है ? और समस्त भूतों का ब्रह्मसदन क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है; वही इन्द्रियों का देवयजन स्वरूप है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है । इसलिये कोई किसी भी स्थान पर जाय उसे यही समझ लेना चाहिये कि यही कुरुक्षेत्र (प्राणों का स्थान), इन्द्रियों का देवयजन और सब भूतों का व ब्रह्म का स्थान है । जब संसार में से प्राणी के प्राण का उत्क्रमण होता है तब रुद्रदेवता तारक ब्रह्म के विषय में उपदेश करते है, जिससे वह

अमृतत्व को पाकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिये प्राणी को अविमुक्त की उपासना सदैव करते रहना चाहिये उसका त्याग कभी उचित नहीं॥ १ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति॥ १॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति। एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति। सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेवं वेदेति॥ २०॥

इसके पश्चात् अत्रि मुनि ने पूछा—"इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा का ज्ञान हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"इसके लिए अविमुक्त की उपासना ही करनी चाहिए क्योंकि ऐसा अनन्त और अव्यक्त आत्मा अव्यक्त में प्रतिष्ठित है॥ १॥ यदि यह प्रश्न किया जाय कि यह अविमुक्त किसमें रहता है? तो कहा जायगा कि यह वरण और नाशी के मध्य में प्रतिष्ठित हैं। फिर प्रश्न किया जाय कि वरण और नाशी का क्या आशय है? तो कहा जायगा कि वरण वह शक्ति है जो सर्व इन्द्रियों के दोषों को निवारण करती है और नाशी उसे कहते जो समस्त इन्द्रियों के किये हुए पापों को नष्टकर देती है। फिर प्रश्न किया जाय कि इसका

स्थान कौनसा है ? भ्रकुटी और नासिका का जो संधिस्थान है वही इसलोक और परलोक के मिलन का स्थल भी है । ब्रह्मविद् व्यक्ति इसी संधि-स्थान की दोनों समय संध्या द्वारा उपासना करते हैं और यह अविमुक्त उपासना करने के योग्य भी है । इस प्रकार अविमुक्त की उपासना करने से जिसे ज्ञान प्राप्त होगया है वही आत्मा के संबन्ध में दूसरों को उपदेश कर सकता है ॥ २ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः । किंजप्येनामृतत्वं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रीयेणेति । एतान्येव ह वा अमृतस्य नामधेयानि । एतैर्ह वा अमृतो भवतीति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारी शिष्यों ने प्रश्न किया—"किस जप के करने से अमृतत्व प्राप्त होता है सो बतलाइये ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"शतरुद्र का जप करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है और प्राणी मृत्यु को जीत सकता है ॥ १ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् : वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्हि वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥
इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः । प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रस्त्रय्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

एक समय विदेराज जनक ने याज्ञवल्क्य के पास जाकर विनयपूर्वक कहा—हे भगवन् ! मुझे संन्यास के सम्बन्ध में उपदेश कीजिये ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"पहले ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करके गृहस्थ बनना चाहिये, गृहस्थ आश्रम को पूर्ण करके वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिये और तब परिव्राजक या संन्यास की दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये । पर अन्य प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम अथवा वानप्रस्थ आश्रम किसी से भी संन्यास लिया जा सकता है । चाहे व्रती हो या अव्रती (व्रत से रहित), स्नातक (विद्वान) हो या न हो, चाहे अग्नि ग्रहण करके स्त्री के मरने से त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण कर संस्कार न किया गया हो, किसी भी अवस्था में जब मनमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण किया जा सकता है ॥ १ ॥ कुछ व्यक्ति प्रजापति का इष्ट करके कार्य करते हैं, पर वैसा न करके अग्नि का ही इष्ट करना श्रेयस्कर है, क्योंकि अग्नि ही प्राण स्वरूप है और उसका इष्ट करने से प्राणों की वृद्धि होती है । इसके पश्चात् त्रयधातव का इष्ट करना चाहिये; सत्व, रज, तम ये तीन धातु हैं । तब निम्न मंत्र से अग्नि को सूँघना—"यह प्राण सामान्य कारण रूप है, क्योंकि तुम्हारी उत्पत्ति इसी प्राण से हुई है ।

हे प्राण को जानने वाले अग्नि ! तुम प्रकाश को प्राप्त हो, वृद्धि को प्राप्त हो और हमारी वृद्धि करो ॥ २ ॥ जो अग्नि का कारण (उत्पन्न करने वाला) है, हे अग्निदेव ! उस प्राण में तुम प्रविष्ट होओ। यह कहकर आहुति दी जाय। जो अग्निहोत्र न हो तो गाँव में से अग्नि लाकर उपरोक्त मंत्र द्वारा उसे सूँघना। यदि वहाँ भी अग्नि प्राप्त न हो सके तो जल में आहुति देना चाहिये, क्योंकि जल सब देवताओं का रूप है। "मैं सब देवों को यह आहुति देता हूँ" इस प्रकार जल में आहुति देकर घृतयुक्त उस हविको भक्षण करना। मोक्ष-मंत्र वेद-स्वरूप है, इस ब्रह्म स्वरूप की उपासना करना, हे भगवन् ! यह इस प्रकार है ॥ ३ ॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। पृच्छामि त्वा याज्ञवल्वयायज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। इदमेवास्य यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्य। अयं विधिः प्रव्राजिनाम् ॥ १ ॥

वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तास्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

फिर अत्रि मुनि ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं जानना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है उसे किस प्रकार ब्राह्मण कहा जा सकता है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"उसकी आत्मा ही उसका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥ वीरमार्ग में, अनशन में, जल-प्रवेश (स्नान) में, अग्नि-प्रवेश में, महाप्रस्थान में संन्यासी के लिये यही विहितमार्ग है। वह भगवा वस्त्र पहिन, मुंडित होकर, परिग्रह त्यागकर,

शुचितापूर्वक रहकर, द्वेषभाव त्यागकर भिक्षावृत्ति करता है और इस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त होता है। आतुर-संन्यास ग्रहण करने वाले को मन और वचन से सबका त्याग करना चाहिये। यह वेद प्रसिद्ध मार्ग है और ब्रह्मज्ञानी संन्यासी के सर्वथा उपयुक्त है। ऐसा भगवान याज्ञवल्क्य का मत है ॥ २ ॥

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तावदाचरन्तः ॥ १ ॥
इति श्रुतेः ॥

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥ २ ॥

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम। इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

जो परमहंस संन्यासी हैं, जैसे संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, शंभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक आदि वे संन्यास के सब चिह्नों से पृथक थे। उनके आचार का भी पता नहीं लगता था। वे यद्यपि उन्मत्त नहीं थे पर बाहर से उन्मत्त के समान ही रहते थे ॥ १ ॥ ऐसे संन्यासियों को दण्ड, कमण्डलु, शिक्य (छींका), जल द्वारा पवित्र पात्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि चिह्नों को "भूः स्वाहाः" कहकर जल में त्याग देना चाहिये और केवलमात्र

आत्मा का अनुसंधान करना चाहिये ॥ २ ॥ संन्यासी प्राकृतिक रूपमें (नग्न) निर्द्वन्द, परिग्रह रहित और सब प्रकार के बंधनों से मुक्त रहता है। वह शुद्ध मन वाला होता है, ब्रह्ममार्ग में निरन्तर बढ़ते रहने का ध्यान रखता है। यद्यपि वह जीवन्मुक्त होता है पर प्राणों की रक्षा के लिये उपयुक्त समय पर आहार को उदररूपी पात्रमें डाल देता है, पर उसे किसी प्रकार के लाभ या अलाभ की चिन्ता नहीं होती। वह शून्य स्थान, देवगृह, तृण-समूह, साँप का बिल, वृक्षमूल, कुम्हार का स्थान, अग्निहोत्र का स्थान, नदी का तट, पहाड़ का खड्ड या गुफा, खोह, झरना आदि जहाँ भी हो, घर का ध्यान न रखकर रहता है। उसमें अपनेपन (ममता) की प्रवृत्ति नहीं होती, शुक्ल (सात्विक) ध्यान में लगा रहता है। अध्यात्म भावना में निष्ठा रखता है और अशुभ कर्मों को निर्मूल करता रहता है। इस प्रकार संन्यास-धर्म का पालन करता हुआ जो देहत्याग करता है वही परमहंस है, उसी का नाम परमहंस है ॥ ३ ॥

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

॥ जाबाल उपनिषद् समाप्त ॥

परमहंसोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुच्यते। पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः।

ॐ। अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच। तं भगवानाह। योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्धवादीञ्छिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति। को मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥ १ ॥

हरि ॐ। नारद मुनि ने ब्रह्माजी के पास जाकर कहा—"योगियों में जिसने परमहंस की दीक्षा ली है उसका मार्ग कौनसा है और उसकी स्थिति कैसी होती है?" यह सुनकर भगवान ब्रह्मा बोले—"परमहंस मार्ग संसार में अत्यन्त दुर्लभ और कठिन है और इसलिये वे अधिक संख्या में नही होते। परमहंस संन्यासी एकाध ही मिलता है और वह सदैव कूटस्थ भाव में स्थित रहता है। ऐसा परमहंस ही वेद

पुरुष है, यह विद्वानों की मान्यता है । इस प्रकार के महापुरुष का चित्त (ध्यान) सदैव मुझमें रहता है और मैं भी उसमें स्थित रहता हूँ । संन्यास ग्रहण करने वाला पुत्र, मित्र, पत्नी, बान्धव आदि का तथा शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय, सब प्रकार के नैष्ठिक कर्म का तथा समस्त ब्रह्माण्ड का त्याग करके, कौपीन, दण्ड और चद्दर अपने शरीर की रक्षा और लोक-कल्याण के लिये धारण करता है । पर यह दीक्षा भी मुख्य नहीं है । तब मुख्य दीक्षा कौनसी है ? ॥ १ ॥

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमानं इति । षडूर्मिवर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःख-कामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणप-मिव दृश्यते, यतस्तद्वपुरपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलम-द्वयानन्दचिद्घन एवास्मि, तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवोपवीतं च, परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या ॥ २ ॥

परमहंस की मुख्य दीक्षा यह है कि न वह दण्ड रखे, न शिखा, न यज्ञोपवीत, न किसी प्रकार का वस्त्र रखे; वह शीत उष्ण, सुख-दुःख मान-अपमान इन छः प्रकार की उर्मियों से रहित होता है । उसे निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहङ्कार आदि से तनिक भी लगाव नहीं रहता और वह अपनी देहको मृतक समान समझता है । उसका संशय और मिथ्या भाव पूर्णतः नष्ट हो जाता है । वह सत्यज्ञान स्वरूप होता है और संसार में किसी भी पदार्थ का आश्रय न रखते हुये एकमात्र

अपने रूप में स्थित होता है । वह ऐसा मानता है कि मैं स्वयं शान्त, अचल, अद्वयानन्द, विज्ञानघन स्वरूप हूँ, यही स्वरूप मेरा परमधाम, शिखा, यज्ञोपवीत सब कुछ है । वह परमात्मा और आत्मा में समभाव रखता है, इनको एकदृष्टि से देखता है और यही उसकी संध्या है ॥ २ ॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
तितिक्षा ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान् ॥
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥ ३ ॥

वह सर्व कामनाओं को त्यागकर अद्वैत परब्रह्म के स्वरूपमें स्थित रहता है । वह ज्ञानरूपी दण्डको धारण किये रहता है इसलिये उसको दण्डी भी कहते हैं । पर जो लकड़ी का ही दण्ड ग्रहण करता है, जिसके मनमें सब प्रकार की आशाएँ भरी हैं, जिसमें ज्ञानका अभाव है; जो क्षमा, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से शून्य है और भिक्षा माँगकर जीना ही जिसका उद्देश्य है, वह पापी यती वृत्ति (संन्यास) का नाश करने वाला है । ऐसा पापी संन्यासी नामधारी महा रौरव नर्क में जाता है ॥ ३ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षोः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च । न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहन्नं सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुस्सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाध-

कोऽस्त्येव । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत् स पौल्कसो भवेत् । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत् । तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामाः मनोगता व्यावर्तन्ते । दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहः त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति । कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

जो इस अन्तर को भली प्रकार समझता है, उसके लिये आकाश ही वस्त्र रूप होता है, वह नमस्कार–स्वाहाकार, निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान नहीं देता और स्वेच्छापूर्वक विचरण करता हुआ भिक्षु बनता है । उसको आवाहन, विसर्जन, मंत्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता और वह भिन्न-भाव, समान-भाव, सत्यभाव या सर्वभाव किसी को भी ग्रहण नहीं करता । उसके रहने का कोई नियत घर आदि नहीं, पर उसकी बुद्धि अवश्य स्थिर होती है । इस प्रकार के परमहंस को सुवर्ण आदि के संग्रह करने से कोई प्रयोजन नहीं होता । कोई वस्तु उसे दर्शनीय अथवा आकर्षक नहीं जान पड़ती । उसके लिये कौनसी वस्तु बाधा स्वरूप है ? परमहंस होकर यदि वह सुवर्ण से प्रीति करे तो ब्रह्महत्या के समान पाप का भागी होता है । जो भिक्षु सुवर्ण (सम्पति) से प्रीति रखता है वह चाण्डाल से अधिक अधम मानने योग्य है । जो भिक्षु-यती सुवर्ण के प्रति आर्कषित होता वह आत्मघाती है । इसलिये परमहंस को न तो सुवर्ण (धन सम्पति) को प्रीति के भाव से देखना चाहिये और न

उसका स्पर्श करना चाहिये, न उसे ग्रहण करना चाहिये । ऐसे यती की मनकी सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं। न वह दुःख से उद्विग्न होता है और न उसे सुख की आकांक्षा होती है, वह राग (प्रीति) को त्याग देता है, शुभ और अशुभ के प्रति वह स्नेह रहित बन जाता है, न किसी से द्वेषभाव रखता है और न हर्ष से उछल पड़ता है । उसकी सब इन्द्रियाँ शान्तभाव को प्राप्त हो जाती हैं और वह अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है। वह सदा यही भावना रखता है कि मैं पूर्ण आनन्द रूप और अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ और ऐसा मानने से वह कृतकृत्य हो जाता है—वह कृतकृत्य हो जाता है ।। ४ ।।

।। परमहंस उपनिषद् समाप्त ।।

निर्वाणोपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमा-विरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेना-धीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांतिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो; मन वाणी में स्थिर हो; हे स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिये मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो; मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः । परमहंसः सोऽहम् । परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः । मन्मथक्षेत्रपालाः । गगनसिद्धान्तः । अमृतकल्लोलनदी । अक्षयं निरञ्जनम् । निःसंशय ऋषिः । निर्वाणो देवता । निष्कुलप्रवृत्तिः । निष्केवलज्ञानम् । ऊर्ध्वाम्नायः । निरालम्बपीठः । संयोगदीक्षा । वियोगोपदेशः । दीक्षासंतोषपावनं च । द्वादशादित्यावलोकनम् । विवेकरक्षा । करुणैव केलिः । आनन्दमाला । एकासनगुहायां मुक्तासनसुख-गोष्ठी । अकल्पितभिक्षाशी । हंसाचारः । सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् । धैर्यकन्था । उदासीनकौपीनम् । विचार-

दण्डः । ब्रह्मावलोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेच्छाचरणम् । कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः । शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानन्दी ॥

अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं। मैं परहंस हूँ। सन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिह्न वाले होते हैं। कामदेव को (रोकने मे) क्षेत्रपाल जैसे होते हैं। उनका सिद्धान्त आकाश के समान निर्लेप होता है। अमृत की तरङ्गो से युक्त (आत्मारूप) उनकी नदी होती है; अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है। निःसशय (आत्मा) ही उनका मान्य ऋषि (वेद) है, निर्वाण (मोक्ष) ही उनका ज्ञान सर्व उपाधियो से मुक्त है, उच्च स्थिति के लिये उनका अभ्यास होता है। आश्रय रहित बनना उनका आसन है। परमात्मा के साथ सयोग ही उनकी दीक्षा है। ससार से छूटना यही उपदेश है। दीक्षा लेकर सतोष रखना ही पीना है; बारह सूर्यों का वे दर्शन करते हैं। विवेक की रक्षा करते है। दया ही उनकी क्रीडा—खेल हैं, आनन्द ही माला है। एकान्त मे आसन लगाकर सुख से रहना उनकी गोष्ठी है अपने लिये नही बनाई गई भिक्षा उनका भोजन है। हस जैसा उनका आचार होता है, सर्व प्राणियो के भीतर रहने वाला आत्मा ही हस है, इसी को वे सिद्ध करते है। धैर्य उनकी गुदडी है, उदासीन वृत्ति लँगोटी है, विचार दड है, ब्रह्मदर्शन योगपट्ट है; सम्पति उनकी पादुका है (अर्थात् सम्पति को वे पैर के नीचे रहने वाली जूती के समान घटिया वस्तु समझते हैं)। परमात्मा की इच्छा यही उनका आचरण है। कुण्डलिनी उनकी बन्ध है। दूसरों की निन्दा से रहित (ऐसा त्यागी) जीवन्मुक्त हो सकता है। मङ्गल स्वरूप परमात्मा के साथ योग उनकी निद्रा होती है। खेचरी मुद्रा को वे धारण करते है; परम आनन्द युक्त रहते हैं।

निर्गुणगुणत्रयम् । विवेकलभ्यं मनोवागगोचरम् । अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्, तथा देहादिसंघातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् । विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् । अङ्कुशो मार्गः । शून्यं न सकेतः । परमेश्वरसत्ता । सत्यसिद्धयोगो मठः । अमरपदं न तत्स्वरूपम् । आदिब्रह्म स्वसंवित् । अजपा गायत्रीविकारदण्डो ध्येयः । मनोनिरोधिनी कन्था । योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् । आनन्दभिक्षाशी । महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः । एकान्तस्थानमठम् । उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा । उन्मनी गतिः । निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् । अमृतकल्लोलानन्दक्रिया । पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता परावरसंयोगः तारकोपदेशः । अद्वैतसदानन्दो देवता । नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः । भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः । परावरैक्यरसास्वादनम् । अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः । स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम्, तथा पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् । बिभ्रत्याकाशाधारम् । शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्, तन्मया शिखा । चिन्मयं चोत्सृष्टिरण्डं संततोक्षिकमण्डलम् । कर्मनिर्मूलनं कथा । मायाममताहङ्कारदहनं श्मशाने । अनाहताङ्गी ॥

ब्रह्म तीनों गुणों से रहित है और विवेक द्वारा वह प्राप्त किया जाता है। वह मन और वाणी का अविषय है । जगत अनित्य है, उसमें जिसने जन्म लिया है वह स्वप्न के सँसार जैसा और आकाश के हाथी जैसा मिथ्या हैं। वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह के गुणों से युक्त है, यह सब रस्सी में भ्रांति से कल्पित किये गये सर्प के समान मिथ्या है। विष्णु, ब्रह्मा आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है, इन्द्रिय आदि पर अंकुश रखना यही मार्ग है । शून्य—यह संकेत नहीं

है, परमेश्वर की सत्ता है। सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है। अमरपद यह स्वरूप है। मैं स्वयं ही आदि ब्रह्म हूँ, यही ज्ञान है। अजपा (हंस मंत्र) गायत्री है। विकारों के ऊपर नियंत्रण ही ध्येय है। मनको रोकने वाली वृत्ति ही कन्था है। योग द्वारा सदैव आनन्द स्वरूप का दर्शन करते हैं। आनन्द रूप भिक्षा का भोजन करते हैं। महाश्मशान में भी आनन्ददायक वन के समान निवास करते हैं। एकान्त ही उनका स्थान है, आनन्द ही मठ होता है। उनकी स्थिति मन रहित होती है और उज्ज्वल चेष्टा होती है। मन रहित स्थिति ही उनकी गति है। उनका शरीर निर्मल है; निराश्रय स्थिति आसन है। अमृत की तरङ्गों वाली आनन्दयुक्त क्रिया है। शुद्ध परमात्मा उनका आकाश है। महान आत्मा ही सिद्धान्त है। शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरणमें क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है। परावर—ब्रह्म के साथ संयोग होता है। वे तारक ब्रह्म के उपदेश का कथन केरते हैं। अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है। अपने अन्तर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है। भय, मोह, शोक और क्रोध का छोड़ना, यही उनका त्याग है। परब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं। अनियामकपन (अर्थात्—किसी को अपने वश में न करना और न किसी का तिरस्कार करना) ही उनकी निर्मलशक्ति है। स्वयं प्रकाश ब्रह्मतत्त्व में शिवशक्ति से संपुटित प्रपञ्च का वे छेदन करते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म पत्र (पत्रा) जैसी इंद्रियों से दर्शन ही कमंडलु है। भाव और अभाव को भस्मकर डालने के लिये आकाश रूप आधार को धारण करते हैं। तुरीय ब्रह्म उनका यज्ञोपवीत है और वही शिखा है। चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दंड है; ब्रह्म का नित्य दर्शन कमंडल है और कर्मों को निर्मूल कर डालना कथा है। माया-ममता-अहङ्कार को भस्म करने के लिये श्मशान में खुले हुये अङ्ग से रहना ही उनका नियम है।

निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसंधानं समयं भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रियथैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः। इति स्मृतेः॥

परंब्रह्मप्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्नयासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारं नित्यं सर्वसंदेहनाशनम्।

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम्। इत्युपनिषत्॥

त्रयगुण रहित स्वरूप के अनुसन्धान करने में समय व्यतीत करना, चिथड़ा और मृगचर्म रूप वस्त्र पहिनना, अनाहत नादरूप मंत्र जपना, अक्रिया का ही सेवन करना, स्वेच्छाचार रूप आत्म स्वभाव रखना—यही मोक्ष और परब्रह्म है। नौका जैसा आचरण, ब्रह्मचर्य द्वारा शांति प्राप्त करना, ब्रह्मचर्य में अध्ययन करके, फिर वानप्रस्थ-आश्रम में भी अध्ययन करके ज्ञानयुक्त होकर संन्यास-ग्रहण करना—यही संन्यास है। अन्त में ब्रह्मरूप अखंड आकार में रहना, साथ ही नित्य सर्व संदेहों का नाश करना, यही निर्वाण दर्शन है। शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को इसका उपदेश नहीं करना; ऐसा यह रहस्य है।

॥ इति निर्वाण उपनिषद् समाप्त ॥

परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

ॐ भद्र कर्णेभि· शृणुयाम देवा भद्र पश्येमक्षभिर्यजत्रा ।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहित यदायु: ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा. ।। स्वस्ति न· पूषा विश्ववेदा ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि: ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति. ।।

शातिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानो से कल्याण सुनें, आखो से कल्याण को देखे । सुदृढ अङ्गो तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहे और देवताओ ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगे । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करे, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करे और बृहस्पति हमारा कल्याण करे । ॐ शाति. शाति. शाति· ।।

अथ पितामह. स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रम सर्व श्रुत विदितमवगतम् । इदानी परमहसपरिव्राजकलक्षण वेदितुमिच्छामि । क: परिव्रजनाधिकारी कीदृश परिव्राजकलक्षण क: परमहस: परिव्राजकत्व कथ तत्सर्व मे ब्रूहीति । स होवाच भगवानादिनारायण: ।। १ ।।

हरि ॐ । पितामह ब्रह्मा ने आदि पिता नारायण को प्रणाम करके पूछा—"भगवन् ! वर्णाश्रम के धर्म तो मैंने आपसे सुनकर पूर्णत. जान लिये । अब मैं परमहंस परिव्राजको के लक्षण जानना चाहता हूँ । परिव्राजक होने का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के

लक्षण क्या हैं ? परमहंस किसको कहते हैं ? परिव्राजक तत्व क्या है ? ये सब मुझसे कहिये । तब भगवान आदि नारायण ने कहा ॥ १ ॥

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेयमुपगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इति सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रमाप्तबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ।

ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेत् । एष पन्थाः ॥ २ ॥

सद्गुरु से समस्त विद्याओं को परिश्रम पूर्वक पढ़कर विद्वान

व्यक्ति इहलोक और परलोक के सुखों को श्रम रूप समझकर तीनों ऐषणा, तीनों बासना, तीनों ममता, अहङ्कार आदि को वमन किये अन्न के समान हेय समझकर, मोक्ष के एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ बने। गृहस्थ को पूर्ण करके वानप्रस्थी हो। अथवा अन्य प्रकार ब्रह्मचर्य से या गृह से या वन से ही चला जाय। इसलिये व्रत वाला हो या व्रत रहित, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र करने वाला हो या उससे रहित हो, जब कभी वैराग्य हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण करे। जिसको इस प्रकार ज्ञान हो जाय वह ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी कोई भी क्यों न हो, संसार से विरक्त होकर पिता, माता, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धुओं से, उनके अभाव में साथ रहने वालों या शिष्यों से संमति लेकर प्रजापति सम्बन्धी यज्ञादि जो नित्य करता हो, उसे न करे। केवल 'आग्नेयी' ही करे। अग्नि ही प्राण है, अग्नि प्राण का कर्ता है, इस मंत्र से 'त्रैधातवी' करे। सत्व, रज, तम ये ही तीन धातुएँ हैं। "हे अग्नि यह प्राण तुम्हारा कारण रूप है, उसमें प्रवेश करो। प्राण से उत्पन्न तुम प्रकाश और वृद्धि को प्राप्त हो और हमारी भी बृद्धि करो," इस मंत्र से आहुति दे। ग्राम के अग्निहोत्र करने वाले के घर से अग्नि लाकर ऊपर कही हुई विधि से अग्नि को सूँघे। यदि आतुरता का भाव हो, अग्नि न मिले तो जल में हवन करे। "जल ही सब देवताओं का रूप है, इसमें सब देवताओं के लिये हवन करता हूँ, स्वाहा" इस विधि से हवन करके घृत सहित हवि का भोजन करे। यह विधि वीरमार्ग की है जो अनाशक, संप्रवेश, अग्नि प्रवेश अथवा महाप्रस्थान के लिये है। जो आतुर हो वह मन से और वाणी से ही संन्यास की विधि को करले ॥ २ ॥

स्वस्थः क्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा अग्निमात्मन्यारोप्य, लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्ति

च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा, ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा, सावित्री-प्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमात्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य, व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य, तत्सावधानेनापः प्राश्य, प्रणवेन शिखामुत्कृष्य, यज्ञोपवीतं छित्त्वा, वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य, ओं भूः स्वाहा ओं भुवः स्वाहा ओं सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपं ध्यायन्, पुनः पृथक्प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्य-मतारध्वनिभिस्त्रिवारत्रिगुणीकृतप्रैषोच्चारणं कृत्वा, प्रणवैक-ध्यानपरायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्व-न्नुदीचीं दिशं गच्छेज्जातरूपधरश्चरेत् । एष संन्यासः ॥

जो स्वस्थ मन से हो वह नियमपूर्वक आत्म—श्राद्ध और विरजा होम करे। अग्नि का आत्मा में आरोप करके अपनी लौकिक और वैदिक सामर्थ्य और चौदह कारण प्रवृत्तियों का पुत्र में आरोप करदे, पुत्र न हो तो शिष्य में और वह भी न हो तो अपनी आत्मा में आरोप करदे । फिर 'ब्रह्मत्वं यज्ञः त्वं' इस मंत्र का उच्चारण करे, ब्रह्मभावना का ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करे । फिर जल में समस्त विद्याओं के अर्थ रूप, ब्रह्मण्य के आधार रूप वेदमाता (गायत्री) को तीनों व्याहृतियों में लय करके और तीन व्याहृतियों को 'अ' 'उ' 'म' (ॐ) में लय करके सावधान होकर जल का पान करे । प्रणव का उच्चारण करके शिखा को दूर करदे, यज्ञोपवीत को काटदे, वस्त्रों को भूमि में अथवा जल में डालकर 'ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ सुवः स्वाहा' इस मंत्र से नग्न होकर स्वरूप का ध्यान करते हुये पृथक प्राण और व्याहृतिपूर्वक मन और वाणी से तीनबार तीन गुण

प्रेषमंत्र उच्चारण करके कहे 'मैंने संन्यास किया—मैंने संन्यास किया—मैंने संन्यास किया।' इसे मंद, मध्यम तथा उच्चस्वर से कहकर प्रणव का ध्यान करते हुये सब भूतों को अभय प्रदान करके और भुजा ऊँची उठाकर "मैं ब्रह्म हूँ" 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ पर विचार करता हुआ उत्तर दिशा को चला जाय और शुद्ध रूप में विचरण करे, यह संन्यास है।

तदधिकारी न भवेद्यदि, गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य, सद्गुरुमुपगम्य नत्वा, गुरुमुखात्तत्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्य, अथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वा, अथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य, त्रिकालस्नानमाचरन्, वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्, ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः, स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा, निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा, ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो, बहिरन्तःस्नेहवर्जितः, शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति। सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ भूत्वा, करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्, मेदोवृद्धिमकुर्वन् कृशी

भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति भावयन्, गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य, ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेत्, द्वावेवाचरेत् ॥

अगर इतना कर सकने की सामर्थ्य न हो तो गृहस्थ की प्रार्थना करके तथा सर्वभूतों को अभय प्रदान करके—"हे सखा, तू मेरे बल की रक्षाकर। तू वृत्र को मारने वाला इन्द्र का वज्र है, मुझे शांतिदायक हो और पापों से मुक्तकर—इस मंत्र का उच्चारण करके दोष रहित बांस के दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डल और एक गेरुवा वस्त्र को धारण कर सद्गुरु के समक्ष जाय और नमस्कार करके उनसे महावाक्य—तत्वमसि—को प्रणव सहित उपलब्ध करे। फिर छाल के वस्त्र या मृगचर्म धारण करके, जलावतरण, ऊपर चढ़ना और एक ही घर की भिक्षा का त्याग करके, तीनों समय स्नान करने के नियम का पालन करते हुये, वेदान्त अध्ययन और प्रणव का अनुष्ठान करे। ब्रह्ममार्ग में अच्छी जानकारी प्राप्त करके, अपनी भावनाओं को आत्मा में छिपाकर रखते हुये, निर्मम, आत्म निष्ठायुक्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता, दम्भ, दर्प, अहङ्कार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, अमर्ष, ममत्व आदि को त्याग करदे। ज्ञान-वैराग्य की भावना से युक्त होकर, कंचन और कामिनी से विमुख होकर शुद्ध मन से उपनिषदों के अर्थ का मनन करे। ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि पञ्च महाव्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करे। इन्द्रियों को जीतकर बाहर और भीतर के राग से रहित होकर शरीर रक्षार्थ निंदित तथा पतित व्यक्तियों को छोड़कर तीन वर्णों से इस प्रकार निर्वैर होकर भिक्षा करे जैसे पशु बिना भेदभाव के आहार ग्रहण कर लेता है। सदैव ब्रह्मभावना रखे, लाभ-हानि को समान समझे, हाथ से भिक्षा करके खावे और अल्प भोजन द्वारा कृश शरीर होता हुआ "मैं ब्रह्म हूँ" यह भावना करते हुये आठ मास तक ग्रामों में भिक्षा माँगकर अकेला विचरण करे।

यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् । ग्रामैकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पट्टने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ भूत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुरपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति परमहंसपरिव्राजको भवति ॥ ३ ॥

जब ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाय तब कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, कमण्डल सबको जल में विसर्जन करके कुटीचक, बहूदक, हंस अथवा परमहंस होकर नग्नावस्था में विचरण करे । ग्राम में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि तक निवास करे । घर रहित, स्थिर मति, अग्नि का सेवन न करने वाला, निर्विकार, नियम-अनियम का त्यागी, लाभ हानि को समान समझने वाला होकर केवल प्राण रक्षा के लिये गौ वृत्ति से भिक्षा करे । जलाशय को ही कमण्डल समझे, बाधा रहित एकान्त स्थान में निवास करे, लाभ हानि का विचार न करे और शुभाशुभ कर्मों को काटने में सदैव तत्पर रहे । हमेशा जमीन पर सोवे, हजामत कराना त्यागदे, चातुर्मास के नियम और व्रतों को भी त्यागकर केवल शुक्ल (सात्विक) ध्यान में संलग्न रहे । धन, स्त्री, पुत्र का कभी ध्यान न करे, ज्ञान होते हुये भी प्रकट में उन्मत्त की तरह रहे । अपने स्वरूप और आचार को किसी पर प्रकट न होने दे । उसके लिये

दिन-रात समान होने से वह सदैव जागृत अवस्था में ही रहता है । इस प्रकार जो निरन्तर स्वरूपानुसंधान और ब्रह्म प्रणव के ध्यान युक्त संन्यास से रहता हुआ देहत्याग करता है वह परमहंसपरिव्राजक पद का अधिकारी होता है ॥ ३ ॥

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टय-चतुष्टयगोचरः । जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति । व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति । तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीय-प्राज्ञः । एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः । अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्न-तुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः पुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुर्यतुरीयः । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांश सुषुप्तिमात्रा-चतुष्टय मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम् । अयमेव ब्रह्म-प्रणवः । स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः । तेनैव ब्रह्म प्रकाशते । विदेहमुक्तिः ॥ ४ ॥

ब्रह्माजी ने पूछा—"भगवन् ! ब्रह्मप्रणव कैसा होता है ?" नारायण बोले—"सोलह मात्रा वाला ब्रह्मप्रणव होता है । चारों

अवस्थाओं में चारों के मिलाने से सोलह प्रकार हो जाते हैं। जागृत अवस्था में जागृत आदि चारों अवस्था; स्वप्न में स्वप्न आदि चारों अवस्था; सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चारों अवस्था और तुरीय में तुरीय आदि चारों अवस्था रहती हैं। जाग्रतावस्था में विश्व चार प्रकार का होता है—विश्व-विश्व, विश्व-तैजस, विश्वप्राज्ञ, विश्व-तुरीय। स्वप्न अवस्था में तैजस चार प्रकार का होता है—तैजस-विश्व, तैजस-तैजस, तैजस-प्राज्ञ, तैजस-तुरीय। सुषुप्ति में प्राज्ञ चार प्रकार का होता है—प्राज्ञ-विश्व, प्राज्ञ-तैजस, प्राज्ञ-प्राज्ञ, प्राज्ञ-तुरीय। तुरीय अवस्था में तुरीय चार प्रकार का होता है—तुरीय-विश्व, तुरीय-तैजस, तुरीय-प्राज्ञ, तुरीय-तुरीय। इस क्रम से सोलह मात्रा पर आरूढ़ रहता है। 'अ'कार में जाग्रत विश्व, 'उ'कार में जागृत तैजस, 'म'कार में जागृत प्राज्ञ और अर्धमात्रा में जागृत तुरीय होता है। विन्दु में स्वप्न-विश्व, नाद में स्वप्न-तैजस, कला में स्वप्न-प्राज्ञ, कलातीत में स्वप्न-तुरीय होता है। शान्ति में सुषुप्ति-विश्व, शान्त्यातीत में सुषुप्त तैजस, उन्मनी में सुषुप्ति-प्राज्ञ, मनोन्मनी में सुषुप्ति तुरीय होता है। वैखरी में तुरीय विश्व, मध्यमा में तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय-प्राज्ञ और परा में तुरीय-तुरीय होता है। जागृत की चार मात्रायें 'अ'कार अंश की है; स्वप्न की चार मात्रायें 'उ'कार अंश वाली हैं, सुषुप्ति की चार मात्रायें मकार अंश वाली हैं और तुरीय की चार मात्रायें अर्धमात्रा के अंश वाली है। इसी को ब्रह्मप्रणव कहते हैं और तुरीयातीत परमहंस और अवधूत इनका उपास्य है। ब्रह्म उसी से प्रकाशित होता है और उसीसे विदेहमुक्ति मानी गई है ॥४॥

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्मनिष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच विष्णुः। भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्। तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म सपवित्रम्। स सर्वकर्म-

कृत्स ब्राह्मणः स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव सर्वज्येष्ठः स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः । यद्येकोऽस्ति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषः । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव नित्यतृप्तः स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः स निन्दामर्षसहिष्णुः स षडूर्मिवर्जितः षड्भावविकारशून्यः स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा, आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः सच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनः संपूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत् ॥ ५ ॥

ब्रह्मा ने पूछा—"भगवान् ! यज्ञोपवीत शिखा और सब कर्मों को त्याग देने वाला कैसे ब्रह्मनिष्ठ और कैसे ब्राह्मण होता है ?" नारायण ने कहा—ऐसे का यज्ञोपवीत उसका अद्वैतयुक्त आत्मज्ञान ही होता है; उसकी शिखा ध्यान निष्ठा रूप होती है; अपने कर्मो से वह पवित्र होता है । वह सब कर्म कर चुका है । वह ब्राह्मण है । वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है । वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, श्रेष्ठ है, सबसे ज्येष्ठ है, जगद्गुरु है, वह मैं ही हूँ ऐसा समझ लो। संसार में ऐसा परमहंस परिव्राजक बहुत ही दुर्लभ है, कहीं एकाध होता है। वह नित्य पवित्र है, वह वेद पुरुष है, वह महापुरुष है, जिसका चित्त मुझमें रहता हूँ और मैं उसमें रहता हूँ । वह नित्यतृप्त है। वह शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान-अपमान से रहित होता है । वह निन्दा और अमर्ष को सहन कर लेता है । वह छः उर्मियों से रहित होता है। छः भाव विकारों से पृथक होता है। वह बड़े या

छोटे के विचार से रहित होता है। वह केवल अपने आत्मा को देखता है और किसी को नहीं। दिशाऐं ही उसके वस्त्र है, वह नमस्कार नहीं करता, न स्वाहाकार, न स्वधाकार, न विसर्जन। वह निन्दा स्तुति करने से दूर रहता है, मंत्र-तंत्र की उपासना नहीं करता। किसी अन्य देव के ध्यान रहित, लक्ष्यालक्ष्य से रहित, सबसे उपराम होता है। वह सच्चिदानन्द, अद्वय, चिद्घन, सम्पूर्ण आनन्द का बोध वाला और "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसी अखंड भावना रखने वाला, कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे को ही परमहंस परिव्राजक कहते हैं ॥ ५ ॥ यह उपनिषद् है। हरि ॐ तत्सत्।

॥ परमहंस परिव्राजक उपनिषद् समाप्त ॥

भिक्षुकोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः ।

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसा-श्चेति चत्वारः ॥ १ ॥

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयो-ऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतका-षायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्टौ ग्रासान्भैक्षा-चरणं कृत्वा योगामार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

अथ हंसा नाम ग्रामैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्त-रात्रं तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायण-परायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्ता-त्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा । साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ न हि तेषां

लाभालाभकलनास्ति । शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्ममात्रनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दरकुहरकोटरनिर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वंति । ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥ ५ ॥

मोक्ष के अभिलाषी भिक्षुक चार श्रेणियों के होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस ॥ १ ॥ कुटीचक संन्यासी गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि की तरह आठ ग्रास का भोजन करके योगमार्ग द्वारा मोक्ष की खोज करते हैं ॥ २ ॥ बहूदक त्रिदण्ड, कमण्डल, शिखा-सूत्र, काषाय वस्त्र धारण करके मधुमांस का त्याग करते हुये ब्रह्मर्षि के घर से आठ ग्रास भोजन करते हैं और योगमार्ग द्वारा मोक्ष की खोज करते हैं ॥ ३ ॥ हंस नामधारी संन्यासी ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते । ये गो मूत्र और गोबर का आहार करने वाले, सदैव चन्द्रायण व्रत करने वाले योगमार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं ॥ ४ ॥ परमहंस नाम के संन्यासी संवर्तक, अरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, हारीतक प्रभृति की भांति आठ ग्रास भोजन करके योगमार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं। ये परमहंस वृक्षमूल, शून्यगृह, श्मशान आदि में सवस्त्र अथवा दिगम्बर वेष में रहते है । उनको धर्म-अधर्म, लाभ-हानि, शुद्ध-अशुद्ध से कोई मतलब नहीं रहता, द्वैतभाव नहीं रखते, मिट्टी और सोने को एक समान

समझते हैं, सब वर्णों के यहाँ भिक्षा करते हैं और सबको आत्मवत् देखते हैं। वे नंगे, निर्द्वन्द, परिग्रहरहित, शुक्ल ध्यान परायण, आत्मनिष्ठ, प्राण धारण करने के निमित्त नियत समय पर भिक्षा करने वाले, सुनसान स्थान, मन्दिर, घर, झोंपड़ी, बाँबी, वृक्षमूल, कुलालशाला, यज्ञशाला, नदी का किनारा, पहाड़ की गुफा, टीला, गड्ढा, झरना आदि किसी भी स्थान में रहकर, ब्रह्ममार्ग में सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होकर शुद्ध मन से परमहंस के आचारों का पालन करते हुये संन्यास द्वारा देहत्याग करते हैं, वे ही परमहंस हैं। यह उपनिषद् है ॥ ५ ॥

॥ भिक्षुकोपनिषद् समाप्त ॥

तुरीयातीतावधूतोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः ।

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थिति-रिति सर्वलोकपितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिस-मेत्योवाच । तमाह भगवान्नारायणः । योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा, दण्डकमण्डलु-कटिसूत्रकौपीनाच्छादनस्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्ः क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य, सर्वत्र पुण्यापुण्यविवर्जितः, ज्ञाना-ज्ञानमपि विहाय, शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्यः देहा-दिवासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषकाम-क्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुण-

ाकारमिव पश्यन्, अप्रयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या प्राणसंधारणं कुर्वन् यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः, सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य, स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठाज्येष्ठत्वापलापकः, सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मिकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्योऽस्तीति भावनस्य देवगुह्यादिधनमात्मन्युपसंहृत्य, दुःखेन नोद्विग्नः, सुखेन नानुमोदकः, रागे निःस्पृहः, सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः, सर्वेन्द्रियोपरमः, स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्, त्यक्तवर्णाश्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा संचारशीलः, देहमात्रावशिष्टः, जलस्थलकमण्डलुः, सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्, असम्भाषणपरस्य स्वरूपध्यानेन निरालम्बमवलम्ब्य, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वं विस्मृत्य, तुरीयातीतोऽवधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

अपने पिता भगवान नारायण के पास जाकर पितामह ब्रह्मा ने कहा—"तुरीयातीत अवधूत का मार्ग क्या है और उनकी स्थिति कैसी होती है ?" तब भगवान नारायण ने कहा—"अवधूत के मार्ग पर चलने वाले पुरुष दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते । अगर वैसा एक भी हो तो वह नित्य पवित्र, वैराग्यमूर्ति, ज्ञानाकार और वेद पुरुष होता है, ऐसी विद्वानों की मान्यता है। ऐसा महापुरुष अपना चित्त मुझमें रखता है और मैं उसके अन्तर में स्थित रहता हूँ। वह आरम्भ में कुटीचक होता है, फिर बहूदक की श्रेणी में आता है। बहूदक से

हंस बनते है और फिर परमहस होते है । वे निज स्वरूपानुसंधान से समस्त प्रपञ्च के रहस्य को जान जाते है और तब दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन करने वाले वस्त्र और विधिपूर्वक की जाने वाली क्रियाओ को जल मे त्याग देते है । तब वे दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर विवर्ण और जीर्ण बल्कल (छाल का वस्त्र) और अजिन का भी त्यागकर सब प्रकार के विधि-निषेध रहित बनकर रहते है । वे क्षौर (बाल बनवाना), अभ्यङ्ग, स्नान, ऊर्ध्व पुंड्रादिक का भी त्यागकर देते है । वे लौकिक और वैदिक कर्मों का, पुण्य और अपुण्य का, ज्ञान और अज्ञान का भी त्यागकर देते है । उनके लिये सर्दी-गर्मी, सुख-दुख, मानापमान नही होता । वे तीनो वासनाओं सहित निन्दा-अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया, आत्म सरक्षण की भावना को आग मे झोक देते हैं और अपनी देह को मुर्दा के सदृश्य समझ लेते है । वह प्रयत्न, नियम, लाभालाभ की भावना से शून्य होते है । गौ की तरह जो कुछ मिल जाता है उसीसे प्राण धारण करते है और सब प्रकार के लालच से रहित होते है । वे समस्त विद्या, पाडित्य को प्रपञ्च समझकर धूल की तरह त्याग देते है, अपने स्वरूप को छिपाकर रखते है और इसलिये दिखलाने के लिये छोटे-बडे की भावना को पूर्ववत मानते रहते हैं । वे सर्वोत्कृष्ट और सर्वात्मक अद्वैत रूप की कल्पना करते है । वे मानते है कि "मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है" (अर्थात् मैं ही पूर्ण ब्रह्म हूँ) । वे देव और गुरुरूपी सम्पति का आत्मा मे उपसहार करके न तो दुःख से दुखी होते है और न सुख से प्रसन्न होते है । वे राग से पृथक रहते हैं और शुभाशुभ किसी बात से कभी स्नेह नही रखते, उनकी सब इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त होती है । वे अपने पूर्व-जीवन के आश्रम, विद्या, धर्म, प्रभाव आदि का स्मरण नही करते और वर्णाश्रम के आचार का त्याग कर देते है

उनको दिन तथा रात समान होता है, इसलिये सोते नहीं (कभी असावधान नहीं होते) सदा विचरण करते रहते हैं। उनका देहमात्र ही अवशिष्ट रहता है। जल और स्थल ही उनको कमण्डलु का काम देता है। वे सदैव उन्मत्तता से रहित होते हैं पर बाहर से बालक, उन्मत्त अथवा पिशाच के समान बनकर एकाकी रहते हैं। किसी से संभाषण नहीं करते वरन् सदैव स्वरूप के ध्यान में ही रहते हैं। वे निरालम्ब का अवलम्बन करके आत्मनिष्ठा के अतिरिक्त और सब का ध्यान भुला देते हैं। इस प्रकार का तुरीयातीत अवधूत के वेष वाला सदैव अद्वैत-निष्ठा में तत्पर रहता है और प्रणव के भाव में निमग्न होकर देहत्याग करता है। वही अवधूत है और वह कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा यह उपनिषद् है। ॐ तत्सत् ॥ १ ॥

॥ तुरीयातीत उपनिषद् समाप्त ॥

अवधूतोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्तिपाठः—ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो; हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो; हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथ ह साङ्कृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ । भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संसरणमिति । तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ॥ १ ॥

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात् ।
तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥ २ ॥
यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ ३ ॥
तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः ।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते ॥ ४ ॥
गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः ।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् ।
एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥

अब सांकृति ने भगवान दत्तात्रेय के पास जाकर पूछा—"हे भगवन् ! अवधूत कौन ? उसकी स्थिति कैसी होती है ? उसका चिह्न क्या होता है ? और उसका संसार कैसा होता है ?" यह सुनकर परम दयालु भगवान दत्तात्रेय ने उससे कहा—"जो अक्षर अर्थात् अविनाशी बना हो, सबसे श्रेष्ठ हो, संसार रूप बंधन से रहित हो और 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ रूप हो, वह 'अवधूत' कहा जाता है ॥ १ ॥ जो योगी आश्रम तथा वर्ण को उलांघ कर आत्मा में ही सदा रहा हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी 'अवधूत' कहा जाता है ॥ २ ॥ प्रिय-ब्रह्म जिसका मस्तक बनकर, मोद दाँया बाजू और प्रमोद बाँया बाजू बन जाता है, उसकी स्थिति गाय के पैर के समान होती है ॥ ३ ॥ गोपाल का जैसा मस्तक पर होता है, मध्य में नहीं होता और नीचे भी नहीं होता; सर्व की प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म पुच्छ कहलाता है, इसलिये उसे पूंछ के आकार का करना चाहिये ॥ ४ ॥ इस प्रकार वे चार मार्ग द्वारा परमगति को पाते हैं ॥ ५ ॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥ ६ ॥

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम् । साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ । सदा सांग्रहण्येष्ट्याश्रमेधमन्तर्यागं यजते । स महामखो महायोगः ॥ ७ ॥

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म स्वैरं न विगायेत् । तन्महाव्रतम् । न स मूढवल्लिप्यते ॥ ८ ॥

कितने ही कर्मों से, अथवा प्रजा से, अथवा धन से अमरत्व प्राप्त नहीं होता, पर अकेले त्याग से अमरत्व पा लिया गया है ॥ ६ ॥ अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना, यही उनका संसार है। उनमें से कितने ही वस्त्र पहिनते हैं और कितने ही वस्त्र रहित भी होते है। उनके लिये न कुछ धर्म है और न कुछ अधर्म है; पवित्र नहीं है और अपवित्र भी नही है। (इन्द्रियों को वश करने के रूप में) सांग्रहणी दृष्टि से वे अन्तर में (आत्म ध्यान रूप) अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं। यही उनका महायज्ञ और महायोग है। इस प्रकार उनका समस्त चरित्र आश्चर्यकारक होता है। उनके ऐसे स्वेच्छाचार की निन्दा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यही उनका महाव्रत है। वे मूर्ख के समान (पापपुण्य से) लिप्त नहीं होते। जिस प्रकार सूर्य सर्व रसों को ग्रहण करता है और अग्नि सब को खाता है, वैसे ही योगी यदि बिषयों को भोगता है,तो भी शुद्ध होनेसे पाप-पुण्य का भागी नहीं बनता ॥ ७—६ ॥ जिस प्रकार चारों तरफ से भरा हुआ होने पर भी अचल प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले समुद्र में जल प्रवेश करता है, वैसे ही योगी पुरुष में सर्व विषय-भोग प्रवेश करते हैं, तो भी वह

(अचल स्थितियुक्त रहता है और) शान्ति प्राप्त करता है। पर विषयों की इच्छा करने वाला सकाम व्यक्ति वैसी शान्ति नहीं पाता ॥ १० ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्बद्धो न हि न साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ११ ॥
ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ १२ ॥
तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥ १३ ॥
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया।
अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥ १४ ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्।
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ॥ १५ ॥

इसलिये सत्य बात यह है कि किसी का लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई बँधा हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई मुमुक्षु नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है ॥ ११ ॥ "इसलोक और परलोक के कृत्यों की सिद्धि के लिये; उसी प्रकार मुक्ति की सिद्धि के लिये पहले मुझे बहुत कुछ करना आवश्यक था, पर अब वह सब हो चुका है" इस प्रकार प्रत्येक योगी का मुख्य अनुसंधान करता हुआ वह अवधूत इसीमें कृतकृत्य होता है और सदैव तृप्त रहता है ॥ १२—१३ ॥ (फिर वह चिन्तन करता है कि) अज्ञानीजन पुत्र आदि की इच्छा से अत्यन्त दुःखी होकर संसार में फँसते रहें, पर मैं तो परमानन्द से पूर्ण हूँ, तो फिर किस इच्छा से संसार में

फँसूं ? ।। १४ ।। जिनको परलोक जाने की इच्छा हो चाहे उस इच्छा से भले कर्म किया करें; पर मैं तो सर्व लोकों का आत्मा हूँ—सर्व लोकमय बना हूँ, तो मैं कोई भी कर्म क्यों करूँ ? ।। १५ ।।

येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।। १६ ।।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ।। १७ ।।
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ।। १८ ।।
विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ।। १९ ।।
अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ।। २० ।।

जिनको इस बात का अधिकार हो वे भले ही प्रवचन किया करें और चाहे वेदों को पढ़ाते रहें, पर मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं है, क्योंकि मैं क्रिया रहित हूँ । मैं निद्रा की, भिक्षा की, स्नान अथवा शौच की इच्छा नहीं करता । जो द्रष्टा हों वे भले ही अन्य की कल्पना करें, पर मुझे अन्य की कल्पना करने से क्या फायदा ? अन्य लोग गुञ्जा (चिरमिठी) की लालिमा के कारण उसमें भले ही अग्नि का आरोप करें, पर इससे गुञ्जा का ढेर जल नहीं जाता, फिर मेरे भीतर तो संसार के धर्मों का आरोप ही नहीं है, इसलिये मैं किसी का भी भजन नहीं करता ।। १६—१७ ।। जिन्होंने तत्त्व को

जाना न हो वे भले ही श्रवण करें, पर मैं तो तत्व को जानता हूँ, तो फिर किसलिये श्रवण करूं ? जो संशय में पड़े हों, वे भले ही मनन करें; मुझे तो संशय है ही नहीं, इससे मैं मनन नहीं करता ॥ १८ ॥ जिसको विपर्यास (विपरीत मान्यता) हुई हो, वह भले ही निदिध्यासन करे, पर जहाँ विपर्यास होता ही नहीं, वहाँ ध्यान की क्या आवश्यकता है ? देह को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझे कभी नहीं होता (इसलिये मुझे निदिध्यासन की क्या आवश्यकता है ?) ॥ १९ ॥ "मैं मनुष्य हूँ" आदि, इस प्रकार का व्यवहार भी बिना विपर्यास के नहीं होता और यह विपर्यास भी दीर्घ काल से अभ्यास में पड़ी वासना के कारण ही होता है ॥ २० ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ २१ ॥
विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥
विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥
नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४ ॥
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
ममाऽकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ २५ ॥

प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर ही, यह व्यवहार बन्द होता है; पर प्रारब्ध कर्म नाश न हुआ हो तब तक हजार ध्यान करने से भी यह व्यवहार शान्त नहीं होता ॥ २१ ॥ व्यवहार कम करने की

इच्छा हो तो तू भले ही ध्यान कर, पर मेरी दृष्टि में तो कर्मों का व्यवहार है ही नहीं, तो मैं किसलिये ध्यान करूं ? ॥ २२ ॥ मुझे विक्षेप होता ही नहीं, इससे मुझे समाधि करने की भी आवश्यकता नहीं है। यह तो मन जो विकार वाला होता है तभी विक्षेप होता है और तभी समाधि की आवश्यकता होती है। मैं तो नित्य अनुभव रूप हूँ, समाधि में मुझे और क्या भिन्न अनुभव हो सकता है ? ॥ २३ ॥ मैंने तो जो करना है वह किया है और जो प्राप्त करना है वह सदैव प्राप्त किया है, इसलिये लौकिक, शास्त्रीय अथवा अन्य प्रकार का व्यवहार मुझे क्यों करना चाहिये ? फिर मैं कर्ता नहीं हूँ, मुझे किसी बात की लिप्तता नहीं है, केवल प्रारब्ध कर्म के अनुसरण से भले ही प्रवृत्ति होती रहे ॥ २४—२५ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६ ॥
देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ २७ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २८ ॥
कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥ २९ ॥

अथवा मैं कृतकृत्य हूँ, तो भी लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्रानुसार चलता हूँ, तो इसमें मेरी क्या हानि है ? ॥ २६ ॥ देवपूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में भले ही शरीर प्रवृत्ति करे, वाणी ॐकार का जप भले ही जपे, इसी प्रकार उपनिषदों का पाठ भले ही करे; बुद्धि विष्णु का ध्यान भले ही करे अथवा

ब्रह्म-विद्या खण्ड की
उपनिषद्-सूची